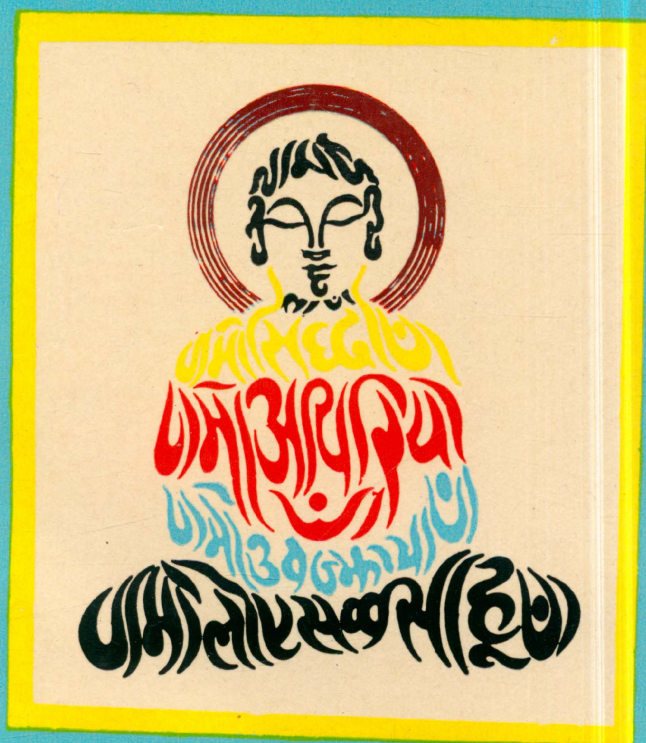
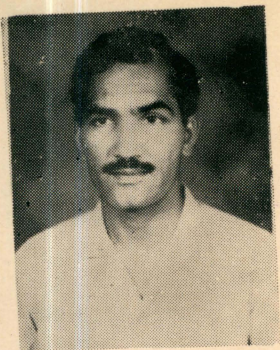


जैन दर्शन में पञ्च परमेष्ठी



जगमहेन्द्र सिंह राणा



डा० जगमहेन्द्र सिंह राणा

जन्म स्थान	:	गाँव सिसाय (हिसार) हरियाणा
जन्म तिथि	:	२ अप्रैल, १९५५
शिक्षा	:	एम०ए०, एम०फिल०, पी०एच०डी०
शिक्षा स्थान	:	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
सम्प्रति	:	प्राध्यापक संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय हौसी (हिसार)

जैनदर्शन में पञ्च परमेष्ठी

(Pancha Parmesthi in Jain Philosophy)

डॉ० जगमहेन्द्रसिंह राणा
एच० इ० एस०
प्राध्यापक संस्कृत
राजकीय महाविद्यालय, हांसी (हिसार)

निर्मल पब्लिकेशन्स
दिल्ली - 110094

परमपूज्य पण्डित रत्न, पंजाब प्रवर्तक
गुरुदेव स्व० श्री मुनि शुक्लचन्द महाराज जी
के
पुनीत जन्म शती महोत्सव
के अवसर पर प्रकाशित
48/14 जैन स्थानक करनाल, हरियाणा

- * कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र की पी० एच० डी० उपाधि हेतु स्वीकृत
शोध-प्रबन्ध

प्रथमावृत्ति

वीर निर्वाण संवत् २५२३

विक्रम संवत् २०५२

ISBN : ८१-८६४००-२५-७

प्रकाशक

निर्मल पब्लिकेशन्स

ए/१३९, ग० न० - ३, कबीर नगर, शाहदरा, दिल्ली- ९४.

फोन नं० 2114193

मूल्य : ३००.०० रु०

मुद्रक :

अमर प्रिंटिंग प्रैस, दिल्ली

समर्पण

जिन भव्यात्माओं ने जम्बुद्वीप भरतक्षेत्र के
जिस किसी भी भूभाग की गिरिगुफाओं वा
जिन पर्वतशिखरों पर योग-ध्यानरूढ़ हो,
जिनत्व परमात्म का साक्षात्कार कर सिद्धत्वलाम किया है,
जो प्रकृत परमात्म-अनुसन्धान में भी अदृष्ट सम्प्रेरक हैं,
उन लाखों करोड़ों ऋषि-महर्षियों, यति-मुनिवरों,
मनीषि-सन्तों को कोटि-कोटि शतशः वन्दन वन्दन
इन्हीं विशद परमज्ञानस्वरूप परमतत्त्व
पंच परमेष्ठियों के सद्यःपूत
चरण कमलों में
सभक्ति सविनय
सादर
समर्पित
:
:
:
:
-- जगमहेन्द्रसिंह राणा

शुभाशीष

जिन सासणस्स सारो
चउदस पुब्बाण जो समुद्धारो ।
जस्स मणे नमोकारो
संसारो तस्स किं कुणई ॥

नवकर महामंत्र जैन धर्म का प्रभावशाली अनादि सिद्ध मंत्र है। जैन परम्परा की मान्यता है कि इस मंत्र में सम्पूर्ण जैन वाङ्मय का अर्थात् चौदह पूर्व के विशाल श्रुत-ज्ञान का सार विद्यमान है। जैनाचार्यों की धारणा है कि चौदह पूर्व का विशाल ज्ञान एक तरफ और नवकार मंत्र की महत्ता एक तरफ है। चौदह पूर्व का सार इसलिए है कि इसमें समभाव की प्रधानता का समग्र दिग्दर्शन हुआ है तथा गुण पूजा की भी महत्ता पर प्रकाश पड़ता है। जैन धर्म और संस्कृति का प्रवाह समता को लक्ष्य में रखकर प्रवाहित हुआ है, यह मंत्र भी इसी दिव्य समभाव का प्रमुख प्रतीक है। इस मंत्र की सर्वाधिक विशेषता यह है कि इसमें बिना किसी जाति, धर्म व सम्प्रदाय के भेद से संसार की समस्त महान् पवित्र व उच्च आत्माओं को श्रद्धा व भक्ति-पूर्वक नमस्कार किया गया है। नवकार मंत्र व्यक्ति वाचक न होकर गुण वाचक है अर्थात् इसमें व्यक्ति को नहीं अपितु आत्मा के उच्च गुणों को वन्दन किया जाता है। अन्य दर्शनों में मंत्रों का सम्बन्ध राम, कृष्ण, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, दुर्गा, काली आदि अन्य देवी-देवताओं के साथ होता है लेकिन जैन परम्परा का यह मंत्र सर्वथा गुण निष्पन्न है। जगत् में आत्मोपलब्धि हेतु जिन गुणों की आवश्यकता होती है, उन सभी गुणों का समावेश इस महामंत्र में विद्यमान है। इसलिए जिनवाणी या द्वादशांगी के पंचम अंग भगवतासूत्र का मंगलाचरण इसी मंत्र के माध्यम से हुआ है।

नवकार महामंत्र एक लोकोत्तर मंत्र है जिसकी अपरिमेय शक्ति और अप्रतिहत प्रभाव है। लोकोत्तर मंत्र द्वारा लौकिक व लोकोत्तर दोनों कार्य सिद्ध होते हैं। इस मंत्र द्वारा साधक आत्मा की प्रसुप्त शक्तियों को अनावृत्त करता है। आध्यात्मिक शक्तियों को जागृत करके साधक वासनाओं का नियमन कर लेता है। यह मंत्र इसलिए भी सर्वश्रेष्ठ है कि इसके स्रष्टा लोकश्रेष्ठ महापुरुष है। जैन धर्म का विश्वास है कि इस मंत्र का प्रतिपादन तीर्थंकरों द्वारा हुआ है, और इसकी सूत्रबद्धता गणधरों द्वारा हुई है। इसका वाच्यार्थ लोकोत्तर पुरुषों को नमस्कार स्वरूप है। विधि पूर्वक त्रियोग शुद्धि के साथ नवलक्ष नवकार का जपार्थी तीर्थंकर बनने की संभावना अपने में पैदा करके सदाकाल के लिए

अजर-अमर पद को उपलब्ध कर सकता है। कल्पसूत्र में लिखा है कि नवकार महामंत्र के एक अक्षर के जाप व आराधन से सात सागरोपम के पाप नष्ट हो जाते हैं और सम्पूर्ण मंत्र के जाप से पांच सौ सागरोपम के पाप क्षय हो जाते हैं। १०८ बार जाप करने से जिनवाणी के स्वाध्याय का पुण्य जहाँ प्राप्त होता है वहाँ साधक का मन, चित्त, लेश्या, अध्यवसाय, व आत्मा का उपयोग इसी मंत्र द्वारा केन्द्रित हो जाता है।

नवकार मंत्र में नवपद है, इसलिए इसे नवकार मंत्र कहते हैं। पांच पद-अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु, तो मूल पदों के हैं और चार पद चूलिका के इस प्रकार कुल नौ पद होते हैं। एक अन्य जैन परम्परा नौ पद को अन्य प्रकार से स्वीकार करती है। पांच पद तो मूल के मानती है और चार पद ज्ञान, दर्शन, चरित्र व तप को मानती है। इस परम्परा में अरिहन्त और पांच-पांच पद साधक तथा सिद्ध भूमिका के हैं और अन्तिम चार पद साधना के सूचक हैं। ज्ञानादि की साधना द्वारा ही साधक आध्यात्मिक जीवन में विकास करता हुआ अर्हत् पद को उपलब्ध होता है, तत्पश्चात् अजर-अमर, अविनाशी, सिद्ध हो जाता है। इन गुणों को नमस्कार करके वास्तव में जैन धर्म ने गुणपूजा का महत्त्व ही प्रकट किया है। दोनों परम्पराओं के द्वारा नव पद होते हैं और इसी कारण मंत्र का नाम नवकार है।

नवकार मंत्र का अपर नाम परमेष्ठी मंत्र है। जो महान् आत्माएं समभाव में स्थित होकर उच्च पद पर अवस्थित रहती हैं वे परमेष्ठी मानी गई हैं। परमेष्ठी शब्द को अर्हत् का वाचक भी माना गया है। अर्हत् की परिणति सिद्ध रूप में होती है। इस दृष्टि से यह अर्हत् और सिद्ध दोनों पदों का वाहक है। आचार्य व उपाध्याय अर्हत्ओं के प्रतिनिधि होते हैं, अर्हत्ओं की अनुपस्थिति में उनका कार्य वे स्वयं करते हैं इसलिए आचार्य व उपाध्याय को परमेष्ठी मान लिया गया। अब प्रश्न रहा साधुओं का, इसका सीधा सम्बन्ध है— अर्हत् हो, आचार्य हो, उपाध्याय हो वे सर्वप्रथम साधु हैं, पश्चात् और कुछ। वास्तव में साधु ही परमेष्ठी का रूप है। साधु अर्हत् बनने की साधना कर रहा है, इस दृष्टि से वह परमेष्ठी बन जाता है। वैसे सिद्ध और साधु इन पदों में पाँचों पदों का समावेश हो जाता है फिर भी पाँचों पदों का स्वतन्त्र अमूल्य अस्तित्व है। इसलिए जिन परमेष्ठी आत्माओं को नमस्कार किया गया हो, वह मंत्र परमेष्ठी मंत्र कहलाता है। परमेष्ठी पंचक में प्रारम्भ के दो पद देव कोटि के अन्तर्गत आते हैं और अन्तिम तीन पद गुरु कोटि में आते हैं।

सात्त्विक प्रमोद का विषय है कि श्रीयुत् डॉ० जगमहेन्द्रसिंह राणा ने परमेष्ठी मंत्र की शब्द व विकास की यात्रा का अनुशीलन व परिशीलन करके विद्वत्जगत व शोध जिज्ञासुओं के लिए एक प्रशस्त चिन्तन प्रस्तुत किया है। अतः वे साधुवाद के पात्र हैं। इस शोध प्रबन्ध का प्रकाशन भी समभाव की उच्चस्थिति में स्थित रही महानात्मा, प्रज्ञापुरुष व

अनासक्त योगी जैन श्रमणसंघ के प्रवर्तक पं० रत्न स्व० श्री शुक्लचन्द जी म० की
जन्मशती के उपलक्ष्य में हो रहा है ।

48/14 जैन स्थानक, करनाल

मुनि सुभाष

24 अक्टूबर 1995

कुशल व्यक्तित्व के धनी लाला हमीरचन्द्र जी

स्वभाव में नम्रता, व्यवहार में शालीनता, वाणी में मधुरता, हृदय में विशालता, कार्य में दक्षता तथा मन में अगाध धर्म आस्था आदि अनेक गुणों से ओतप्रोत लाला हमीरचन्द्र का जन्म सन् १९११ में नाभा के सम्भ्रान्त दम्पति श्री सीताराम गर्ग व श्रीमती द्रौपदी देवी गर्ग के यहां हुआ। आपके पिता श्री नाभा नरेश श्री हरिसिंह जी के वरिष्ठ सलाहकार थे। माता-पिता से विरासत में मिले उच्च व धार्मिक संस्कारों ने आपके आचार-विचार को नवीन आयाम व सशक्त दिशा प्रदान की।

प्रारम्भिक शिक्षा नाभा में ही पूर्ण हुई। जीवन में कठोर परिश्रम आपको करना पड़ा। आप हाईकोर्ट चण्डीगढ़ में सेवारत रहे। प्रथम रजिस्ट्रार के पद पर अपनी सेवाएं देते रहे। सरकारी नौकरी होने के पश्चात् भी आपकी रूचि सामाजिक कार्यों में निरन्तर बनी रही। जैन समाज के प्रति आप पूर्ण समर्पित रहे। कला, साहित्य व शिक्षा के प्रति आपका विशिष्ट लगाव रहा। वर्षों तक जैन समाज नाभा के आप प्रधान रहे। अपने अध्यक्ष व कार्यकाल में आपने श्री रामस्वरूप जैन सीनियर सेकेण्डरी स्कूल की संस्थापना की, जो स्कूल वर्तमान में सफलता से गतिशील व नाभा के प्रमुख स्कूलों में अपनी पहचान बनाये हुए है। हजारों बच्चे वहां शिक्षा व नैतिकता को ग्रहण कर रहे हैं। आपकी प्रधानता में कई मुमुक्षु आत्माओं ने जैन भागवती दीक्षा को भी अङ्गीकार किया। आप व्याख्यान वाचस्पति कविरत्न श्री सुरेन्द्र मुनि जी म० के चरणकमलों के विशिष्ट अनुरागी थे।

आपके पांच सुपुत्र व सात सुपुत्रियां हैं। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती कमलादेवी आपके आदर्शों के प्रति पूर्णतया समर्पित हैं। आपके अधूरे कार्यों को पूर्ण करने में वह प्राणपण से लगी हुई है। पंजाब प्रवर्तक स्व० श्री शुक्लचन्द्र जी म० के जन्म शताब्दी वर्ष के शुभावसर पर आपके सुपुत्र श्री भुवनेश मोहन ने अपनी माता व युवामनीषी मुनि श्री सुभाष जी म० की मंगल प्रेरणा से इस शोध प्रबन्ध-जैनदर्शन में पञ्च परमेष्ठी को पाठकों के समक्ष लाने में अपनी उत्तम व नेक कमाई का सदुपयोग करके शिक्षा व विद्वानों के प्रति सात्विक अनुराग का परिचय दिया है। हम हृदय से श्रीमती कमला देवी के प्रति आभार अभिव्यक्त करते हैं।

प्रधान

श्री सुरेन्द्रमुनि जैन फाऊण्डेशन
बराड़ा, जिला अम्बाला
(हरियाणा)

पुरोवाक्

ओंकारं बिन्दु संयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।

कामदं मोक्षदं चैव ओंकाराय नमोनमः ॥

समस्त भारतीय सम्पदा एवं संस्कृति जिसमें अनुस्यूत है ऐसा महिमान्वित ओंकार पद परमतत्त्व का आधायक है। ऋषि, महर्षि, यति-मुनि एवं योगावचर सदैव तत्पर हो जिसका निरन्तर ध्यान करते हैं, उपासना करते हैं वह ऐसा ओम् अक्षर ही सत्त्वों का कल्याण करने वाला है। यह काम साधक एवं मोक्षप्रद तो है ही साथ ही अर्थ एवं धर्म की वृद्धि में मानव का प्रबल सहायक है। इसी कारण समस्त वाङ्मय इसी एक पद ओंकार का मंगलगुणगान करते हैं। समस्त तप भी इसी ओम् अक्षर में समाहित हैं। मुमुक्षु जन भी इसी के कारण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, यह ओम् अक्षर ही समस्त सिद्धियों का प्रदाता है —

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति

तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति ।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति

तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥^१

ब्रह्मस्वरूप यह ओम् ही सर्वोत्तम आलम्बन है जिसे सम्यक् ज्ञातकर मानव ब्रह्मलोक में भी सम्मान पाता है। सचमुच में जो कोई भी सत्त्व जिस किसी भी प्रकार की मनोकामना से ओंकार का एकाग्रमन से स्मरण करता है वही उसे मिल जाता है, जैसे उपनिषदों में बतलाया भी गया है —

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥^२

प्रजापति-मुखोद्भूत^३ ओम् निखिल मंत्रों का नायक है। इसमें दो

१. द्र० कठोपनिषद् २/१५

२. वही, २/१६

३. द्र० योगसिद्धान्त चन्द्रिका, पृ० २६ : अकारं च उकारं च मकारं च प्रजापतिः ।

स्वर अ और उ तथा एक व्यंजन म् है और संस्कृत कोश ग्रंथ वाचस्पत्यम्^४ में जिस अव्ययपद ओम् को प्रणव, आरम्भ एवं स्वीकार अर्थ में प्रयुक्त बतलाया गया है वह मंगल, शुभ और ज्ञेय ब्रह्म का भी वाचक माना गया है जिसका विग्रह - - 'अश्च उश्च मश्च तेषां समाहारः' है। इन्हीं अ, उ एवं म् वर्णों की शक्ति ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव में निहित होती है^५, ऐसा माना जाता है।

श्रुति, स्मृति एवं पुराण ग्रंथों में वर्णित प्रणवपद वाच्य ओम् अक्षर परमतत्त्व ईश्वर-ब्रह्म का वाचक है। गीता के अनुसार परमतत्त्व ब्रह्म का स्मरण तथा चिन्तन ऊं, तत् तथा सत् इन त्रिविध पदों से ही किया जा सकता है^६। इसी कारण यहां श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो प्राणी ब्रह्मरूप एकाक्षर ओम् का विशुद्ध उच्चारण करता हुआ स्वदेह का परित्याग करता है वह नियम से परमगति, परमधाम (मुक्ति) को धारण करता है :-

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।

यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥^७

निः संदेह परमपदरूप ओम् ही जगत् में श्रेष्ठ एवं श्रेयस्कर है।

जैनदर्शन में ओम्

जैन भी सर्वमान्य अंगीकृत महामन्त्र, पंच नमस्कारमन्त्र नवकार को ओंकार स्वरूप मानते हैं। यह अणिमा-लघिमादि सिद्धिप्रद एवं अपराजित महान् मन्त्र है —

णमो अरिहन्ताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं ।

णमो उवज्जायाणां णमो लोए सब्बसाहूणं ॥

यहां तीनों लोकों, तीनों कालों में विद्यमान सम्पूर्ण पदार्थों को एक साथ प्रकाशन में सामर्थ्य रूप महिमा से युक्त अरिहन्त केवली भगवान् प्रमुख होते हैं, यही अनन्त गुणों से सम्पन्न हैं, अखण्ड चैतन्यगुणयुक्त होने से एकामात्र, निखिल वाङ्मय के निमित्तभूत आद्यक्षर ओंकाररूप भी वही है। आगम में कहा भी है :

४. वाचस्पत्यम् खण्ड १, पृ० १५५८

५. अकारं ब्रह्माणं उकारं विष्णु मकारं रूद्रम् । योगसिद्धान्तचन्द्रिका, पृ० २६

६. ऊं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविध स्मृतः । गीता

७. वही, ८/१३

अरहन्ता असरीरा

आइरिया तह उक्झाया मुणिणो ।

पढमक्खवरणिण्यो

ओंकारो पंच परमेट्ठी । अर्थात्

: अरहन्तों का आद्यक्षर - - अ

: अशरीरी सिद्धों का अक्षर - - अ (अ + अ - आ)

(अथवा आद्य अक्षर शून्य ० - अ + ० = अ)

: आचार्यों का आद्यक्षर - - आ (आ + अ वा आ = आ)

: उपोध्यायों का आद्यक्षर - - उ (आ + उ - ओ) और

: मंगलकारक साधुओं का आद्यक्षर - - म् (ओ + म् ओम्)

अतएव अरहन्त ही सर्वोपरि श्रेष्ठ होने से वही ओंकार हैं ।

यही सादि अनन्त पंचाक्षरात्मक ओम् जगत् के समस्त प्राणियों को सुखोत्पादक एवं शांतिप्रदायक होने से शंकर है, परमगति-सुगति (मोक्ष) कारक होने से सुगत है, परमैश्वर्य सम्पन्न होने से ईश्वर और आत्मभिन्न पदार्थों में स्वामित्व-भावनाविरहित होने से वह ही निराकार, निरंजन, आनंदघन ब्रह्म है, जो सम्यक्त्वादि गुणोपेत एवं कर्माष्टक विनिर्मुक्त अनादिमूलमंत्र ओम् अहं परब्रह्म परमेष्ठी का वाचक और सिद्ध समूह का सुन्दर बीजाक्षर है -

अर्हमित्यक्षरं ब्रह्म वाचकं परमेष्ठिनः

सिद्धचक्रस्य सद्बीजं सर्वतः प्रणमाम्यहम् ।

कर्माष्टक-विनिर्मुक्तं मोक्षलक्ष्मी-निकेतनम्

सम्यक्त्वादिगुणोपेतं सिद्धचक्रं नमाम्यहम् ॥

प्रसार करते हैं। यहां प्रश्न यह उठता है कि इतिहास सिद्धान्त और श्रद्धा के साथ अपना यह उक्त परब्रह्म परमतत्त्व जैनों की एकमात्र विशद एवं परमविशद आत्मा-परमात्मा से भिन्न नहीं। यह अनन्त सुख ज्ञान-दर्शन की प्रतिष्ठा एवं शरण, पवित्रात्मा परमेष्ठी सांख्यों की चित्तिशक्ति है और वेदान्तियों का यही अनिर्वचनीय निर्गुण ब्रह्म भी है जो ऐन्द्रिय संवेदना से परे है, जिसके आगे संसार का समस्त भौतिक सुख व्यर्थ है। यह परमतत्त्वज्ञान शुद्ध केवलज्ञान है, कैवल्य स्वरूप है। यही असीम अखण्ड यथार्थसत्य है, एक सच्चा प्रकाश है, जिसे मनोयोग से पाना है। जिस परमतत्त्व का साक्षात्कार करते ही साधक सम्पूर्ण पापों से छूट कर स्वयं ब्रह्मवित् हो जाता है —

८. णाणी सिव परमेट्ठ सव्वण्णू विण्हू चटुमुहो बुद्धो । - भावपाहुड, गाथा १४९

९. अप्पा वि य परमप्पो । वही

परं तत्त्वमनुध्यायन् योगी स्याद् ब्रह्मवित् ।^{१०}

ऐसे जाज्वल्यमान, लोकोत्तर, आनन्दमय, अगम, अगोचर, परमतत्त्वज्ञान, परमेष्ठी अरिहन्त परमात्मा का सर्वोत्कृष्ट विशद एवं गम्भीर सूक्ष्म विश्लेषणात्मक प्रतिपादन में ही जैन दर्शन की महनीयता सिद्ध है।

डॉ० जगमहेन्द्र सिंह राणा द्वारा लिखित प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का उद्देश्य भी उपर्युक्त ओंकार स्वरूप परमतत्त्व परमेष्ठी परमात्मा का यथार्थ विवेचन करना है।

यद्यपि डॉ० राणा जन्मतः जैन नहीं हैं किन्तु सुसंस्कारों तथा जैनसन्त, मुनि एवं आचार्यों के सम्पर्क में बचपन से ही रहने के कारण वह पूर्णतः जैन हैं। प्रशान्त मूर्ति सन्त मुनियों की अमृततुल्य वाणी से ही प्रभावित होकर डॉ० राणा ने शिक्षा की उच्चतम उपाधि पी-एच०डी० जैन-दर्शन में धारण करने का प्रणिधान किया। यह जैन सन्त, महान् गुरुओं का उन्हें अदृष्ट आशीर्वाद ही है जिससे कि डॉ० राणा ने समग्र जैन वाङ्मय का पारायण कर श्रमसाध्य सार सारभूतज्ञानान्वित प्रकृत समालोचनात्मक प्रबन्ध में परमतत्त्व परमात्मा अरिहन्त, अरिहन्ततीर्थंकर, तीर्थंकर का समवशरण, तीर्थंकर अवतार नहीं, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु इन पांच परमेष्ठियों के सम्पूर्ण आचार-विचार एवं गुणों का मनोज्ञ सरल एवं सुबोध शैली में सुन्दर प्रतिपादन किया है, जो अत्युत्तम बन पड़ा है। मुझे अत्यधिक प्रसन्नता है कि महान् योगीसन्त, प्रवर्तक पण्डितरत्न स्व० पू० श्री शुक्लचन्द्र जी म० की जन्मशती- उत्सव पर यह उपादेय ग्रन्थ- **जैनदर्शन में पंचपरमेष्ठी** प्रकाशित हो रहा है। पूर्ण विश्वास है कि यह रचना विद्वानों एवं शोधार्थी पाठकों को अधिक पसन्द आएगी।

डॉ० राणा जैनदर्शन में युवापीढ़ी के प्रबुद्ध अधिकारी विद्वान् हैं। आपको मेरा हार्दिक साधुवाद है और आशा है भविष्य में भी इनके द्वारा रचित जैनवाङ्मय विषयक अन्य कतिपय रचनाओं से सुरभारती का अक्षर भण्डार वृद्धिगत होगी, ओम् शान्ति।

१० . द्र० महापुराण (आदिपुराण) २१/२३६

डी०-११५, विश्वविद्यालय परिसर,

: कुरुक्षेत्र

दिनांक : २४ अक्टूबर १९९५

(डॉ० धर्मचन्द्र जैन)

प्रोफेसर एवं निदेशक,

संस्कृत एवं प्राच्य विद्या संस्थान,

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

(हरियाणा)

प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति का उच्चतम ध्येय मोक्ष रहा है। भगवान् महावीर ने कहा है कि साधन का परम लक्ष्य मोक्ष है—परमो से मोक्षो (दशवैकालिकसूत्र १/२)। महर्षि कपिल ने सांख्यसूत्र में लिखा है कि-अथ त्रिविधदुःखस्यात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः अर्थात् तीनों प्रकार के दुःखों से आत्यन्तिकनिवृत्ति ही परमपुरुषार्थ-मोक्ष है। आचार्य उमास्वाति ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र को मोक्ष का मार्ग (उपाय) बतलाया है-सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः तत्त्वार्थसूत्र १/१) कहने का अभिप्राय यही है कि जब साधक के अन्तःकरण में दृढ़विश्वास जाग्रति होता है तब उसका ज्ञान भी परिपक्व और विशुद्ध हो जाता है। चारित्र विशुद्धि ही वस्तुतः मोक्ष है।

मानव जब प्रमत्त अवस्था को छोड़कर अप्रमत्त अवस्था की ओर बढ़ता है सब उसका श्रद्धान विशुद्ध हो जाता है फिर वह आत्मा और संसार के स्वरूप के विषय में निश्चयनय की दृष्टि से विचार करता है, उसके फल स्वरूप जो उपलब्धि होती है, वही सम्यक् ज्ञान है। लब्धज्ञान को ज्ञानी जब आचरण में उतारता है तब यह ही सम्यक्चरित्र कहलाता है। इन्हीं यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान एवं आचरण विशुद्ध त्रिवेणी का ही अपर नाम मुक्ति है जिन्होंने इसे पा लिया और जो इसकी प्राप्ति के लिए निरन्तर तत्पर हैं, उनके प्रति अखण्ड विश्वास, उनके ज्ञान और पावन आचरण का अनुकरण ही साधनामन्त्र हो जाता है। ऐसा ही साधना मन्त्र है — पञ्च परमेष्ठी महामन्त्र णमोकार।

जैनदर्शन में इस महामन्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके विषय में विशेषावश्यकभाष्य में लिखा है कि इस मन्त्र की आराधना से इस लोक में अर्थ, काम, आरोग्य और अभिरति- सुख साधनों की प्राप्ति होती है तथा परलोक में उत्तम कुल स्वर्ग एवं सिद्धत्व लाभ होता है—

इह लोए अत्यकामां आरोग्य अभिरई य निष्पत्ति ।

सिद्धों य सग सुकुल पज्जाई य परलोए॥

इसीलिए जैन आगम ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर इसका महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। जैन आगम ग्रन्थों में भगवतीसूत्र प्रमुख माना जाता है, उसके मंगलाचरण के रूप में इस महामन्त्र का स्मरण किया गया है।

आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने पंचपरमेष्ठी महामन्त्र को सर्वसूत्रान्तर्गत मानकर विशेषावश्यकभाष्य में लिखा है कि -

सो सव्व सुतक्खं गब्भन्तरभूतो जतो ततो तस्स
आवासयाणुयोगादिगहणगहितो अणुयौगोवि ॥ (गा० ९)

मन्त्र शब्दरूप होता है और भारतीय मनीषियों ने शब्द को ब्रह्म कहा है। ब्रह्म विराट् है। दूसरी ओर ध्वनि की विराटता विज्ञान सम्मत है कारण कि ध्वनि सेकिन्डों में लाखों मीलों की दूरी तय करते हुए ब्रह्माणु में व्याप्त हो जाती है। मन्त्रोच्चारण करते समय साधक के रोम-रोम से ध्वनि की विद्युत धाराएं चारों ओर फैलने लगती हैं। जो विशिष्ट-साधक साधना के रहस्य सिन्धु की गहराइयों तक पहुंच जाते हैं वे विभिन्न आसनों एवं विविध मुद्राओं द्वारा ध्वनि स्वरूप शारीरिक विद्युत धारा को इस प्रकार नियंत्रित कर लेते हैं कि जैसे गहन अन्धकार में सहसा बिजली के चमकने से सब कुछ प्रत्यक्ष हो जाता है वैसे ही उनके सामने सार्वभौम सत्य अपने समग्ररूप में युगपत् प्रगट हो जाता है।

जैन परम्परा में इस समग्र सत्य के साक्षात्कार को केवलज्ञान कहा जाता है। इस केवलज्ञान और परिपूर्ण सत्य की उपलब्धि के मूल में जो ध्वन्यात्मक विद्युतप्रवाह है वही उसका मूलमन्त्र है। इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने मन्त्र शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि जिसके मनन करने से मनन करने वाले की रक्षा हो अथवा जिन पदों के जप करने से आत्मा परमात्मारूप आविर्भूत हो जाय वह मंत्र है — **मननात् त्रायते यस्मात् तस्मात्मन्त्र प्रकीर्तितः** (महार्थमञ्जरी, पृ० १०२)

मंत्रों में कुछ एक मन्त्र लौकिक कार्यों की सिद्धि के लिए होते हैं तो कुछ मन्त्र लोकोत्तर पद प्रदायक होते हैं किन्तु पञ्च परमेष्ठी णमोकारमंत्र दोनों ही प्रकार के कार्यों का फलप्रदान करने वाला महामन्त्र है। डॉ० नेमीचन्द्र जैन ने लिखा है कि यद्यपि इस मन्त्र का यथार्थ लक्ष्य निर्वाण प्राप्ति है तथापि यह लौकिक दृष्टि से समस्त कामनाओं को पूर्ण करता है।^१ अभीष्ट सिद्धिकारक यह मन्त्र तीर्थङ्करों की परम्परा तथा गुरु परम्परा से अनादिकाल से चला आ रहा है — **इदं अर्थमन्त्रं परमार्थतीयपरम्परागुरुपरम्पराप्रसिद्धविशुद्धोपदेशम्**^२ इस प्रकार यह महामन्त्र आत्मा के समान अनादि एवं अविनश्वर है।

महामन्त्र की ऐतिहासिकता :

मानव स्वभाव से जिज्ञासु रहा है। महामन्त्र की प्राचीनता और उसकी उत्पत्ति के विषय में विविध प्रश्न उसके मन में उठते रहे हैं। हजारों वर्षों के अनुसन्धान से यही ज्ञात हुआ है कि यह मंत्र अनादि अनन्त है। तीर्थङ्कर इसी मंत्र के माध्यम से धर्म का प्रचार एवं

१. मङ्गलमन्त्र णमोकारः एक अनुचिन्तनं, पृ० १७, ५८

२. महामन्त्र णमोकारः वैज्ञानिक विश्लेषण, पृ० ४३

समाधान चाहता है। इतिहास तिथियों और घटनाओं का क्रमशः संग्रह होता है किन्तु इतिहास का इतिहास मानव परम्परा और विश्वास में होता है जिसका मूल प्राप्त करना अत्यन्त कठिन ही नहीं असम्भव भी है।

फिर भी प्राप्त इतिहास क्या है? किसने इस मन्त्र की रचना की है? इसकी रचना कब हुई है? यह कहना अतिकठिन है। परन्तु प्राप्त वाङ्मय के आधार पर नमोकार मन्त्र की ऐतिहासिकता पर विचार किया जा सकता है।

प्राचीन जैन आचार्यों, विद्वानों एवं विचारकों ने इसे अनादि माना है। अनादि द्वादशांग जिनवाणी का अंग होने से यह अनादि मन्त्र माना जाता है। द्वादशांग बाणी के टीकाकारों में आचार्य पुष्पदन्त, आचार्य वीरसेन, शिवकोटि, वज्रस्वामी, भद्रबाहु आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है।^१

वर्तमान काल के विद्वानों में युवाचार्य महाप्रज्ञ आचार्य रजनीश एवं डा० नेमिचन्द्र जैन ने भी इस मन्त्र को अनादि माना है।^२ पण्डित टोडरमल ने अकारादि अक्षर समूह को अनादि निधन माना है इसलिए कहा गया है कि - **सिद्धो वर्णसमाम्नायः**। इसका अर्थ है कि जो अक्षरों का सम्प्रदाय है सो स्वयं सिद्ध है तथा उन अक्षरों से उत्पन्न सत्यार्थ के प्रकाशक पद, उनके समूह का नाम श्रुत है, वह भी अनादि निधन है।^३

डा० जगमहेन्द्र सिंह राणा ने प्रकृत ग्रन्थ **जैनदर्शन में पञ्च परमेष्ठी** में पञ्च परमेष्ठी महामन्त्र का प्रामाणिक और तर्क पूर्ण विश्लेषण किया है। पञ्च परमेष्ठी के स्वरूप की विवेचना के अन्तर्गत डा० राणा ने अत्यन्त सावधानी के साथ प्रत्येक पक्ष को स्पष्ट किया है। परमेष्ठी पद के निर्वचन में डा० राणा ने हिन्दी एवं अंग्रेजी शब्दकोश, **अभिधान राजेन्द्र कोष**, जैसे प्राचीन जैन ग्रंथों के साथ-साथ **विष्णुपुराण** आदि ग्रन्थों के प्रमाण प्रस्तुत किए हैं।

डा० राणा ने महामन्त्र नमस्कार को अनादि नहीं माना है। इस विषय में उन्होंने जो तर्क प्रस्तुत किए हैं वे उचित प्रतीत होते हैं फिर भी तर्क बड़ा बहरा और तीव्रगामी होता है। वह रूकना तो जानता ही नहीं, परन्तु विश्वास उसे स्थिरता प्रदान करता है। परमेष्ठी

१. विस्तार के लिए देखिए-महामन्त्र नमोकार: वैज्ञानिक अन्वेषण, पृ० ३७

२. (क) ऐसो पंच नमोक्कारो-युवाचार्यमहाप्रज्ञ
(ख) महावीर वाणी, पृ० ३३-ले० भगवान रजनीश
(ग) मंगलमंत्र- नमोकार - ले० नेमिचन्द्र जैन ।

३. पं० टोडरमल । मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृ० १०

का स्वरूप, व्याख्या, उसकी पद संख्या का पौर्वापर्य विश्लेषण आदि का सयुक्ति-युक्त प्रतिपादन प्रकृत ग्रंथ में हुआ है।

प्रथमपद अरिहन्त, जो कि महामन्त्र का प्राणी तत्त्व है, उसके विवेचन में जैनदर्शन के अतिरिक्त वैदिक एवं बौद्धसाहित्य में वर्णित अर्हत् का उल्लेख करके विद्वान् लेखक ने प्रकृतपद अरिहन्त को सर्व व्यापक सिद्ध किया है। इसके साथ ही अर्हत् पद की प्राप्ति का साधनाक्रम कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन बहुत सुन्दर ढंग से हुआ है।

ज्ञानमीमांसा प्रसङ्ग में सम्पूर्ण ज्ञान केवल ज्ञान, अरिहन्तत्व, उनका सर्वज्ञत्व, अरिहन्त और तीर्थङ्कर, उनकी साधना, गुण विश्लेषण, समवशरण, उपदेश एवं उनकी भक्ति के फल में साधक के संसारोच्छेद की सिद्धि की गयी है।

सिद्ध पद विवेचन में सिद्धत्व का स्वरूप उनकी शाश्वता, उनका परमात्मत्व, सिद्धों की विविधता आदि की मीमांसा करके जैन मतानुसार सिद्धों के सुख, उनकी अवगाहना और स्थिति का वर्णन कर अन्त में अरिहन्त और सिद्ध के भेदाभेद का विस्तृत विवेचन किया है।

परमेष्ठी के तृतीयपद-आचार्य की स्वरूप व्याख्या में उनका गुरुत्व तीर्थङ्कर और आचार्य की तुलना, उसके गुणों का विशद वर्णन, आचार्य के विविधरूप, आचार्य सम्पदा, आचार्य के कर्तव्य, उनका वैशिष्य तथा उनमें भक्ति का महत्त्व प्रतिपादित हुआ है।

उपाध्याय परमेष्ठी अर्थात् वे विकासशील साधक, वे जो जानते हैं, वैसा ही जीवन में जीते हैं, और उसी के अनुरूप उपदेश भी देते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में विज्ञ लेखक ने उपाध्याय के ज्ञान-दर्शन चरित्र एवं तप का विस्तार से वर्णन करते हुए उसके द्वारा होने वाली धर्मप्रभावना, उसकी अनेक उपमाएं, कार्य-पद्धति और भक्ति का सुव्यवस्थित वर्णन किया है।

बहुत विलक्षण है- पञ्च परमेष्ठी मन्त्र। इसके पांचवे पद में लोक के समस्त साधुओं को नमस्कार किया गया है। पूर्व के सभी चार पद साधुत्व का ही विकसित रूप है। जैन दर्शन में व्यक्ति और वेष को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया अपितु जिनमें साधुत्व के भाव हैं वही साधु है। जो साधक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र्य रूप मोक्षमार्ग की साधना करते हैं, वही साधु है। डॉ० जगमहेन्द्र राणा ने अपने प्रकृत शोधपूर्ण ग्रन्थ जैनदर्शन में पञ्च परमेष्ठी में साधुत्व का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए उसकी योग्यता, उसके गुणों, उसके आचरण एवं साधुत्व के उपकरण तथा उसकी भक्ति के फल पर प्रमाण पुरस्सर प्रकाश डाला है।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ में श्री राणा ने पञ्च परमेष्ठी के स्वरूप प्रतिपादन में सम्पूर्ण जैनदर्शन का स्पर्श किया है। इसके साथ वैदिक तथा बौद्ध दर्शन का ज्ञान भी

तुलनात्मक रूप में हुआ है जिससे ग्रन्थ की उपादेयता और भी अधिक बढ़ गयी है। डॉ० जगमहेन्द्र राणा ने पञ्च परमेष्ठी का जो विस्तृत एवं प्रामाणिक विवेचन ग्रन्थ के माध्यम से किया है वह अत्युत्तम एवं प्रशंसनीय है। उनके इस श्रमसाध्य प्रयास के लिए उन्हें हार्दिक साधुवाद। यह ग्रंथ विद्वानों के लिए तो उपयोगी है ही, जिज्ञासु भक्त सहृदयों के लिए भी उतना ही उपयोगी सिद्ध होगा इसलिए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि यह समाज में ससम्मान पढ़ा जावेगा।

एक बात और है वह यह है कि इस ग्रंथ के निर्देशक डॉ० धर्मचन्द्र जैन प्रोफेसर कुरुक्षेत्र भी भक्त हृदय एवं सद्ग्रहस्थ हैं। इसका प्रकाशन भी एक महान् सन्त पंजाब प्रवर्तक, पण्डित रत्न पूज्य श्री शुक्लचन्द्र जी महाराज के शताब्दी समारोह वर्ष में उन्हीं की स्मृति में किया जा रहा है। इससे भी प्रस्तुत ग्रंथ की उपयोगिता और भी अधिक बढ़ जाती है। मैं इसके प्रकाशक युवा मनीषि मुनि श्री सुभाष जी महाराज का भी साधुवाद करता हूँ और प्रकृत उपादेय ग्रंथ के प्रचार-प्रसार की मंगल कामना करता हूँ।

एस० एस० जैन सभा

बरेठा मण्डी

मानसा (पंजाब)

महावीर निर्वाण (दीवाली)

२३ अक्टूबर १९९५

डॉ० सुव्रतमुनि शास्त्री

प्राक्कथन

पुण्यभूमि भारतवर्ष में समय-समय पर अनेक महापुरुषों ने जन्म लिया है। संसार में जब-जब धर्म की हानि तथा अधर्म का अभ्युदय हुआ तब-तब किसी न किसी महान् शक्ति अथवा व्यक्ति का जन्म अवश्य हुआ है। भगवान् कृष्ण ने जैसे गीता में कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ (गीता, ४।७)

समस्त भारतीय आस्तिक दर्शन भी ऐसे ही सर्वशक्ति सम्पन्न, निराकार, शाश्वत एवं सर्वज्ञ ईश्वर में अटूट श्रद्धा व्यक्त करते हैं किन्तु श्रवण-संस्कृति में ऐसा नहीं मिलता और अवतारवाद जैसा कि आस्तिक दर्शनों में मान्यता है, को भी स्वीकार नहीं किया गया है। जैनों के यहां वीतरागी, ज्ञानी, चितिशक्ति को प्रधानता दी गई है। इनके उपास्य एवं आराध्यदेव भी सम्यक्-सम्बुद्ध, केवली एवं वीतरागी होते हैं।

जैनों के ये वीतरागी देव परमात्मा, परमज्योति स्वरूप, जिन केवली अरहन्त तीर्थकर, सर्वज्ञ एवं परमेष्ठी अनन्त चतुष्टय-अनन्तदर्शन-ज्ञान, अनन्त वीर्य एवं अनन्तसुख से सम्पन्न होते हैं। ये जिन केवली, अरहन्त तीर्थकर जन्म से मति, श्रुत एवं अवधिज्ञान के धारी होते हैं। इन्द्र इन महापुरुषों के पंच कल्याणक महोत्सव देवताओं सहित सोल्लास मनाता है।

अणिमा, लघिमा आदि अनेक ऋद्धियों से सम्पन्न एवं नमस्कार करते हुए सुरेन्द्र और असुरेन्द्रों के मुकुटों में लगे हुए कान्तियुक्त रत्नों की प्रभा से जिनके चरणों के नाखून रूपी चन्द्र देदीप्यमान हो रहे हैं, जो प्रवचन रूपी वारिधि को वृद्धिगत करने के लिए चन्द्रमा के समान हैं, जो सदैव अपने स्वरूप में स्थित रहते हैं तथा जिनका योगिजन सदैव ध्यान करते हैं ऐसे अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं सर्वसाधु ये पंच परमेष्ठी ही जगत् में मंगलकारी हैं।

ये पांचों जिनशासन के परम गुरु हैं, सकलसिद्धि को देने वाले एवं सम्पूर्ण विधों एवं पापों के विनाशक हैं। ऐसे निर्मोही परमेष्ठी सूक्ष्म, नित्य निरामय, अमूर्त और प्रशान्तचित्त होते हैं।

ये वीतरागी जिनेश्वर आठ कर्मों का विनाश करने वाले, मुक्तिरूपी वधू के कान्त, तीनों लोकों की पीड़ा को दूर करने वाले एवं संसार-सागर को सुखाने वाले हैं। ये विश्व के समस्त तत्त्वों के ज्ञाता, सर्वशिवसुखकर्ता, चैतन्यस्वरूप, धर्मप्रकाशक, स्थिरपदप्रदाता ऐसे वे

वीतरागी भगवान् होते हैं। वे अनार्थों के नाथ और आत्मगुणों के भण्डार हैं। चिदानन्दस्वरूप, सुरासुर और मनुष्यों के द्वारा पूजित, अशरणों के शरण एवं निराधारों के आधार भी वही हैं।

ऐसे इन निर्विकारी, अध्यात्मरसी, परमाराध्य पंच परमेष्ठी का स्वरूप जैन्दर्शन में एकत्र उपलब्ध नहीं होता। इसी से इन्हीं को अध्ययन का आधार बनाया गया है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का शीर्षक है “जैन दर्शन में पञ्च परमेष्ठी” इन्हीं के स्वरूप विषय-वर्णन को अध्ययन की सुव्यवस्थित योजना के लिए छह परिच्छेदों में विभाजित किया जाता है —

प्रथम परिच्छेद में विषय-प्रवेश स्वरूप जैनधर्म के महामन्त्र-नमस्कार मन्त्र के महत्व एवं उनकी उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए परमेष्ठी पद की निरुक्तिपरक व्याख्या की गई है। तत्पश्चात् पंच परमेष्ठियों की उपादेयता एवं महत्ता तथा उनकी संख्या निर्धारण और उनके पौर्वोपर्य पर विस्तार से चिन्तन किया गया है।

द्वितीय परिच्छेद अरिहन्त परमेष्ठी में भारतीय वाङ्मय में अरिहन्त, अरिहन्त शब्द का निर्वचन एवं उसके पर्यायवाची शब्दों की व्याख्या आध्यात्मिक विकास और कैवल्य अर्थात् अर्हत्पद की प्राप्ति पर प्रकाश डाला गया है। यहां पर अरिहन्त के सर्वज्ञत्व, अरिहन्त एवं तीर्थंकर में भेद, तीर्थंकर परम्परा, तीर्थंकर पद की प्राप्ति एवं उसकी साधनभूत सोलह कारणभावनाएं, बीस स्थानक तीर्थंकर की माता के स्वप्न, तीर्थंकरों के पंच कल्याणक, तीर्थंकर की अष्टादश-दोषरहितता, तीर्थंकर के छयालीस गुण, समवसरण, उनकी दिव्यध्वनि तथा भक्ति एवं उससे प्राप्त होने वाले फल पर विस्तार से अध्ययन किया गया है।

तृतीय परिच्छेद सिद्ध परमेष्ठी में सिद्ध पद की व्याख्या, उसके पर्यायवाची शब्द, सिद्धगति, सिद्धों के मूलगुण, सिद्धों का अनुपम सुख, सिद्धों का निवास स्थान एवं विभिन्न अपेक्षाओं से सिद्धों की गणना और प्रकार पर विचार किया गया है। यहां अरिहन्त और सिद्ध में भेदाभेद तथा इनमें अधिक पूज्य कौन है ? इन सभी पक्षों का सम्यक् निरूपण भी किया गया है।

चतुर्थ परिच्छेद आचार्य परमेष्ठी से सम्बद्ध है। यद्यपि परम्परा से अरिहन्त और सिद्ध गुरु हैं किन्तु प्रत्यक्षतः आचार्य ही गुरु हैं। इन्हीं गुरु की महिमा बतलाते हुए आचार्य पद की व्याख्या एवं महत्त्व, आचार्य के पर्यायवाची शब्द, आचार्य के गुण, उनकी पदप्रतिष्ठा व उनके भेदों पर प्रकाश डालते हुए आचार्य के कर्त्तव्य, उनकी चतुर्विध विशिष्ट क्रियाओं, पांच अतिशेषों तथा संग्रह-स्थानों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

पंचम परिच्छेद में उपाध्याय परमेष्ठी की महिमा, उपाध्याय पद की व्याख्या, उपाध्याय पद के लिए निर्धारित योग्यताएं, उपाध्याय के पच्चीस गुण, उपाध्याय के मुख्य कार्य एवं उनकी सोलह उपमाओं से उनके स्वरूप की विस्तार से चर्चा की गयी है।

अन्तिम छठे परिच्छेद **साधु परमेष्ठी** में साधु की शब्दगत महत्ता, उसकी व्याख्या, साधु के लिए प्रयुक्त विशिष्ट शब्द, साधु की पात्रता, दीक्षाविधि, साधु के गुण, साधु का आचार-व्यवहार, उपकरण एवं आहार-विधि आदि का वर्णन करते हुए उनकी क्लिष्ट तप-साधना का विवेचन किया गया है। इससे अतिरिक्त साधु के लिए दी गयी इक्कतीस उपमाओं की चर्चा करते हुए उनकी आराधना एवं उससे प्राप्त होने वाले परिणाम पर विस्तृत अध्ययन किया गया है। इस प्रकार प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य उपाध्याय एवं साधु इन पंच परमेष्ठियों के स्वरूप की साङ्गोपाङ्ग महत्ता का प्रकाश किया गया है।

मेरे हृदय की प्रसन्नता शब्दों से परे है कारण कि जैनाचार्य ज्योतिषमार्तण्ड पूज्य सोहनलाल जी म० के सुशिष्य भारत केसरी युवाचार्य श्री काशीराम जी म० के परम आज्ञाकारी शिष्य, आध्यत्म रति, जैन संस्कृति के महान् गौरव, कुशलमन्त्रवेत्ता कर्मठ-साधक, जनकल्याण भावना से ओतप्रोत, विलक्षणतार्किक, सन्तमहिमान्वित, सरस्वती के अमृतपुत्र और निरभिमानी पण्डितरत्न पंजाब प्रवर्तक स्व० श्री मुनि शुक्लचन्द जी म० के जन्म शती महोत्सव के पुनीतपर्व पर आज मेरा यह चिरप्रतीक्षित प्रबन्ध प्रकाश में आ रहा है। इसके लिए मैं उनके प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। आपकी अदृष्ट अनुकम्पा ऐसी ही मेरे पर सदैव बनी रहेगी इन्हीं शब्दों के साथ मैं मुनिश्रेष्ठ के चरणकमलों में कोटिशः प्रणाम करता हुआ अपने श्रद्धासुमन अर्पित करता हूँ।

इसी पावन अवसर पर मैं तेरापन्थ के वर्तमान गणाधिपति आचार्यप्रवर तुलसी जी म० तथा महाप्रज्ञ आचार्य श्री मुनि नथमल जी म० को कैसे भूल सकता हूँ जिनका प्रतिफल प्रबन्ध लेखन में सम्यक् निर्देशन, स्नेहपूर्ण मंगल आशीष तथा प्रेरणा निरन्तर मिलती रही। आप दोनों आचार्यों के कृपाभाव के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ।

श्रवण संघ के मृदुभाषी युवाविद्वान् डॉ० मुनि सुव्रतशास्त्री जी म० का भी मैं चिरऋणी हूँ जिन्होंने प्रस्तुत ग्रंथ की भूमिका लिखकर मुझे अनुगृहीत किया है। सुहृदय वत्सल मुनिवर की प्रकृत अनुकम्पा सदैव स्मरण रहेगी। अतएव आपका धन्यवाद करता हूँ।

परमश्रद्धेय शासन प्रभावक कविरत्न व्याख्यान वाचस्पति श्रीसुरेन्द्र मुनि जी म० के सुयोग्य शिष्य सन्त रत्न युवामनीषी विद्वान् ओजस्वी वक्ता श्रीसुभाषमुनि जी म० का तथा साध्वी-रत्ना परम विदुषी डॉ० अर्चना जी म० का किन शब्दों में मैं आभार व्यक्त करूँ कारण कि एक तो आप साध्वी-सन्तों का उदारमना अन्तरंग शुभाशीर्वाद मुझे उपलब्ध है, दूसरे, आप सन्त रत्नों की दूरदर्शी प्रबल प्रेरणा एवं सहयोग का प्रतिफल है कि प्रस्तुत

प्रबन्ध प्रकाशित होकर आज आप सभी महानुभवों के समक्ष आ रहा है। एतदर्थ में आप साध्वी-सन्त-रत्नद्वय का हृदय से अत्यन्त आभार अभिव्यक्त करता हूँ तथा धन्यवाद भी करता हूँ।

संसार में आर्थिक सहयोग के बिना कोई भी कार्य सम्भव ही नहीं है। प्रस्तुत ग्रंथ प्रकाशन में उदारसहृदयी लाला हमीरचन्द्र जी का पूर्ण आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है, इसके लिए मैं उनका तथा उनसे सम्बद्ध सभी परिजनों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रगट करता हूँ तथा आप सभी सज्जनवृन्द के सुखी एवं समृद्ध तथा दीर्घजीवन की मंगकामना करता हूँ।

उदारचित्त गुरुजनों की अनुकम्पा से मैं इस दुर्गम कार्य को पूर्ण करने में समर्थ हो सका हूँ। एतदर्थ, सर्वप्रथम मैं परमश्रद्धेय, संस्कृत विभाग के वरिष्ठ प्रोफेसर डॉ० मान सिंह का विशेष रूप से आभारी हूँ, जिसके आशीर्वाद से मैं अपने शोध-प्रबन्ध को पूर्ण कर सका, अतः मैं उनका धन्यवाद करता हूँ।

शोध कार्य में रूची उत्पन्न करके प्रस्तुत विषय को सुझाने का श्रेय परमादरणीय डॉ० धर्मचन्द्र जैन को है जो इस शोध कार्य में मेरे निर्देशक भी हैं। जैनदर्शन के कुशल वेत्ता होने के कारण उनके निर्देशक में मुझे शोध कार्य में समुचित सुझाव एवं जानकारी प्राप्त होती रही और विषय आगे बढ़ता रहा और समृद्ध हो सका। उन्हीं के सतत प्रयास, अनुरागभाव एवं अमूल्य समय के योगदान से मैं इस कार्य को सम्पन्न एवं समय पर प्रस्तुत करने में सफल हो सका हूँ। अतः मैं उनका हृदय से आभारी हूँ और अत्यधिक धन्यवादी हूँ।

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के साथ-साथ दिल्ली विश्वविद्यालय, वीर सेवा मन्दिर दरियागंज, दिल्ली, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी सभा सिसाय (हिंसार) एवं विशेष रूप से वर्द्धमान ग्रन्थागार, जैन विश्वभारती लाडनू के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है जहां से शोधप्रबन्ध के लेखन में सभी प्रकार की सामग्री संचय करने में सहयोग मिला।

इस अवसर पर मैं अपने पिता श्री हरि सिंह माता श्रीमती भगवानी देवी एवं भाई-बहनों के प्रति भी आभार प्रगट करता हूँ जिन्होंने मुझे इस योग्य बनाया। इस कार्य में यथोचित योगदान प्रदान करने वाली मेरी धर्म पत्नी श्रीमती विमला राणा एवं अन्य सहयोगी मित्रों का भी मैं सस्नेह धन्यवाद करता हूँ। मैं जैन जगत् के समस्त साधु-साध्वियों एवं अन्य विद्वानों के प्रति श्रद्धापूर्ण आभार प्रगट करता हूँ जिनसे मुझे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उनकी कृतियों से इस शोध कार्य को सम्पन्न करने में सहायता मिली है। श्री सुरेश चौधरी निर्मल पब्लिकेशनन्स (दिल्ली) तथा उनके सभी साथियों का भी मैं

धन्यवाद करता हूं जिनकी लगन एवं सौजन्य से ग्रंथ प्रकाशन में महान सहयोग मिला।
अन्त में मैं आशा करता हूं कि यह मेरी रचना विद्वानों एवं शोध महानर्थियों को लाभप्रद
सिद्ध होगी।

२४ अक्टूबर १९९५

जगमहेन्द्रसिंह राणा

शब्द-संकेतविवरण

आ० नि०	::	आवश्यकनिर्युक्ति
आदि०	::	आदिपुराण
इसि०	::	इसिभासियाइं सूत्ताइं
उ०	::	उत्तराध्ययनसूत्र
उ० आ० टी०	::	उत्तराध्ययनसूत्र (आत्माराम टीका)
ऋग्०	::	ऋग्वेद संहिता
का०	::	कारिका
कि०	::	किरण
गच्छायार०	::	गच्छायार गङ्गणयं
गा०	::	गाथा
गा० टी०	::	गाथा टीका
गो० जी०	::	गोम्मटसार—जीवकाण्ड
ज्ञाता०	::	ज्ञाताधर्मकथाङ्गसूत्र
ज्ञान० पू०	::	ज्ञानपीठपूजाञ्जलि
टि०	:	टिप्पण
टी०	::	टीका
त० वृ०	::	तत्त्वार्थवृत्ति
त० सा०	::	तत्त्वार्थसार
त० सू०	::	तत्त्वार्थसूत्र
तिलोय०	::	तिलोयपण्णती
दश०	::	शवैकालिकसूत्र
दशा०	::	दशाश्रुतस्कन्धसूत्र

दी० नि०	::	दीघनिकाय
दे०	::	देखिये
धम्म०	::	धम्मपद
धर्मा०	::	धर्माभृत (अनगार)
नियम०	::	नियमसार
पउम०	::	पउमचरियं
परमात्म०	::	परमात्मप्रकाश
पृ० ::		पृष्ठ
भग०	::	भगवई (भगवतीसूत्र)
भग० आ०	::	भगवती आराधना
भग० वृ० प०	::	भगवती सूत्र वृत्तिपत्र
मूला०	::	मूलाचार
मूला० वृ०	::	मूलाचारवृत्ति
रत्नक०	::	रत्नकरण्डकश्रावकाचार
वायु०	::	वायुपुराण
वि०पु०	::	विष्णुपुराण
विशेष०	::	विशेषावश्यकभाष्य
विष्णु०	::	विष्णुसहस्रनाम
विसुद्धि०	::	विसुद्धिमग्गो
वी० नि० सं०	::	वीर निर्वाण सम्बत्
श्लो०	::	श्लोक
सं०नि०	::	संयुक्त निकाय
सम० क०	::	समराइच्चकहा

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

शुभाशीष	v-vii
कुशल व्यक्तित्व के धनी लाला हमीरचन्द्र जी	viii
पुरोवाक्	ix-xii
प्रस्तावना	x iii-xvii
प्राकथन	xviii -xxii
शब्द संकेत विवरण	xxiii -xxiv

प्रथम परिच्छेद :: विषय-प्रवेश

:: १-१३

जैन महामन्त्रः नमस्कार—मन्त्र, परमेष्ठी पद की निरुक्ति, परमेष्ठी की व्याख्या, महामन्त्र नमस्कार अनादि नहीं, परमेष्ठी एक अथवा पांच, पञ्च परमेष्ठी, अरहन्त के प्रतिनिधि आचार्य और उपाध्याय, परमेष्ठी का स्वरूप साधुत्व, पञ्च परमेष्ठियों का पौर्वापर्य विचार, सिद्ध के ज्ञापक अरहन्त, नमस्कार—महामन्त्र साम्प्रदायिक नहीं ।

द्वितीय परिच्छेद :: अरहन्त परमेष्ठी

:: १५-७१

(क) भारतीय वाङ्मय एवं अरहन्त : (१) त्रिषष्टि महापुरुष,

(२) वैदिक वाङ्मय में अर्हत्, (३) लौकिक वाङ्मय में अर्हत्—(क) पूज्य अर्थ में अर्हत्: (ख) योग्य अथवा समर्थ अर्थ में अर्हत्, (४) बौद्ध वाङ्मय में अर्हत्—अर्हत् शब्द का निर्वचन, (५) जैन वाङ्मय में अर्हत्—अर्हत् शब्द की व्याख्या—(१) अरहन्त, (२) अरह, अरहा एवं अरहो, (३) अरिहन्त वा अरिहो, (४) अरुह एवं अरुहन्त, (५) अरथान्त ।

(ख) आध्यात्मिक विकास और अर्हत्पद : (१) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान, (२) सासाद गुणस्थान, (३) सम्यग्—मिथ्यादृष्टि गुणस्थान, (४) अविरत सम्यग् दृष्टि गुणस्थान,

(५) विरताविरत गुणस्थान, (६) प्रमत्त संयत गुणस्थान, (७) अप्रमत्त संयत गुणस्थान, (८) निवृत्तिवादर गुणस्थान, (९) अनिवृत्तिवादर गुणस्थान, (१०) सूक्ष्म साम्प्रसाय गुणस्थान, (११) उपशान्त कषाय गुणस्थान, (१२) क्षीण कषाय गुणस्थान, (१३) संयोग केवली गुणस्थान (१४) अयोग केवली गुणस्थान

(ग) कर्म तथा उसके भेद : (अ) घातिया कर्म—ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, मोहनीय कर्म, अन्तराय कर्म, (आ) अघातिया कर्म—वेदनीय कर्म, आयुष्य कर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म (इ) कर्मक्षय का क्रम ।

(घ) केवलज्ञान : (१) सम्पूर्णज्ञान : केवल ज्ञान, (२) समग्रज्ञान: केवलज्ञान, (३) केवल: केवलज्ञान, (४) अप्रतिपक्ष: केवलज्ञान ।

(ङ) अरहन्त: सर्वज्ञ :

(च) अरहन्त : तीर्थकर —(१) तीर्थकर, (२) तीर्थकर परम्परा, (३) तीर्थकर पद और उसकी प्राप्ति की कारणभावनाएं तथा बीस स्थानक, (४) तीर्थकर की माता के स्वप्न, (५) तीर्थकरों के पंचकल्याणक, (६) अष्टादशदोषरहित तीर्थकर ।

(छ) छयालीस गुणसम्पन्न तीर्थकर : (अ) अनन्त चतुष्टय—अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, अनन्तसुख, (आ) अष्टमहाप्राप्तिहार्य—अशोक वृक्ष, सुरपुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, चंवर, सिंहासन, भ्रमण्डल, देव दुन्दुभि, श्वेत आतपत्र, (इ) चौंतीस अतिशय

(ज) तीर्थकर की दिव्य ध्वनि : (अ) दिव्यध्वनि के पैंतीस अतिशय (आ) दिव्यध्वनि का समय ।

(झ) तीर्थकर का समवसरण: (अ) समवसरण की संरचना, (आ) श्रीमण्डप ।

(ञ) तीर्थकर का उपदेश : (अ) धर्म के मूल तत्त्वों में अभेद (आ) महाव्रतों की देशना, (इ) मोक्षमार्ग का उपदेश, (ई) स्याद्वाद निरूपण, (उ) जीवाजीव

निरूपण, (ऊ) तीर्थकर उपदेश का फल ।

(ट) तीर्थकर अवतार नहीं : (अ) तीर्थकर एक सामान्य जीव, (आ) आध्यात्मिक विकास से तीर्थकर पद-प्राप्ति ।

(ठ) अरहन्त भक्ति और उसका फल

तृतीय परिच्छेद :: सिद्ध परमेष्ठी

७२-६६

(क) सिद्ध पद का निर्वचन एवं व्याख्या :

(१) कर्मबन्धमुक्त-सिद्ध (२) भव्यात्मा-सिद्ध, (३) अनन्तचतुष्टयी सिद्ध, (४) निरुपम एवं शाश्वत सिद्ध, (५) अष्टमहागुणसम्पन्न सिद्ध, (६) लोकाग्रभागस्थितसिद्ध, (७) त्रिलोकवन्दनीय सिद्ध, (८) परमसुखी सिद्ध, (९) परमविशुद्धात्माः सिद्ध परमात्मा, (१०) निर्लिप्त परमात्मा सिद्ध ।

(ख) सिद्ध के पर्यायवाची शब्द — (१) सिद्ध, (२) बुद्ध, (३) पारंगत, (४) परम्परागत, (५) उन्मुक्त कर्मकवच, (६) अजर, (७) अमर, (८) असंग ।

(ग) सिद्धगति का स्वरूप — (१) शिव, (२) अचल, (३) अरुज, (४) अनन्त, (५) अक्षय, (६) अवगाबाध (७) अपुनरावृत्ति ।

(घ) सिद्धों के मूलगुण — (१) अनन्तज्ञान, (२) अनन्तदर्शन, (३) अनन्तसुख, (४) अनन्तवीर्य, (५) सम्यक्त्व, (६) अवगाहनत्व, (७) स लू क्ष म त्व, (८) अगुरुलघुत्व ।

(ङ) सिद्धों के आदिगुणः आदिगुण से अभिप्राय व संख्या ।

(च) सिद्धों की अवगाहना : अवगाहना से अभिप्राय, सिद्ध-अवगाहना का आकार ।

(छ) सिद्धों का अनुपम सुखः सिद्धों का सुख देवेन्द्र एवं चक्रवर्तियों के सुख से बढ़कर, पराधीनता का अभाव ही सुख ।

(ज) सिद्धों की सादिमुक्तताः (अ) एक जीव की अपेक्षा सिद्ध-अनन्त, (आ) समुदाय की अपेक्षा

सिद्ध अनादि—अनन्त ।

(झ) सिद्धों का निवास स्थान: ऊर्ध्वगति के कारण -
(१) पूर्व संस्कार, (२) कर्मसंगरहित हो जाना,
(३) बंध का नाश हो जाना, (४) ऊर्ध्वगमन का स्वभाव ।

(ज) सिद्धशिला: (अ) सिद्धशिला बैकुण्ठ परमधाम,
(आ) सिद्धक्षेत्र की स्थिति ।

(ट) विभिन्न अपेक्षाओं से सिद्धों की गणना :
(१) पुरुषलिंगी जैन साधु में सिद्ध होने की सर्वाधिक
योग्यता, मनुष्य गति में ही मुक्ति—लाभ, एक समय में
सिद्ध होने वाले जीवों की संख्या ।

(ठ) सिद्धों के प्रकार : (१) तीर्थसिद्ध, (२) अतीर्थसिद्ध,
(३) तीर्थकर सिद्ध, (४) अतीर्थकर सिद्ध, (५) स्वयंबुद्ध
सिद्ध, (६) प्रत्येकबुद्ध सिद्ध, (७) बुद्धबोधित सिद्ध,
(८) स्त्रीलिंग सिद्ध, (९) पुरुषलिंग सिद्ध, (१०)
नपुंसकलिंग सिद्ध, (११) स्वलिंग सिद्ध, (१२) अन्यलिंग
सिद्ध, (१३) गृहिलिंग सिद्ध, (१४) एकसिद्ध, (१५) अनेक
सिद्ध ।

(ड) सिद्ध-भक्ति: (अ) परम ऐश्वर्य—प्राप्ति एवं
पाप—मुक्ति, (आ) रत्नत्रय की प्राप्ति ।

(ढ) अरहन्त और सिद्ध में भेद-अभेद :
(अ) अभिन्नत्व, (आ) भिन्नत्व । (ण) अरहन्तों के
पूज्य सिद्ध:

चतुर्थ परिच्छेद :: आचार्य परमेष्ठी

१००-१४५

(क) गुरु: आचार्य भारतीय संस्कृति में —तीर्थकर
तुल्य गुरु, धर्मप्रदीप गुरु, यथार्थ धर्मगुरु: आचार्य ।

(ख) आचार्य पद की व्युत्पत्तिलभ्य
व्याख्या—चतुर्दशविद्यापारगामी आचार्य, साक्षात् जिनिबिम्ब
आचार्य, संग्रहानुग्रही आचार्य, दुर्धर्ष एवं अगाधगुण—सम्पन्न
आचार्य, शूरवीर एवं धर्म प्रभावक आचार्य, क्षमा सम्पन्न
आचार्य, आचार्य के पर्यायवाची शब्द ।

(ग) आचार्य के छत्तीस गुण-श्वेताम्बर परम्परा:

(अ) पंचेन्द्रियनिग्रही आचार्य, (आ) ब्रह्मचर्य की नवविध गुप्तियों के धारक आचार्य, (इ) चतुर्विधकषायजयी आचार्य, (ई) पंचमहाव्रत धारक आचार्य, (उ) पंचविधाचार पालन समर्थ आचार्य, (ऊ) पांच समिति और त्रिगुप्ति-सम्पन्न आचार्य, दिगम्बर परम्परा में मान्य आचार्य के छत्तीस गुणः— (अ) आचारविषयक आठ गुण, (आ) आचार्य के स्थितिकल्परूप दस गुण, (इ) बारह प्रकार का तप, (उ) षडावश्यक ।

(घ) आचार्य पद प्रतिष्ठा:

(ङ) द्विविध आचार्य: (क)— (१) प्रव्राजनाचार्य, (२) उपस्थापनाचार्य, (ख)— (१) उद्देशनाचार्य, (२) वाचनाचार्य ।

(च) आचार्य सम्पदा - अष्टविध — (१) आचार सम्पदा, (२) श्रुतसम्पदा, (३) शरीर सम्पदा, (४) वचन सम्पदा, (५) वाचना सम्पदा, (६) मति सम्पदा, (७) प्रयोग सम्पदा, (८) संग्रह परिज्ञा सम्पदा

(छ) आचार्य के कर्तव्य - (१) सूत्रार्थ स्थिरीकरण, (२) विनय का व्यवहार, (३) गुरुपूजा, (४) शैक्ष बहुमान, (५) दानप्रतिश्रद्धा-वृद्धि, (६) बुद्धिबलवर्द्धन ।

(ज) आचार्य की चतुर्विध विशिष्ट क्रियाएं — (१) सारणा, (२) वारणा, (३) चोयणा, (४) पडिचोयणा ।

(झ) आचार्य तथा उपाध्याय के पांच अतिशेष

(३) आचार्य तथा उपाध्याय के संग्रहस्थान

(ट) आचार्य तथा उपाध्याय का गण से अपक्रमण

(ठ) आचार्य-भक्ति

पंचम परिच्छेद : उपाध्याय परमेष्ठी

१४६-१८७

(क) उपाध्याय की गरिमा — प्रकृष्टज्ञानी, बुद्धिबल सम्पन्न, श्रुतगुरु

(ख) उपाध्याय पद की व्युत्पत्तिलभ्य व्याख्या

(ग) उपाध्याय पद के लिए अर्हता

(घ) उपाध्याय के पच्चीस गुण — प्रथम पद्धति —

(१) द्वादशांग के ज्ञाता उपाध्याय, (२) करणसप्तति के धारक उपाध्याय — (क) चार प्रकार की पिण्डविशुद्धि, (ख) बारह प्रकार की भावना, (ग) बारह भिक्षु प्रतिमाएं, (घ) पच्चीस प्रकार की प्रतिलेखना, (ङ) चार प्रकार का अभिग्रह; (३) चरणसप्तति के धारक उपाध्याय (क) दशविध श्रमणधर्म, (ख) सतरह प्रकार का संयम, (ग) दश प्रकार का वैयावृत्य, (घ) रत्नत्रय के धारक (अ) सम्यग्दर्शन (आ) सम्यग्ज्ञान (इ) सम्यक् चरित्र; (ङ) बारह प्रकार के तप के धारक- (अ) बाह्य तप के छह भेद (१) अनशन तप, (२) अनौदरी तप, (३) वृत्तिपरिसंख्यान तप, (४) रसपरित्याग तप, (५) विविक्तशय्यासन, कायक्लेश, (आ) आभ्यन्तरतप के छह भेद — (१) प्रायश्चित्त तप, (२) विनय तप, (३) वैयावृत्य तप, (४) स्वाध्याय तप, (५) व्युत्सर्ग तप, (६) ध्यान तप, (४) प्रभावना सम्पन्न उपाध्याय — (१) प्रवचन प्रभावना, (२) धर्मकथा प्रभावना, (३) वाद प्रभावना, (४) त्रिकालज्ञ प्रभावना, (५) तप प्रभावना, (६) व्रत प्रभावना, (७) विद्या प्रभावना, (८) कवित्व प्रभावना; (५) मन, वचन काय का समाहरण, प्रकारान्तर से उपाध्याय के पच्चीस गुण ।

(ङ) उपाध्याय की सोलह उपमाएं - (१) शंखोपम, (२) काम्बोज अश्वोपम, (३) चारणदि—विरुदावलीतुल्य, (४) वृद्धहस्तीसम, (५) तीक्ष्णशृंगयुक्त धौरेय वृषभसम, (६) तीक्ष्णदाढ्युक्त केसरीसिंहसम, (७) शंखचक्रगदायुक्त वासुदेवसम, (८) चातुरन्तचक्रवर्तीसम, (६) सहस्रनेत्र—देवाधिपति शक्रेन्द्रसम, (१०) उदीयमान सूर्यसम, (११) पूर्णिमाचन्द्रोपम, (१२) धान्यकोष्ठागारसम, (१३) जम्बूसुदर्शनवृक्षसम, (१४) सीतानदीतुल्य, (१५) सुमेरुपर्वतसम, (१६) स्वयम्भूरमणसमुद्रसम ।

(च) उपाध्याय का कार्य

(छ) उपाध्याय — भक्ति

(क) साधु शब्द का निर्वचन एवं व्याख्या - यथार्थ साधकः साधु, समतावान् साधु, निर्मोही साधु, स्ववालम्बी साधु, निर्ग्रन्थी साधु, नमस्करणीयः साधु, भिक्षु साधु ।

(ख) साधु के लिए प्रयुक्त विशिष्ट शब्द - (१) माहन, (२) श्रमण, (३) भिक्षु, (४) निर्ग्रन्थ

(ग) साधु की पात्रता: (अ) साधु दीक्षा में कुल, जाति एवं क्षेत्र की विशिष्टता, (आ) साधु-जिनमुद्रा के योग्य त्रिविध वर्ण ।

(घ) साधुत्व का धारण किस लिए? (क) दीक्षा गृहस्थ आश्रम से पलायन नहीं, (ख) साधु का ध्येय एक मात्र मुक्तिलाभ, (ग) दीक्षा ग्रहण— (अ) माता-पिता की अनुमति (ब) परिवार एवं सांसारिक विषय-भोगों का त्याग, (स) दीक्षागुरु, (द) दीक्षाविधि ।

(ङ) साधु के सत्ताईस गुण : श्वेताम्बर परम्परा — पंच महाव्रत पालन, पंचेन्द्रिय निग्रह, चतुर्विध कषाय विवेक, भावसत्य, करणसत्य, योगसत्य, क्षमा, वैराग्य, मनःसमाहरण, वचन समाहरण, काय समाहरण, रत्नत्रयसम्पन्नता, वेदना अधिसहन, मरणान्तिक अधिसहन; दिगम्बर परम्परा में अट्ठईस गुण — पांच महाव्रत, पांच समिति, पंचेन्द्रिय निरोध, षडावश्यक, केशलोच, आचेलक्य, क्षितिशयन, अदन्तधावन, स्थितिभोज, अस्नान, एकभक्त ।

(च) साधु का आचार - (१) सामान्य साध्वाचार — (क) सामाचारी, (ख) साधु की दैनिक एवं रात्रिक चर्या, (ग) बाह्य उपकरण या उपधि : (अ) सामान्य उपकरण — रजोहरण, पात्र, वस्त्र, चौलपटक आसन, सदोरक—मुखवस्त्रिका, प्रमार्जिका, पात्रों के अंचल, भिक्षाधानी, माण्डलकवस्त्र, रजोहरण, दण्डावरक वस्त्र, ताण्डुलादिक जल को छानने का वस्त्र; (आ) विशेष उपकरण — (१) पीठ, (२) फलक, (३) संस्तारक, (४) शय्या; (इ) दिगम्बर साधु के उपकरण, (उ) विस्तृत या

पतित उपकरण का विधान, (घ) वसति या उपाश्रय — उपाश्रय कैसा हो? (१) अरमणीय उपाश्रय, (२) असंकीर्ण उपाश्रय, (३) जीवोत्पत्ति सभावनारहित, (४) अलिप्त उपाश्रय, (५) एकान्तस्थल, (६) परकृत स्थल; (ङ) साधु का आहार — (अ) साधु को आहार ग्रहण करने के छह कारण (१) क्षुधा—वेदना की शान्ति के लिए, (२) गुरु सेवार्थ, (३) ईर्यासमिति के पालनार्थ, (४) संयम पालनार्थ, (५) जीवन रक्षार्थ, (६) धर्म चिन्तनार्थ; (आ) साधु को आहार न ग्रहण करने के छह कारण (१) भयंकर रोग हो जाने पर, (२) आकस्मिक संकट के आ जाने पर, (३) ब्रह्मचर्यव्रत रक्षार्थ, (४) जीव रक्षार्थ, (५) तप करने के लिए, (६) समतापूर्वक जीवन त्यागार्थ; (इ) साधु का एषणीय आहार (१) बहुगृहग्रहीत भोजन, (२) परकृत भोजन, (३) अवशिष्ट भोजन, (४) अक्रीत भोजन, (५) अनियन्त्रित भोजन, (६) नीरस तथा परिमित भोजन; (उ) भिक्षाचर्या—भिक्षा के लिए कब जाए? कैसे चले? कैसी भिक्षा ग्राह्य है? आहार कैसे करना चाहिए? साधु का भोजन परिमाण, साधु का भोजन समय, (अ) बैठने की विधि, (ब) खड़ा रहने की विधि, (स) वाक—शुद्धि; (२) विशेष साध्वाचार: (अ) परीषहजय, (आ) सल्लेखना—(१) सल्लेखना आत्महनन नहीं, (२) सल्लेखना के भेद (क) भक्त प्रत्याख्यान, (ख) इंगिनीमरण, (ग) पादोपगमन, (३) सल्लेखना की अवधि, (४) सल्लेखना की विधि, (५) सल्लेखना के अतिचार (क) जीविताशंसा, (ख) मरणाशंसा, (ग) भय, (घ) मित्रस्मृति, (ङ) निदान; पांच अशुभ भावनाएं, (क) कन्दर्पभावना, (ख) अभियोग भावना, (ग) कित्त्वषिकी भावना, (घ) मोहभावना, (ङ) आसुरी भावना; (६) सल्लेखना का फल ।

(छ) साधु की ३१ उपमाएं — (१) कांस्य पात्र, २—शंख, ३—कच्छप, ४—स्वर्ण, (५) कमलपत्र, (६) चन्द्र, (७) सूर्य, (८) सुमेरु, (९) सागर, (१०) पृथ्वी, (११) भस्माच्छन्न अग्नि, (१२) घृतसिक्त अग्नि, (१३) गोशीर्षचन्दन, (१४) जलाशय, (१५) दर्पण, (१६) गन्ध हस्ती, (१७) वृषभ, (१८) सिंह, (१९) शारदजल, (२०) भारण्ड पक्षी, (२१) गेंडा, (२२) स्थाणु, (२३) शून्यगृह, (२४) दीपक, (२५) क्षुरधारा, (२६) सर्प, (२७) पक्षी,

(२८) आकाश, (२९) पन्नग, (३०) वायु
(३१) जीव गति ।

(अ) साधु — प्रशंसा एवं उसकी पूजा का फल

उपसंहार :: २५०-२५२

सहायक ग्रन्थ सूची :: २५३-२६५

मंगल स्मरण

अरिहन्तो भगवन्त इन्द्र-महिताः
सिद्धाश्च सिद्धि-स्थिताः

आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः,
पूज्या उपाध्यायकाः ।।

श्रीसिद्धान्त-सुपाठका मुनिवराः,
रत्न - त्रयाराधकाः ।

पंचैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं,
कुर्वन्तु नो मंगलम् ।।

अमृत कलश, पृ०६७

प्रथम परिच्छेद विषय-प्रवेश

वैदिक ऋचाओं में आगत कतिपय अर्हत्, वृषभ, केशी एवं वातरशना आदि शब्दों का उल्लेख, मोहनजोदड़ों तथा हड़प्पा के उत्खनन में प्राप्त वैराग्य—भावपूर्ण मूर्तियां तथा श्रीमद्भागवत में उपलब्ध नाभिनन्दन ऋषभ के कतिपय सन्दर्भ जैनधर्म की प्राचीनता एवं उसकी अक्षय गरिमा सिद्ध करते हैं। निःसन्देह करोड़ों—करोड़ों वर्ष पूर्व उत्पन्न अन्तिम कुलकर नाभिराज के पुत्र और जिनके प्रथम चक्रवर्ती पुत्र भरत के नाम पर इस आर्य खण्ड का नाम भारत पड़ा, ऐसे जगत् के लिए आराध्य एवं पूज्य तीर्थङ्कर ऋषभनाथ जैन धर्म के आद्य धर्मप्रवर्तक हैं। इतना ही नहीं, इन तीर्थकर आदिनाथ ऋषभनाथ के पश्चात् अजित, सम्भव, अभिनन्दन, शांति कुन्धु एवं पार्श्वनाथ आदि महावीरपर्यन्त और अन्य तेईस तीर्थकर हुए हैं जिन्होंने इस वसुन्धरा को अपनी अमृतवाक्जल की वर्षा से धर्मवृक्ष को सदैव सिञ्चित, पुष्पित एवं विकसित किया है। आज हम अन्तिम चौबीसवें तीर्थकर भगवान् महावीर के धर्मतीर्थ में विचरण कर रहे हैं।

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥

यह नमस्कार—मन्त्र परममन्त्र, परम—रहस्य, सर्वश्रेष्ठ तत्त्व, शुद्धविशुद्ध एवं सर्वोत्कृष्ट ज्ञान तथा स्वाध्याय करने योग्य उत्तम मन्त्र विशेष है —

ऐसो परमो मंतो, परमरहस्सं परंपरं तत्तं ।
नाणं परमं नेयं, सुद्धं ज्ञाणं परं ज्ञेयं ॥^१

इसी से इस नमस्कार महामन्त्र में जैनों की अपरिमित श्रद्धा है। यह जैनदर्शन में अनादि मूलमन्त्र के रूप में स्वीकार किया गया है ओं ही अनादि मूलमन्त्रेभ्यो नमः। वे इसमें ही निहित आराध्य देव विशदात्मा, परमेष्ठी, तीर्थकरों की प्रतिक्षण भक्ति—भावपूर्ण अर्चा एवं पूजा करते हुए अपने जीवन को धन्य मानते हैं।

यह नमस्कार महामन्त्र जीवमात्र का कल्याण करने वाला तथा सिद्धि प्रदाता है । इसके ध्यान मात्र करने से ही सत्त्व सब पापों से छूट जाता है—
ध्यायेत्पञ्च नमस्कारं सर्वपापैः प्रमुच्यते ।

सत्त्व जिस किसी भी अवस्था में क्यों न हो, चाहे वह पवित्र हो अथवा अपवित्र, इस महामन्त्र के स्मरण करते ही वह बाह्य और आभ्यन्तर दोनों ही ओर से पवित्र हो जाता है । यह अपराजित महामन्त्र है, सम्पूर्ण विघ्नों का विनाशक, पापों का प्रणाशक तथा सब मंगलों में प्रथम मंगल है । 'अर्हम्' ये अक्षर परब्रह्म परमेष्ठी के वाचक हैं और सिद्धसमूह के सुन्दर बीजाक्षररूप हैं । मैं उन्हें सब प्रकार से नमस्कार करता हूँ, जो अष्टकर्मों से मुक्त करने वाला, मोक्षलक्ष्मी का निकेतन, सम्यक्त्व आदि गुणों से युक्त, विघ्न—समूह और भूत—पिशाच तथा पन्नग अर्थात् सर्प आदि के विष को नष्ट करने वाला है —

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ।
यः स्मरेत्परमात्मानं स बाह्याभ्यन्तरे शुचिः ॥
अपराजितमन्त्रो ऽयं सर्वविघ्नविनाशनः ।
मङ्गलेषु च सर्वेषु प्रथमं मङ्गलं मतः ॥
ऐसो पञ्च णमोयारो सव्वपावप्पणासणो ।
मङ्गलाणं च सव्वेसिं पढमं होइ मङ्गलं ॥
अर्हमित्यक्षरं ब्रह्मवाचकं परमेष्ठिनः ।
सिद्धचक्रस्य सद्वीजं सर्वतः प्रणमाम्यहम् ॥
कर्माष्टक-विनिर्मुक्तं मोक्षलक्ष्मीनिकेतनम् ।
सम्यक्त्वादि-गुणोपेतं सिद्धचक्रं नमाम्यहम् ॥
विघ्नौघाः प्रलयं यान्ति शाकिनी-भूत-पन्नगाः ।
विषं निर्विषतां याति स्तूयमाने जिनेश्वरे ॥ १

ऐसे ही महामन्त्र की महत्ता का आकलन करते हुए आचार्य जिनसे कहते हैं कि जो योगिराज इस मन्त्र का ध्यान करते हैं, वे ब्रह्मतत्त्व को जान लेते हैं । अतः यह पञ्चब्रह्ममय मन्त्र है ।

पञ्चब्रह्ममयैर्मन्त्रैः सकलीकृत्य निष्कलम् ।

परं तत्त्वमनुध्यायन् योगी स्याद् ब्रह्मवित् ॥ १२

इस जगत् के कोटि—कोटि सत्त्वों ने इस सार्वभौम, त्रिकालवित् महामन्त्र का जाप कर अपनी लक्ष्यसिद्धि की है । भव्य जीव इस मन्त्र के प्रभाव से दशों दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ नियम से मुक्तिलाभ करता है । यह नमस्कारमन्त्र अमोघशस्त्र एवं कवच है, परकोटे की रक्षा के लिए खाई है

१. 'ज्ञान० पू०, नित्य—पूजा, श्लो० २—७

२. महापुराण, २१. २३६

और उच्चकोटि का रक्षक, भवन, ज्योति, बिन्दु एवं तारा है ।

जो इस मन्त्र का सहज भाव से भी उच्चारणमात्र कर लेता है, उस सत्त्व को अगम अगोचर वस्तु की उपलब्धि हो जाती है । इसी अदृष्ट से वह सत्त्व उसमें अक्षय श्रद्धा रखता हुआ सदैव अपना अभ्युदय करता है । इस तरह जिस किसी ने भी इस मन्त्र को जिस किसी भी रूप में देखा, समझा अथवा अपनाया उसे उसी रूप में उस-उस लक्ष्य की प्राप्ति हुई है । इसी से इसे मन्त्रों का मन्त्र महामन्त्र बतलाया गया है ।

उपर्युक्त मंगल महामन्त्र में— अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु इन पांच परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है । यहां यह परमेष्ठी पद ध्यान देने योग्य है ।

परमेष्ठी पद की निरुक्ति :

‘परमेष्ठी’ इस पद में परम+इष्टिन् ऐसे ये दो पद हैं । विद्वानों ने परमेष्ठी शब्द का अर्थ ‘ब्रह्म—शिव—विष्णु की उपाधि तथा आध्यात्मिक गुरु’ किया है ।^१ परमेष्ठी का एक सरल अर्थ यह भी निलकता है कि ‘जो श्रेष्ठ अथवा सर्वोच्च स्थान में विद्यमान हो ’ वह परमेष्ठी है ।^२ जैन प्राचीन कोश अभिधानराजेन्द्र में परमेष्ठी का अर्थ ‘ब्रह्म’ किया है^३ और ब्रह्म का अर्थ आत्मा भी किया जाता है । इसका अभिप्राय यह है कि परमे ब्रह्मणि आत्मनि तिष्ठति रमते वा इति परमेष्ठी अर्थात् जो परम ब्रह्म अथवा आत्मा में स्थिर रहता है, रमण करता है वह परमेष्ठी है ।

ये परमेष्ठी पवित्रात्मा, परमात्मा, परमगति,^४ सुख एवं ज्ञान की प्रतिष्ठा एवं शरण, आनन्द रूप हिंसा आदि का मन्थन करने से प्रशान्तचित्त^५ और पद—पद पर स्थित होने से ही परमेष्ठी कहे जाते हैं ।^६ इन्हीं परमेष्ठी को सर्वदर्शी, विमुक्तात्मा, सर्वज्ञ,^७ अमृतांश एवं सर्वतोमुख^८ आदि नामों से पुकारा गया है । विष्णुसहस्रनाम में विष्णु को परमेष्ठी बतलाया गया

१. दे०—(आप्टे) संस्कृत—हिन्दी कोश, पृ० ५७७

२. (मोनियर विलियम), संस्कृत—इंगलिश डिक्शनरी, पृ० ५८८

३. अभिधानराजेन्द्रकोष, भाग—५, पृ० ५४२

४. पूतात्मा परमात्मा मुक्तानां परमा गतिः । विष्णु०, श्लोक० १५

५. प्रतिष्ठा च सुखं ज्ञानं भवेत् शरणमित्यतः ।

परमानन्दरूपत्वात् शर्म हिंसादिमन्थनात् ।।

वही, निरुक्तिकारिकावलि, ७०

६. पदे पदे स्थितत्वाच्च परमेष्ठी प्रकीर्तितः । वही, ३१४

७. सर्वदर्शी विमुक्तात्मा सर्वज्ञो ज्ञानमुत्तमम् । विष्णु० श्लो० ६१

८. अमृतांशोऽमृतवपुः सर्वज्ञः सर्वतोमुखः । वही, श्लो. १००

हैं ।^१ किन्तु जैन वीतरागी को ही परमेष्ठी मानते हैं । कतिपय जैनाचार्यों ने हजार नामों (सहस्रनाम) से इन परमेष्ठियों की स्तुति की है जिनमें जिनसेन^२ हेमचन्द्र^३, भट्टारक सकलकीर्ति^४ और पं० आशाधर^५ प्रमुख हैं ।

परमेष्ठी की व्याख्या :

पं० आशाधर परमेष्ठी शब्द की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि जो इन्द्र, धरणेन्द्र, नरेन्द्र, गणेन्द्र आदि के द्वारा वन्दनीय, परम उत्कृष्ट स्थान पर विराजमान हैं, वे परमेष्ठी हैं- परमे उत्कृष्टे इन्द्र-धरणेन्द्र-नरेन्द्र गणेन्द्रादिवन्दिते पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी ।^६

आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि में परमेष्ठी वह है 'जो मलरहित, अनिन्द्रिय, केवलज्ञानी, विशुद्धात्मा, परमजिन और शिवङ्कर है —

मलरहिओ कलचत्तो अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा ।

परमेट्ठी परमजिणो सिवङ्करो सासओ सिद्धो ॥^७

यहां मलरहित का तात्पर्य है— अठारह दोषों से रहित होना । परमेष्ठी का सबसे बड़ा गुण ही यह है कि उसमें अठारह दोषों का अभाव होता है । इसी को आचार्य समन्तभद्र ने 'प्रदोषभुक्'^८ और आचार्य पूज्यपाद ने 'निर्मलः केवलः शुद्धः' कहकर अभिव्यक्त किया है । साथ ही साथ आचार्य पूज्यपाद परमेष्ठी को प्रभु स्वयंभु, अव्यय आदि शब्दों से भी सम्बोधित करते हैं —

निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः ।

परमेष्ठी परमात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥^९

इस तरह जैन परम्परा में परमेष्ठी का सर्वोपरि महत्व है । वे ही सभी को परम आदरणीय एवं उपासनीय हैं । आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं कि पञ्चमरमेष्ठी लोकोत्तम हैं, वीर हैं, नर, सुर तथा विद्याधरों से पूज्य हैं । संसार के दुःखामिभूत

१. ऋतुः सुदर्शनः कालः परमेष्ठी परिग्रहः । विष्णु० श्लो० ५८

२. दे०—जिनसहस्रनाम, पृ० ४६—५०

३. वही, पृ० ५३—५६

४. वहीं, पृ० ५०—५३

५. वही, पृ० ४२—४६

६. वही, २. २३ स्वोपज्ञवृत्ति

७. मोक्षपाहुड, गा० ६

८. क्षुत्पिपासा—जरातंक—जन्माऽन्तक—भय—स्मयाः ।

न राग—द्वेष—मोहाश्च यस्याप्तः सः प्रकीर्त्यते प्रदोषभुक् ॥

समीचीन धर्मशास्त्र, १. ६

९. समाधितन्त्र, ६

प्राणियों के लिए वे ही एकमात्र शरण हैं । उनका स्वभाव मंगल रूप है, इनकी भक्ति करने वाला जीव अष्टकर्मों को नष्ट करके संसारचक्र से छूट जाता है तथा उसे अतुल सुख एवं सम्मान की प्राप्ति होती है —

झायहि पंचवि गुरवे मंगलचउसरणलोयपरियरिए ।

णरसुरखेयरमहिए आराहणायगे वीरे ।।^१

स्वामी समन्तमद्र बतलाते हैं कि पञ्चपरमेष्ठी की भक्ति से सम्यग्दर्शन की उपलब्धि होती है और इसी से मोक्ष की प्राप्ति भी होती है ।^२ आचार्य विद्यानन्दि का भी यही अभिमत है कि परमेष्ठी के प्रसाद से मोक्षलाभ होता है ।^३

आचार्य शिवार्य कहते हैं कि जो पुरुष पंचपरमेष्ठी की भक्ति नहीं करता उसका संयम धारण करना ऊसर खेत में बीज बोने के समान निरर्थक है । पंचपरमेष्ठी की भक्ति के बिना यदि कोई अपनी आराधना करना भी चाहता है तब भी वह वैसा ही है जैसे कि बीज के बिना धान्य की और बादल के बिना जल की इच्छा करना ।^४ आगे इन्होंने ग्लानिरहित भाव से पंचपरमेष्ठी की भक्ति के लिए प्रेरित करते हुए कहा है कि 'संसार के भय से उत्पन्न हुए मिथ्यात्व, माया और निदान शक्तियों से रहित तथा सुमेरु की भांति निश्चल जिन भक्ति जिसकी है, उसे संसार का भय नहीं है । अतः संसारी जीव को एक मात्र जिनभक्ति ही दुर्गति से बचाने में, पुण्यकर्मों को पूर्ण करने में और मोक्षपर्यन्त सुखों को देने में समर्थ है । ऐसे ही भक्त को विद्या भी सिद्ध और सफल होती है । जो अरहन्त आदि में भक्ति नहीं करता उसको मोक्षबीज रूप रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र की उपलब्धि भी नहीं होती ।^५

आप्त-परमेष्ठी-शास्ता

स्वामी समन्तमद्र की दृष्टि में परमेष्ठी ही आप्त हैं और सर्वज्ञाता भी वही हैं क्योंकि आप्त निश्चय से वही हो सकता है जिसके समस्त दोष उच्छिन्न हो गए हैं और समस्त विषयों में जिसे पूर्णतः परिस्फुट परिज्ञान प्राप्त है तथा

१. भावपाहुड, गा०, १२२

२. सम्यग्दर्शनशुद्धः संसार—सरीर—भोग—निर्विण्णः ।
पंचगुरु—चरण—शरणो दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः ।। समीचीन धर्मशास्त्र,
७.१२

३. श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः । आप्तपरीक्षा, गा० २

४. तेषां आराधणायगाण ण करिज्ज जो णरो भत्ति ।

'धत्तिं पि संजमं तो सालि' सो ऊसरे ववदि ।।

वीएण विणा सस्सं, इच्छदि सो वासमब्भएण विणा ।

आराधणमिच्छंतो, आराधणभत्तिमकरंतो ।। भग० आ०, गा० ७४८—४९

५. दे०—वही, गा० ७४३—४७

जो भव्य जीवों को हेय—उपादेय तत्त्वज्ञान हेतुभूत आगम ग्रन्थों का प्रणयन (रचना) करते हैं —

आप्तेनोत्तिस्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना ।

भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥^१

आगे भी कहा गया है कि यही आप्त परमेष्ठी, परंज्योति, विराग, विमल, कृती, सर्वज्ञ, अनादिमध्यान्त, सार्व और शास्ता रूप से प्रतिपादित होते हैं —

परमेष्ठी परमज्योतिर्विरागो विमलः कृती ।

सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः सार्वः शास्तोपलाल्यते ॥^२

इसका अभिप्राय है कि जो भव्य सत्त्व इन्द्रादि के द्वारा वन्दनीय परम पद में स्थित है वही परमेष्ठी है और जो आवरणरहित केवलज्ञान से संयुक्त है, वह परंज्योति कहलाता है । इनके रागरूप भावकर्म के नष्ट हो जाने से इन्हें ही विराग और यही मूलोत्तर प्रकृतिरूप द्रव्यकर्म के नष्ट हो जाने से विमल, समस्त हेय तथा उपादेय तत्त्वों के विषय में विवेक सम्पन्न होने से कृती, समस्त पदार्थों के साक्षात्कारी होने से सर्वज्ञ और पूर्वोक्त स्वरूप प्राप्त प्रवाह की अपेक्षा आदि, मध्य और अन्त से शून्य होने से अनादिमध्यान्त, इहलोक और परलोक के उपकारक मार्गदर्शक होने से हितैषी (सार्व) और पूर्वापर विरोध आदि दोषों के परिहार से समस्त पदार्थों के यथावत् स्वरूप का उपदेश देने वाले होने से वही आप्त परमेष्ठी शास्ता कहे जाते हैं ।^३

लोक में जिस प्रकार दिन के बाद रात और फिर रात के बाद दिन का प्रादुर्भाव नियम से होता है, उसी प्रकार सुख के बाद दुःख और फिर दुःख के बाद सुख भी नियम से चक्र के समान होता ही रहता है^४ किन्तु यह लौकिक

१. रत्नक० १.५, ६

२. रत्नक० १. ७

३. परमे इन्द्रादीनां वन्द्ये पदे तिष्ठतीति 'परमेष्ठी' । परं निरावरणं परमातिशयप्राप्त ज्योतिर्ज्ञानं यस्यासौ 'परमज्योतिः' । 'विरागः' विगतो रागो भावकर्म यस्य । 'विमलो' विनष्टो मलो द्रव्यरूपो मूलोत्तरकर्मप—कृतिप्रपञ्चो यस्य । 'कृती' निःशेषहेयोपादेयतत्त्वे विवेकसम्पन्नः । 'सर्वज्ञो' यथावन्निखिलार्थसाक्षात्कारी । 'अनादिमध्यान्तः' उक्तस्वरूपप्राप्तप प्रवाहापेक्षया आदिमध्यान्तशून्यः । 'सार्वः' इहपरलोकोपकारकमार्गप्रदर्शक—त्वेन सर्वभ्यो हितः । 'शास्ता' पूर्वापरविरोधादिदोषपरिहारेणाखिलार्थानां यथावत्स्वरूपोपदेशकः । वही, १. ७ टीका

४. सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखकस्यानन्तरं सुखम् ।

द्वयमेतद्धि जन्तूनामलंघ्यं दिन—रात्रिवत् ॥

आत्मानुशासन, प्रस्तावना, पृ० ३६ पर उद्धृत

सुख विषय जनित सुख से भिन्न नहीं है । विषय तृष्णारूप अग्नि की ज्वाला हैं जो सत्त्व को निरन्तर जला रहे हैं, इनकी शान्ति अभीष्ट इन्द्रिय विषयों की आहुति से असम्भव है । इससे तो उनकी उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती है कारण कि जैसे-जैसे ये विषय भोग उपलब्ध होते रहते हैं वैसे-वैसे ही प्राक्कृत-तद्विषयक इच्छा भी घी की आहुतियों से अग्नि के समान उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है । इच्छित विषय किञ्चित् काल केवल शरीर के सन्ताप को तो दूर कर सकते हैं किन्तु वे उन तृष्णा ज्वालाओं को कभी शान्त नहीं कर सकते हैं । इसी कारण आप्त परमेष्ठी जिनेन्द्र उस विषयजनित सुख से विमुक्त होते हुए स्वाधीन सुखोपलब्धि के लिए चक्रवर्ती की विभूति को भी तुच्छ तृण के समान छोड़ देते हैं —

तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासा
मिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव ।
स्थित्यैव कायपरितापहरं निमित्त -
मित्यात्मवान् विषयसौख्यपराङ्मुखोऽभूत् ॥^१

मानव-शरीर समस्त परम्परा का मूल है, कारण कि यही प्रारम्भ में उत्पन्न होता है, उसमें दुष्ट इन्द्रियां होती हैं जो विषयों की अपेक्षा करती हैं और ये विषय ही सत्त्व को मान-हानि, प्रयास, पाप एवं दुर्गति के प्रदाता होते हैं । जैसे कि कहा भी गया है —

बन्धाद्देहोऽत्र करणान्येतेष्व विषयग्रहः ।
बन्धश्च पुनरेवातस्तदेनं संहराम्यहम् ॥^२

अभिप्राय यह है कि संसारी जीव अशुद्ध परिणामों से संयुक्त होकर नवीन कर्मबन्ध करता है जिससे उसका नरक आदि गतियों में गमन होता है । गति-प्राप्त सत्त्व को ही शरीर होता है, शरीर से सम्बद्ध इन्द्रियां होती हैं, इनके ही द्वारा विषय का ग्रहण होता है, तब फिर उसमें राग एवं द्वेष भाव उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार चक्रवत् संसारूप समुद्र में परिभ्रमण करने वाले इस संसारी जीव की यही अवस्था है ।

यह संसार परिभ्रमण अभव्य जीव का अनादि-अनिधन तथा भव्य जीव का अनादि-सान्त होता है । आचार्य कुन्दकुन्द ने भाव प्राभृत में बाहुवली का उदाहरण देते हुए बतलाया है कि शरीर को आदि लेकर समस्त परिग्रह का त्याग करके भी मानकषाय से कलुषित बाहुवली को कितने ही काल तक आतापन योग से स्थित रहना पड़ा था (अर्थात् कायोत्सर्ग में स्थित रहते हुए भी उन्हें एक वर्ष तक मुक्ति प्राप्त नहीं हुई थी) —

१. स्वयम्भूस्तोत्र, १७.२

२. सागारधर्मावृत, ६. ३१

देहादिद्यत्तसंगो माणकसाएण कलुसिओ धीर ।

अत्तावणेण जादो बाहुबली कित्तियकालं ॥^१

इसलिए आचार्य कहते हैं कि समम अर्थात् शरीर एवं अन्य बाह्य पदार्थों में ममत्व बुद्धि रखने वाला, सत्त्व कर्मबन्ध को प्राप्त होता है और इससे विपरीत निर्मम अर्थात् 'यहां मेरा कुछ भी नहीं है' और न ही 'मैं किसी का हूं' इस प्रकार की ममत्व बुद्धि से विरहित भव्य आत्मा मुक्तिलाभ पाता है । अतएव सत्त्व को उस निर्ममत्व अकिञ्चनत्व भाव का सदैव चिन्तन करना चाहिए —

बद्धयते मुख्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात् ।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत् ॥^२

निर्ममत्व चिन्तन में लीन सत्त्व आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करता है और स्वयं योगिगम्य रहस्य परमात्मत्व को धारण कर लेता है —

अंकिचनोऽहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः ।

योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ॥^३

जो विवेकी अन्तरात्मा शरीर से भिन्न आत्मा को ही अपना मानता है वह इस भौतिक देहोपाधि से रहित (= विदेह) हो जाता है अर्थात् शरीर को छोड़कर वह स्वयं परमात्मा बन जाता है —

देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना ।

बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥^४

कल्याण मन्दिर स्तोत्र में भी ऐसे ही भाव का चिन्तन किया गया है कि 'जिस प्रकार स्वर्ण—पाषाण तीव्र अग्नि के संयोग से पाषाण स्वरूप को छोड़कर कान्तिमान् शुद्ध स्वर्ण की अवस्था को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार तपश्चरण करने से भव्य सत्त्व भी शीघ्र ही उस सप्तधातुमय शरीर का परित्याग कर परमात्म अवस्था को पा लेता है —

ध्यानाज्जिनेश भवतो भविनः क्षणेन

देहं विहाय परमात्म-दशां व्रजन्ति ।

तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके

चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः ॥^५

१. भावपाहुड, गा० ४४

२. इष्टोपदेश, श्लो० २६

३. आत्मानुशासन, श्लो० ११०

४. समाधितन्त्र, ७४

५. ज्ञान० पू०, कल्याणमन्दिरस्तोत्र, १५

आत्मा के परमात्मत्व की प्राप्ति में अन्य कोई सहायक नहीं होता । जिस प्रकार वृक्ष स्वयं घर्षित होकर अग्निस्वरूप परिणत हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी स्वयं ही अपनी उपासना कर परमात्मा बन जाता है—

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा ।

मथित्वात्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः ॥^१

वस्तुतः जन्म रहित (= अनादि), अविनश्वर (= अनिधन), अमूर्त (= रूप, रस आदि से रहित), शुभाशुभ भावों का कर्त्ता अर्थात् आत्मपरिणमन का कर्त्ता, आत्मकृत कर्मों के फल का भोक्ता, सुखस्वरूप, ज्ञानमय और प्राप्त शरीर के बराबर आत्मा, कर्ममल से रहित होकर स्वभावतः ऊपर चला जाता है, ऊर्ध्वगमन करता है और सर्वशक्तिमान् रूप में वहीं स्थिर हो जाता है —

अजातोऽनश्वरोऽमूर्तः कर्त्ता भोक्ता, सुखी बुधः ।

देहमात्रो मलैर्मुक्तो गत्वोर्ध्वमचलः प्रभुः ॥^२

जैसे—जैसे ज्ञान में उत्तम, विशद आत्मत्व आता जाता है वैसे ही वैसे सहज प्राप्त विषय—भोग भी अच्छे नहीं लगते । जैसे—जैसे पुण्य से मिले हुए सुलभ इन्द्रिय विषय आत्मा को रुचिकर नहीं होते वैसे वैसे ही अपनी ज्ञानधारा में श्रेष्ठ विशद आत्मा का स्वरूप प्रतिभाषित होने लगता है । आत्मस्वादी सत्त्व की रुचि आत्मा की ओर ही लगी रहती है और वह अपने को भूल जाता है । अपना आत्मा ही अपना है, वही नाथ = स्वामी है,^३ इसके सिवाय कुछ भी नहीं है । इस प्रकार के आत्मचिन्तन में अपूर्व परमानन्द उत्पन्न होता है और वह परमानन्दस्वरूप आत्मब्रह्म ही परमेष्ठी है ।

महामन्त्र नमस्कार अनादि नहीं :

नमस्कार—महामन्त्र का जो अतिप्राचीन रूप उपलब्ध होता है उसमें 'नमो अरहंतानं (१) नमो सवसिद्धानं (१)^४ ये दो ही पद मिलते हैं । अतः यहां यह विचारणीय है कि क्या संक्षेप में परमेष्ठी की गणना दो पदों में ही की जाती थी अथवा पांच पदों में ।

जैन नमस्कार—महामन्त्र को अनादिनिधन मानते हैं ^५परन्तु यह श्रद्धा का अतिरेक ही प्रतीत होता है । तात्त्विक दृष्टि से जिसे भी चाहें अनादि बतलाया

१. आराधनासार, पृ० (१४२) पर उद्धृत

२. आत्मानुशासन, श्लो० २६६,

३. ऐसे ही विचार बौद्ध दर्शन में भी मिलते हैं दे. धम्मपद, गा० १६०

४. दे०— खारवेल प्रशस्ति, हाथी गुंफा—अभिलेख, प्रथम पंक्ति

५. अनादिमूलमन्त्रोऽयं सर्वविघ्नविनाशनः ।

मंगलेषु च सर्वेषु प्रथमं मंगलं मतः ॥

मंगलमन्त्रणमोकारः एक अनुचिन्तन, पृ० ६३ पर उद्धृत

जा सकता है । इस दृष्टि से द्वादशाङ्ग गणिपिटक भी अनादि है परन्तु भाषा की दृष्टि से द्वादशाङ्ग को भी अनादि नहीं कहा जा सकता, तब जो द्वादशाङ्ग गणिपिटक में बतलाया गया है वह नमस्कार—महामन्त्र अनादि कैसे ?

जैन आचार्यों ने वेदों की अपौरुषेयता का खण्डन करते हुए बतलाया है कि कोई भी शब्दों पर आधारित ग्रन्थ अपौरुषेय नहीं हो सकता । जो भी वाङ्मय है वह सब मनुष्य के प्रयत्नसाध्य है और जो प्रयत्नसाध्य होता है वह अनादि नहीं हो सकता । नमस्कार—मन्त्र भी वाङ्मय का एक अंश है । अतः वह अनादि नहीं माना जा सकता ।

परमेष्ठी एक अथवा पाँच :

नमस्कार—महामन्त्र जिस रूप में हमें प्राप्त होता है वह उसी रूप में भगवान् महावीर के समय तथा उससे भी पूर्व पार्श्वनाथ आदि तीर्थकरों के समय उपलब्ध था अथवा नहीं, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है, फिर भी इस सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता कि भगवान् महावीर के समय में 'णमो सिद्धाणं' यह पद तो अवश्य ही प्रचलित था, कारण कि जब भगवान् महावीर स्वामी दीक्षित हुए तब उन्होंने स्वयं सिद्धों को नमस्कार किया था ।^१

पञ्च परमेष्ठी :

आवश्यकनिर्युक्ति में 'पञ्च—परमेष्ठियों को नमस्कार कर सामायिक करनी चाहिए' इस पर बल दिया गया है ।^२ इससे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि आवश्यकसूत्र की रचना के समय परमेष्ठी पाँच मान लिए गए होंगे । दूसरे, भगवान् महावीर के समय में आचार्य और उपाध्याय की व्यवस्था दृष्टिगोचर नहीं होती किन्तु जब से आचार्य, उपाध्याय एवं साधु का महत्त्व बढ़ गया तभी से उन्हें भी नमस्कार—मन्त्र में स्वतन्त्र स्थान दे दिया गया । इस तरह परमेष्ठी पाँच ही सिद्ध होते हैं ।

अरहन्त के प्रतिनिधि आचार्य और उपाध्याय :

परमेष्ठी शब्द अरहन्त का वाचक है । यह पूर्व व्याख्यान में स्पष्ट हो गया है और अरहन्त की परिणति सिद्ध रूप में होती है । अतः अरहन्त और सिद्ध ये दो परमेष्ठी तो स्वयं ही सिद्ध हैं परन्तु यहां यह प्रश्न विचारणीय है कि आचार्य, उपाध्याय और साधु को परमेष्ठी क्यों मान लिया गया ?

यहां जैनों का स्पष्ट कथन है कि आचार्य और उपाध्याय अरहन्तों के प्रतिनिधि हैं । अरहन्तों की अनुपस्थिति में उनका कार्य आचार्य और उपाध्याय

१. सिद्धाणं णमोक्कारं करेइ । आयारचूला, १५, ३२

२. कयपंचनमोक्कारो करेइ सामाईयंति सोऽभिहितो । । आ० नि०, गा० १० २७

ही करते हैं । इस दृष्टि से वे परम पूजनीय बन जाते हैं । अतः एव ये दोनों भी परमेष्ठी मान लिये गये । इस तरह अरहन्त, सिद्ध, आचार्य एवं उपाध्याय ये चार परमेष्ठी हुए ।

परमेष्ठी का स्वरूप साधुत्व :

ठीक है अरहन्त और सिद्ध के इलावा आचार्य और उपाध्याय भी परम पूज्य, आदरणीय और अर्चनीय हैं किन्तु चित्त में पुनः यह प्रश्न खटकता है कि साधु को उक्त पञ्च परमेष्ठियों में स्थान क्यों दिया गया ? साधु तो साधु हैं, वे आचार्य, उपाध्याय की तरह पूज्य कैसे हो सकते हैं ?

जैन आचार्य इसका भी समाधान करते हुए कहते हैं कि चाहे अरहन्त हो अथवा आचार्य अथवा उपाध्याय । ये सब पहले साधु हैं और बाद में अन्य कुछ । वास्तव में साधु ही परमेष्ठी का स्वरूप है । श्रीमद्भगवद्गीता की टीका में एक श्लोक आता है जिसमें कहा गया है कि सारा संसार स्त्री और काञ्चन के चक्कर में घूम रहा है, जो सत्त्व इनसे विरक्त रहता है, वही दूसरा परमेश्वर है —

कान्ता-काञ्चन-चक्रेषु भ्राम्यति भुवनत्रयम् ।

तासु तेषु विरक्तो यः द्वितीयः परमेश्वरः ॥^१

उपर्युक्त कथनानुसार साधु ही अरहन्त बनने के लिए साधनारत होता है । योग-साधना के चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाने पर ही वह योगावचर परमेष्ठी अथवा परमात्मा बन जाता है । इस तरह यदि हम देखें तो सिद्ध और साधु इन दो पदों में ही पाँचों पद समाविष्ट हो जाते हैं, फिर भी पाँचों ही पद अपने-अपने में स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं । इसलिए जैनधर्म में नमस्कार-महामन्त्र पंच-परमेष्ठी के रूप में ही स्वीकार किया गया है । अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँचों ही समानरूप से अर्चनीय, पूजनीय एवं सम्माननीय हैं ।

पञ्चपरमेष्ठियों का पौर्वापर्यत्व विचार :

परमेष्ठी पांच हैं । इनका क्रम ऐसा ही है अथवा इसमें अन्य कोई विशेष कारण है ? निःसन्देह नमस्कार-महामन्त्र में जिन पांच महापुरुषों को नमस्कार किया गया है । उसमें उक्त क्रम ठीक नहीं है, जैसे कि पहले भी कहा गया है कि सिद्ध अरहन्तों को भी पूज्य होते हैं, वे सिद्धों से ऊपर नहीं । साधना में अरहन्त सिद्धों को ही अपना आराध्य मानते हैं । इसी के बल पर ही वे अरहन्तत्व को भी पाते हैं और फिर वे ही सिद्ध बन जाते हैं । अतः नमस्कार-महामन्त्र में

१. विस्तार के लिए दे०—तीर्थकर (विचार मासिक), आचार्य तुलसी का लेख 'परमेष्ठी वन्दन', पृ० ३७.

पहले सिद्धों को ही नमस्कार किया जाना चाहिए । अभिप्राय यह है कि पूर्वानुक्रम में 'णमो सिद्धाणं, णमो अरहन्ताणं' ऐसा होना चाहिए । यही क्रम यदि पश्चानुपूर्वी रूप में स्वीकार किया जाए तब वह नमस्कार—मन्त्र 'णमो लोए सव्वसाहुणं' से आरम्भ होना चाहिए और उसके अन्त में 'णमो सिद्धाणं' पद आना चाहिए किन्तु यहां ये दोनों ही क्रम समुचित नहीं हैं ।^१

आचार्य भद्रबाहु इसका सम्यग् समाधान करते हुए कहते हैं कि नमस्कार—महामन्त्र का जो पद—क्रम आज प्राप्त है वह पूर्वानुपूर्वी ही है । इसमें क्रम का अतिक्रमण नहीं किया गया है । अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने यह तर्क दिया है कि जो सिद्ध भगवान् हैं वे अरहन्त के उपेक्षित द्वारा ही जाने जाते हैं । अतः वे अरहन्त ही उनके ज्ञापक हैं । इस दृष्टि से अरहन्त ही हमारे अधिक निकट होने से अधिक पूजनीय हैं । अतः नमस्कार—महामन्त्र में अरहन्तों को प्रथम स्थान दिया गया है ।^२

आत्मविकास की दृष्टि से भी यदि देखा जाए तो अरहन्त और सिद्ध में कोई अन्तर ही प्रतीत नहीं होता । इनके आत्मविकास में यदि कोई बाधक है तो वे हैं— ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और मोहनीय ये चार घातिया कर्म, जिनके विशेष क्षय होने पर आत्मा पूर्णरूप से स्वस्वरूप में परिणत हो जाता है । विकास का अंशमात्र भी कम नहीं रह जाता । वह केवलज्ञान प्रभास्वर होता है । एकमात्र भवोपग्राही कर्म के शेष रहने से अरहन्त शरीर को धारण किए रहते हैं और संसारियों को भवचक्र से छूटने का सद्गुपदेश देते हैं । इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि सिद्ध अरहन्त से श्रेष्ठ है । यहां निश्चय दृष्टि से तो छोटे—बड़े का कोई प्रश्न नहीं उठता । यह प्रश्न केवल व्यावहारिक है । व्यवहार दृष्टि से अरहन्त सर्वोच्च हैं । इसी से उन्हें प्रथम स्थान पर रखना समुचित है ।

अरहन्त तीर्थंकर ही धर्म के आदिकर होते हैं । वे ही समस्त प्रजा को मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करते हैं, प्राणीमात्र को उसे पाने की प्रेरणा वे ही देते हैं । वे ही धर्म का स्रोत हैं । धर्म में निष्णात होकर वे ही सिद्ध हो जाते हैं । इस तरह व्यवहार के धरातल पर जितना महत्त्व अरहन्त का है, उतना सिद्ध का नहीं ।

सिद्ध के ज्ञापक अरहन्त :

अरहन्त सिद्ध के ज्ञापक हैं, इसलिए उन्हें प्रथम स्थान दिया गया है । कोई यहां प्रश्न कर सकता है कि फिर तो आचार्य अरहन्त के भी ज्ञापक होते हैं । अतः नमस्कार—मन्त्र में 'णमो आयरियाणं' यह पद सबसे पहले होना

१. पुब्बाणुपुब्बि न कम्मोनिव य पच्छाणुपुब्बि एस भवे ।

सिद्धाइया पढमा बीआए साहुणो आई ।। आ० नि०, गा० १० २१

२. अरिहंतुवएसेणं सिद्धा नज्जंति तेण अरिहाई ।। वही, गा० १० २२

चाहिए। इसके समाधान से बतलाया गया है कि 'आचार्य तो अरहन्त—परिषद् के पार्षद हैं और कोई भी व्यक्ति परिषद् को प्रणाम कर पुनः राजा को प्रणाम नहीं करता'।^१ दूसरे, अरहन्त और सिद्ध तो तुल्यबल भी हैं, उनमें पौर्वापर्य का विचार किया जा सकता है परन्तु परमनायक अरहन्त और उनकी परिषद्कल्प आचार्य में पौर्वापर्य का विचार नहीं किया जा सकता।

अतः नमस्कार—महामन्त्र में जो परमेष्ठी क्रम है वह समुचित ही है। उसमें किसी भी प्रकार के क्रम का अतिक्रमण नहीं किया गया है।

इस तरह अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पांच परमेष्ठी हमारे इष्ट हैं। ये सभी स्वात्मा में स्थित हैं, स्व के ही परिणति रूप हैं, केवलज्ञान आदि गुणों से युक्त होने तथा समस्त सत्त्वों को सम्बोधित करने में समर्थ होने से यह आत्मा ही अरहन्त है। समस्त कर्मों के क्षयरूप मोक्ष को प्राप्त करने से निश्चय से यही आत्मा सिद्ध है। दीक्षा और शिक्षा को देने वाले होने से, पञ्चाचार के स्वयं आचरण करने तथा दूसरों को आचरण कराने में विचक्षण होने से आत्मा ही आचार्य है। श्रुतज्ञान के उपदेशक, स्व—पर मत के ज्ञाता तथा भव्य जीवों के सम्बोधक होने से यही आत्मा उपाध्याय है और सम्यदर्शन—ज्ञान—चारित्र्य रूप रत्नत्रय के साधक, सम्पूर्ण प्रपञ्चों से रहित, दीक्षा, शिक्षा, यात्रा, प्रतिष्ठा आदि अनेक धर्मकार्यों की निश्चिन्तता से तथा आत्मतत्त्व की साधकता से यह आत्मा ही साधु है। अत एव पञ्चपरमेष्ठी रूप यह आत्मा ही स्पष्ट रूप से अपनी शरण है। इसलिए पञ्चनमस्कार—महामन्त्र का जाप कर प्रत्येक प्राणी को स्व में ही रमण करना चाहिए। आत्मदर्शन अथवा आत्मसाक्षात्कार ही ब्रह्मत्व की और अलौकिक सुख की उपलब्धि है।

नमस्कार-महामन्त्र साम्प्रदायिक नहीं :

नमस्कार—महामन्त्र में जिन पांच परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है उनका सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय विशेष से नहीं है। उस—उस पद की अर्हता को प्राप्त कर लेने वाली भव्य आत्माएँ चाहे किसी भी सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखती हों उन सभी को नमस्कार—महामन्त्र में नमन के योग्य मानकर उस—उस रूप में नमस्कार किया गया है। अतः नमस्कार—महामन्त्र साम्प्रदायिक नहीं सार्वभौमिक है। इन्हीं परमेष्ठियों का विस्तृत सम्यक् निरूपण प्रस्तुत करना प्रकृत प्रबन्ध का अभिधेय है।

१. तथा अर्हत्परिषद् रूपा एवाचार्यादयोऽतस्तान् नमस्कृत्यार्हन्नम—
स्करणमयुक्तम् 'ण य कोइवि परिसाए पणमित्ता पणवए रन्नोत्ति ।' भग०
वृ० पृ० ५, तथा मिलाइये, आ० नि०, गा० १० २२

अरहन्त परमेष्ठी

सार्वः सर्वज्ञनाथः सकल-तुनुभृतां पाप-संताप-हर्ता,
त्रैलोक्याक्रान्त-कीर्तिः क्षत-मदनरिपुर्घातिकर्मप्रणाशः ।
श्रीमान्निर्वाणसंपद्वरयुवतिकरालीढ कण्ठैः सुकण्ठैः
देवेन्द्रैर्वन्द्यपादो जयति जिनपतिः प्राप्तकल्याणपूजः ॥

ज्ञान० पू०, पृ० ३७

द्वितीय परिच्छेद अरहन्त परमेष्ठी

क- भारतीय वाङ्मय एवं अरहन्त :

भारतीय वाङ्मय में अर्हत् शब्द प्राचीनकाल से ही चला आ रहा है । इसके लिए अरहन्त और अरिहन्त आदि शब्दों का बहुलतया प्रयोग मिलता है । जैनों के तो परमाराध्य देव अरहन्त ही हैं । इसी कारण इनके नमस्कार—महामन्त्र में अरहन्तों को सर्वप्रथम नमस्कार किया गया है -- 'णमो अरहन्ताणं, णमो सिद्धाणं, -- ।

प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में भी जैनों की भांति अर्हत् को अधिक महत्त्व दिया गया है । यहां अर्हत्त्व की प्राप्ति ही भिक्षु का अन्तिम लक्ष्य है । अर्हत्त्व का अर्थ 'निर्वाण' भी लिया गया है 'किन्तु महायान बौद्धदर्शन' अर्हत् और श्रावक में भिन्नता करता । इस तरह महायान दर्शन में अर्हत् को उतना महत्त्व नहीं दिया गया है जितना कि थेरवाद बौद्धधर्म में दृष्टिगत होता है ।

महायान दर्शन में सम्यक् सम्बुद्ध को सर्वश्रेष्ठ शास्ता माना गया है । इनकी दृष्टि में यही सर्वज्ञ भी हैं । जैन भी अर्हत् व अरहन्त को ऐसा ही सर्वोच्च महत्त्व देते हैं । इनके अनुसार अरहन्त मोक्षमार्ग के प्रणेता हैं, कर्मरूपी पर्वतों को भेदन करने वाले हैं और सम्पूर्ण विश्व के तत्त्वों के ज्ञाता हैं ।^१ जैन वाङ्मय में इन्हें तीर्थंकर, जगन्नाथ, जिन एवं भगवान् आदि नामों से भी जाना जाता है ।^३

बौद्ध निकाय महापरिनिर्वाण सूत्र में एक प्रसंग आता है जहां भगवान् बुद्ध जैनों की अरहन्तों में भक्ति—भावना की प्रशंसा करते हैं । यहां बुद्ध अपने

१. यो खो आवुसो, रागक्खयो, दोसक्खयो मोहक्खयो -- इदं वुच्चति अरहत्तं । सं० नि०

३. २५२, पृ० २२४;

यो खो, आवुसो, रागक्खयो दोसक्खयो मोहक्खयो, इदं वुच्चति निब्बानं । वही, ३. २५१, पृ० २२३

२. मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।

ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ।।

त० वृ०, मंगलाचरण श्लोक तथा दे० आप्त परीक्षा, कारिका ३

३. तीर्थङ्करो जगन्नाथो जिनोऽर्हन् भगवान् प्रभुः ।

(हर्षकीर्ति) शारदीय नाममाला, ६, उद्धृत अनेकान्त, वर्ष २८, कि० १, पृ० १८

शिष्य आनन्द को सम्बोधित करते हुए पूछते हैं कि क्या आनन्द तुमने सुना है कि 'वैशाली के लोग अरहन्तों में अधिक सद्भावना रखते हैं, उनका सम्मान करते हैं, संरक्षण करते हैं। उनका पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं जिससे उनकी साधना में कोई बाधा न हो तथा आए हुए अरहन्त निर्भय होकर एकान्त विहार करें।' आनन्द भगवान् बुद्ध के इस वचन का अनुमोदन करता है और कहता है कि हे भगवन् ! जैसा आप कह रहे हैं वैसा ही मैंने भी सुना है। तब भगवान् बुद्ध कहते हैं, हे आनन्द, जब तक वज्जीवासी ऐसा करेंगे, पूज्यों के प्रति जब तक उनमें ऐसी भावना रहेगी, जब तक वे उनका वैसा ही सम्मान आदि करते रहेंगे, तब तक उन वैशालीवासियों के ऐश्वर्य आदि का अभ्युदय होता रहेगा उनकी कोई हानि नहीं होगी, वे अजेय ही रहेंगे।^१

उपर्युक्त सन्दर्भ से इतना तो स्वतः सिद्ध हो जाता है कि जैनों में अरहन्तों का क्या स्थान है ? अरहन्त जैनों के लिए ही नहीं, प्रत्युत तीनों लोकों के लिए ही पूज्य हैं।^२ इन वीतरागी पुरुषों के अतिरिक्त जैन अन्य महापुरुषों को भी स्वीकार करते हैं और उन्हें यथोचित सम्मान भी देते हैं। ऐसे महापुरुष जैनों के अनुसार ६३ होते हैं जिन्हें प्राणियों का मंगल करने वाला कहा गया है।^३

(१) त्रिषष्टि महापुरुष :

सर्वप्रथम इन महापुरुषों में —

चौबीस तीर्थंकर आते हैं जिन्हें अरहन्त केवली व सर्वज्ञ भी कहा जाता है।

बारह चक्रवर्ती — भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शान्तिनाथ, कुन्थनाथ, अरनाथ, सुभौम, पद्म, हरिषेण, जयसेन और ब्रह्मदत्त,^४

नौ बलदेव — अचल, विजय, भद्र, सुप्रभ, सुदर्शन, आनन्द, नन्दन, पद्म

१. किन्ति ते, आनन्द, सुतं—वज्जीनं अरहन्तेसु धम्मिकारक्खावरण—गुत्ति सुसंविहिता — किन्ति अनागता च अरहन्तो विजितं आगच्छेयुं आगता च अरहन्तो विजिते फासुं विहरेयुंति। यावकीञ्च, आनन्द, वज्जीनं अरहन्तेसु धम्मिकारक्खावरणगुत्ति सुसंविहिता भविस्सति, किन्ति अनागता च अरहन्तो—पे०—विहरेयुंति, बुद्धि येव आनन्द, वज्जीनं पाटिकड्ढा नो परिहानीति। दी० नि०, भाग—२, महापरिनिव्वाणसुत्त, ३. १. ४

२. भुवनत्रयपूज्योऽहं जिनेन्द्र तव दर्शनात्। ज्ञान० पू० अद्याष्टकस्तोत्रम्, श्लोक १०

३. त्रैकाल्ये प्रथितास्त्रिषष्टिपुरुषाः कुर्वन्तु ते मङ्गलम्।— वही, मङ्गलाष्टकम्, श्लोक ३

४. भरहो यं चक्कवट्टी समईओ संपयं तुमं सगरो।

अवसेसा चक्कहरा, होहिन्ति अणागए काले।।

मघव सणकुमारो, सन्ती कुन्थु अरो सुभूमो य।

पउम हरिसेण नामो जयसेणो बम्भदत्तो य।।— पउम० ५. १५२—५३

और रामचन्द्र; ^१।

नौ वासुदेव — त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयंभू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुण्डरीक, दत्तदेव, नारायण (लक्ष्मण) और कृष्ण, ^२

नौ प्रतिवासुदेव — अश्वग्रीव, तारक, मेरक, मधु, निशुम्भ, बलि, प्रह्लाद, रावण एवं जरासन्ध । ^३ ये सब मिलाकर इस प्रकार ६३ महापुरुष माने गए हैं जिनमें तीर्थंकर प्रमुख हैं ।

अर्हत् शब्द का प्रयोग जैन एवं जैनेत्तर सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में उपलब्ध होता है ।

(२) वैदिक वाङ्मय में अर्हत् :

वैदिक वाङ्मय में अर्हत् अथवा अरहन्त शब्द अनेक स्थानों पर उपलब्ध होता है । यहां यह शब्द पूज्य^४ योग्य, ^५स्तुत्य, ^६एवं सज्जन ^७इत्यादि अर्थों में प्रयुक्त किया गया है । ऋग्वेद में अर्हत् शब्द ही नहीं बल्कि प्रथम तीर्थंकर ऋषभ के भी अनेक उल्लेख आते हैं । एक स्थान पर अरिष्टनेमि से स्वस्ति वाचन पर मंगल की कामना की गई है । ^८

वराहमिहिरसंहिता^९ **योगवासिष्ठ**,^{१०} **वायुपुराण**, ^{११} तथा **ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य** ^{१२} में भी अर्हत् मत का उल्लेख मिलता है । **भागवतपुराण** में भी अर्हत् मत का उल्लेख करते हुए प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को जिन (श्रमणों

१. अयलो विजओ भददो, सुप्रभ सुदंसणो य नायव्वो । आणन्दो नन्दणो पउमो नवमो रामो य बलदेवो ।। वही, ५. १५४
२. होही तिविट्ठु दुविट्ठु स्वयंभु पुरिसोत्तमो पुरिससीहो । पुरिसवर पुण्डरीओ दत्तो नारायणो कण्हो ।। वही, ५. १५५
३. पढमो आसग्गीवो, तारग मेरग निसुम्भ महुकुढो । बलि पल्हाओ रावण तह य जरा सिन्धु पडिसत्तू ।। वही, ५. १५६
४. अर्हन्तश्चिद यमिन्धते संजनयन्ति जन्तवः ।। ऋग्वेद ५. ७. २
५. अर्हन्तो ये सुदानवो नरो असामिशवसः । वही, ५. ५२. ५
६. इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया । वही, १. ६४. १
७. अर्हन्गने पैजवनस्य दानं होतेवसदम पर्यमि रेभन् । वही, ७. १८. २२
८. स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः । वही, १. ८६. ६
९. दिग्वासास्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हतां देवः । वराहमिहिरसंहिता, ४५, ५८; उद्धृत अनेकांत, वर्ष २८, कि० १, पृ० १८
१०. वेदान्तार्हतसांख्यसौगतगुरुव्यक्षादिसूक्तादृशो । (वाल्मीकि) योगवासिष्ठ, ६. १७३. ३४
११. ब्राह्मे शैवं वैष्णवं च सौरं शाक्तं तथार्हतम् । वायु० ४२. १६
१२. शरीरपरिमाणो हि जीव इत्यार्हता मन्यन्ते । ब्रह्मेसूत्रशांकरभाष्य, २. २. ३४, पृ० ५१४

के) धर्म का प्रवर्तक बतलाया गया है। यहाँ कहा गया है कि ऋषभदेव श्रमणों, ऋषियों तथा ब्रह्मचारियों का धर्म प्रकट करने के लिए शुक्ल सत्त्वमय विग्रह से प्रकट हुए थे।^१

(३) लौकिक वाङ्मय में अर्हत् :

लौकिक संस्कृत साहित्य में भी अर्हत् शब्द का प्रचुर रूप से उल्लेख मिलता है। हनुमन्नाटक में कहा गया है कि जैन शासन के मानने वाले अपने ईश्वर को अर्हत् कहते हैं।^२ अमरकोषकार ने अर्हत् के मानने वालों को आर्हक, स्याद्वादिक एवं आर्हत् कहा है।^३ मेदिनीकोष में अर्हत् को पूज्य, मान्य, बुद्ध, सुगत एवं बौद्ध भिक्षु इत्यादि के लिए प्रयुक्त हुआ बतलाया है।^४ आचार्य हेमचन्द्र अर्हत् को पदार्थ का यथार्थ वर्णन करने वाला परमेश्वर मानते हैं।^५ कालिदास के अनुसार अर्हत् तीर्थ के प्रवर्तक हैं।^६ इस प्रकार लौकिक संस्कृत साहित्य में अर्हत् शब्द विभिन्न अर्थों में आया है परन्तु मुख्यतः यह शब्द पूज्य एवं योग्य अर्थ में ही बहुलतया प्रयुक्त हुआ मिलता है।

(क) पूज्य अर्थ में अर्हत् :

संस्कृत के प्रसिद्ध महाकाव्य रघुवंश में राजा दिलीप के लिए पूज्य अर्थ में अर्हत् पद का प्रयोग किया गया है।^७ इसी प्रकार राजा रघु ने गुरुदक्षिणाभिलाषी मुनि कौत्स के लिए पूज्य अर्थ में ही अर्हत् पद का प्रयोग किया है। राजा रघु मुनि कौत्स को कहते हैं—हे अर्हन्, आप दो तीन दिन ठहरने का कष्ट करें, तब तक मैं आपके लिए गुरु दक्षिणा का प्रबन्ध करता हूँ।^८ अभिज्ञानशाकुन्तल में राजा दुष्यन्त को भी पूज्य एवं सम्मानित व्यक्ति के रूप में प्रकट करते हुए उसमें अर्हत्त्व की पराकाष्ठा बतलाई गई है।^९

(ख) योग्य अथवा समर्थ अर्थ में अर्हत् :

संस्कृत वाङ्मय में विशेषकर मनुस्मृति, रामायण एवं गीता में अर्हत्

१. धर्मान् दर्शयितुं कामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवावतार श्रीमद्भागवत, ५. ३. २०
२. अर्हन्नित्यथजैन शासनरतः । हनुमन्नाटक, १. ३
३. स्यात् स्याद्वादिक आर्हकः आर्हत् इत्यादि । अमरकोष, २. ७. १८ (मणिप्रभा टीका)
४. अर्हस्तु क्षपणे बुद्धे पुंसि मान्येऽन्यलिङ्गकः ।
अर्हन्तश्चापि सुगते क्षपणेऽपि च दृश्यते ।। मेदिनी, पृ० ७६
५. यथास्थिताथवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः । (हेमचन्द्र, योगशास्त्र, २. ४)
६. यदध्यासितमर्हदिभस्तादिषु तीर्थ प्रचक्षते । कुमारसम्भव, ६. ५६.
७. अर्हणामर्हते चक्रुर्मुनयो नयचक्षुषे । रघुवंश, १. ५५
८. द्वित्रीण्यहन्यर्हसि सौदुमर्हन् यावद्यते साधयितुं त्वदर्थम् ।। वही, ५. २५
९. त्वमर्हता प्राग्रसरः स्मृतोऽसि नः ।
अभिज्ञान शाकुन्तल, ५. १६

पद योग्य अथवा समर्थ अर्थ में ही प्रयोग किया गया है। मनुस्मृति में इस पद का योग्य अर्थ में प्रयोग करते हुए पतित से उत्पन्न हुए पुत्र को पितृ-धन के प्राप्त करने के अयोग्य बतलाया है।^१ गीता में अर्जुन कहते हैं— हे माधव ! अपने ही बान्धव धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारने के लिए हम योग्य नहीं हैं, क्योंकि अपने ही कुटुम्बियों को मारकर हम सुखी नहीं हो सकेंगे।^२ आदिकवि वाल्मीकि ने इस पद का समर्थ अर्थ में प्रयोग करते हुए सीता के तेज के लिए रावण को भस्म करने में समर्थ बतलाया है।^३

पंचतन्त्र में आता है कि 'जो भृत्य राजा द्वारा ताड़ित और अपमानित होकर दण्ड पाता हुआ भी राजा का अनिष्ट नहीं चाहता, वही राजाओं के लिए योग्य है'।^४ भट्टिकाव्य में भी राम विभीषण को योग्य अर्थ में अर्हत् की शब्दा से ही विभूषित करते हैं। रावण के मरने पर राम कहते हैं कि 'हे विभीषण ! तुम शोक मत करो, क्योंकि तुम ही राज्यभार संभाल कर इस रावण की मृत्यु का शोक दूर करने के योग्य हो'।^५

(४) बौद्ध वाङ्मय में अर्हत् :

बौद्ध दर्शन में साधनारत व्यक्ति को भिक्षु कह कर पुकारा जाता है। इससे आगे साधनासिद्ध पुरुष बोधिसत्त्व, अर्हत्, प्रत्येकबुद्ध और सम्यक्-सम्बुद्ध कहलाता है। बोधि अर्थात् परम निर्मल ज्ञान की उपलब्धि में अहर्निश लगा हुआ सत्त्व बोधिसत्त्व कहलाता है।^६ वह निरन्तर प्रकृष्ट ज्ञान की प्राप्ति की ओर अग्रसर रहता है। इसका एकमात्र लक्ष्य सम्यक्-सम्बुद्ध बनना है। बोधिसत्त्व की यही अन्तिम कामना रहती है कि सौगत मार्ग के अनुष्ठान से जिस पुण्यसंभार का मैंने अर्जन किया है, उसके द्वारा समग्र प्राणियों के दुःखों की शान्ति हो।^७

१. नैवार्हः पैतृकं रिक्थं पतितोत्पादितो हि सः। मनुस्मृति, ६.१४४
२. तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ गीता, १.३७
३. न त्वां कुर्मि दशग्रीव भस्म भस्मार्हतेजसा। वाल्मीकि रामायण, ५.२२.२०
४. ताड़ितोऽपि दुरुक्तोऽपि दण्डितोऽपि महीभुजा।
यो न चिन्त्यते पापं सः भृत्योऽहो महीभुजाम् ॥ पंचतन्त्र, १.६७
५. त्वमर्हसि भ्रातुरनन्तराणि कर्तुं जनस्यास्य च शोकभङ्गम्। भट्टिकाव्य, १८.४२
६. बोधो सत्त्वम् अभिप्रायोऽस्येति बोधिसत्त्वः।
भारतीय दर्शन, (उपाध्याय), पृ. १३० पर उद्धृत
७. एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मयासादितं शुभम्।
तेन स्यात् सर्वसत्त्वानां सर्वदुःखप्रशान्तिकृत् ॥ बोधिचर्यावतार, ३.६

मुक्त जीवों के हृदय में जो आनन्द-सागर हिलोरे मारने लगता है, वही मेरे जीवन को आनन्दमय बनाने के लिए पर्याप्त है। रसहीन सूखे मोक्ष को लेकर क्या करना है।^१ बोधिसत्त्व प्राणियों के प्रति करुणा का प्रदर्शन करने के लिए सदैव तत्पर रहते हैं।

प्रत्येकबुद्ध सम्यक्-सम्बुद्ध से पूर्व की सिद्धश्रेणी है। प्रत्येकबुद्ध को मौनबुद्ध भी कहा जा सकता है क्योंकि ऐसे बुद्ध अनाश्चर्यकभाव से प्रत्येक-सम्बोधि को प्राप्त करने के बाद भी धर्मोपदेश नहीं करते।^२ वे स्वयं मुक्त होते हैं परन्तु अन्य प्राणियों की मुक्ति के लिए धर्मशासन की स्थापना नहीं करते, बल्कि वे एक-मात्र विमुक्ति सुख में रहकर एकान्त विहार करते हैं। प्रत्येकबुद्ध सम्यक्-सम्बुद्ध से प्रत्येक बात में छोटे होते हैं और सम्यक्-सम्बुद्ध के समय में नहीं रहते। ऐसा प्रकृति का नियम है।^३

सम्यक्-सम्बुद्ध महायानदर्शन की अपनी मौलिक कल्पना है। इनके अनुसार सम्यक्-सम्बुद्ध सर्वज्ञ और परिमुक्त होता है। वह स्वयं अपने पुरुषार्थ से बोधि प्राप्ति की प्रेरणा देता रहता है। सम्यक्-सम्बुद्ध का हृदय महाकरुणा से ओत-प्रोत रहता है।^४ जो सम्यक्-सम्बुद्ध होते हैं, वे अपनी प्रशंसा सुनकर अपने आपको गुणों से युक्त ही प्रकट करते हैं।^५

अर्हत् प्रत्येक-बुद्ध और सम्यक्-सम्बुद्ध के बीच की कड़ी है। अर्हत् वह साधक है जिसके हृदय में अपनी दुःख-विमुक्ति के लिए स्वयं ज्ञान या बोधि का उदय नहीं होता है बल्कि बुद्ध आदि शास्ताओं के उपदेश से ज्ञान होता है। अर्हत् पद के साधक का लक्ष्य स्वयं की मुक्ति प्राप्त करना होता है, दूसरे प्राणियों के दुःख दूर करने के लिए वह कोई भी प्रयत्न नहीं करता और न ही लोक कल्याण के लिए उपदेश ही देता है। अर्हत् अवस्था को प्राप्त करने के बाद भी साधक संघ में ही रहता है और संघीय अनुशासन में रहते हुए अन्त में निर्वाण प्राप्त करता है।^६

१. मुच्मानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः ।

तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम् ।। बोधिचर्यावतार, ८.१०८

२. एवं सो पच्येक-सम्बुद्धो एको अनुत्तरं ।

पच्येक-सम्बोधि अभिसम्बुद्धो ति-एको ।।

खुद्दक निकाय, भाग-४ (२), चुल्लनिदेश, ३.१०.१

३. दे० मेन्युअल ऑफ बुद्धिजम्, पृ. ६२

४. वही

५. ये ते भवन्ति अरहन्तो, सम्मासबुद्धा ते सके वण्णे भञ्जमाणे अत्तानं पातुकरोन्ति इति ।
सुत्तनिपात, पृ. १२०

६. दे० तीर्थंकर बुद्ध और अवतार, पृ. १४१-१४२

उपर्युक्त विवेचन को ध्यान में रखते हुए जहां सम्यग् सम्बुद्ध और बोधि-सत्त्व का लक्ष्य अपनी दुःख विमुक्ति के साथ-साथ संसार के अन्य प्राणियों की दुःख-विमुक्ति भी है वहां अर्हत् और प्रत्येक बुद्ध मात्र अपनी दुःख-विमुक्ति का ही प्रयास करते हैं। इस प्रकार अर्हत् और प्रत्येक बुद्ध दोनों ही समान प्रतीत होते हैं परन्तु इन दोनों में एक विशेष अन्तर यह है कि अर्हत् पथ का साधक बुद्ध आदि के उपदेश से प्रेरित होकर साधना करता हुआ बोधि प्राप्त करता है, जबकि प्रत्येक बुद्ध बिना किसी के उपदेश के स्वयं ही अपनी साधना करता है तथा अर्हत्त्व अवस्था प्राप्त करने के पश्चात् भी वह संघ में ही रहता है, जबकि प्रत्येक बुद्ध का संघीय व्यवस्था एवं संघीय जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। वह एकान्त साधना करता है और स्वयं बोधि प्राप्त कर एकाकी विहार करता है।

अर्हत् शब्द का निर्वचन :

बौद्ध दर्शन के पालि एवं संस्कृत दोनों प्रकार के ग्रन्थों में अर्हत् शब्द की बहुधा निरुक्ति एवं व्याख्याएं की गई हैं। पालि में यह अरिहो अथवा अरहो मिलता है।

धम्मपद में एक सम्पूर्ण अध्याय ही अर्हत् वग्गो नाम से मिलता है। यहां अर्हत् अथवा अरहन्त पद की विस्तृत व्याख्या करने हुए बतलाया गया है कि 'अरहन्त वह है जिसने अपनी जीवन-यात्रा समाप्त कर ली है, जो शोक-रहित है, जो संसार से मुक्त है, जिसने सब प्रकार के परिग्रह को छोड़ दिया है और जो कष्ट से रहित है'।^१ यहां अर्हत् की कुछ भिन्न दृष्टि से भी व्याख्या की गई है। जैसे 'जो स्मृतिपूर्वक उद्योग करते हैं, गृहसुख में रमण नहीं करते, वे अर्हत् कहलाते हैं। जैसे हंस क्षुद्र जलाशय को छोड़कर चले जाते हैं, वैसे ही वे भी घर को छोड़कर चले जाते हैं'।^२

अर्हत् के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि 'जो वस्तुओं का संचय नहीं करते, जिनका भोजन नियत है, शून्यता स्वरूप एवं निमित्तरहित मोक्ष जिनको दिखाई पड़ता है, ऐसे उन अरहन्तों की गति आकाश में पक्षियों की भांति अज्ञेय है'।^३ 'सारथी द्वारा सुनिश्चित अश्वों की भांति

१. गतद्धिनो विसोकस्स विप्पमुत्तस्स सब्धि।

सव्वगन्थप्पहीनस्स परिलाहो न विज्जति ।। धम्म. गा०६०

२. उपयुज्जन्ति सतीमन्तो न निकेतं रमन्ति ते।

हंसा व पल्लवं हित्वा ओकमोकं जहन्ति ते ।। वही, गा०६१

३. येसं सन्निचयो नत्थि ये परिज्जात भोजना।

सुज्जतो अनिमित्तो च विमोक्खो यस्स गोचरो,

आकासे' व सकुन्तानं गति तेसं दुरन्त्या ।। वही, गा०६२

जिनकी इन्द्रियां शान्त हैं, जिनका अभिमान नष्ट हो गया है और जो आस्रव—रहित हैं, ऐसे उन अरहन्तों से देवता भी स्पृहा करते हैं' १।

आगे यहीं अर्हत् को ब्राह्मण भी कहा गया है। ऐसे अर्हत् ब्राह्मण के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए स्वयं बुद्ध कहते हैं कि 'जिसकी गति को मनुष्य तो क्या देवता और गन्धर्व भी नहीं जानते, जो क्षीणास्रव हैं, ऐसा अर्हत् विशेष ही ब्राह्मण है' २। 'जिसके पूर्व, पश्चात् और मध्य में कुछ भी नहीं है, जो परिग्रहरहित हैं, वही अर्हत् अथवा ब्राह्मण है' ३। अन्ततः वे कहते हैं कि 'जो पूर्व जन्म को जानता है, स्वर्ग और नरक को भी जो देखता है, जिसका जन्म क्षीण हो गया है और जो दिव्य ज्ञान—परायण है, वही ब्राह्मण है, वही अर्हत् भी है' ४।

मिलिन्दपञ्च में कहा गया है कि 'जिनके आस्रव क्षीण हो गए हैं, जिनके ब्रह्मचर्यवास पूरे हो गए हैं, जो कृतकृत्य हैं, जिनका पूर्णरूप से भार उतर गया है, जो सच्चे ज्ञान को प्राप्त कर चुके हैं, जिनके भव—बन्धन बिल्कुल नष्ट हो गए हैं, जिनका चित्त पूर्णतः परिशुद्ध हो गया है, ऐसे अरहन्तों का चित्त दूसरों के मन की बातों को जानने में हल्का और तेज होता है। वे दूसरों के मनों की रहस्यपूर्ण बातों को जानने में भी समर्थ होते हैं' ५।

विसुद्धिमग्ग के सप्तम परिच्छेद में भी अर्हत् की विशेष रूप से व्याख्या की गई है। यहां पर उसे सब क्लेशों से रहित, शत्रुओं और संसार चक्र की आराओं को विनष्ट कर देने वाला, चीवर आदि प्रत्ययों ६ को धारण करने योग्य और पाप को न छिपाने वाला बतलाया गया है ७। वे समस्त क्लेशों से

१. यस्सिन्द्रियानि समथं गतानि, अस्सा यथा सारथिना सुदन्ता।

पहीनमानस्स अनासवस्स, देवापि तस्स पिहयन्ति तादिनो ॥ वही, गा० ६४

२. यस्स गति न जानन्ति देवा गन्धर्वमानुसा।

रवीणासवं अरहन्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ धम्म, गा० ४२०

३. यस्स पुरे च पच्छा च मज्झे च नत्थि किञ्चनं।

अकिञ्चनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ वही, गा० ४२१

४. पुब्बेनिवासं यो वेदि सग्गापायञ्च पस्सति।

अथो जातिक्खयं पत्तो अभिज्जावोसितो मुनि,

सव्ववोसितबोसानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ वही, गा. ४२४

५. दे. मिलिन्दपञ्च (हिन्दी अनु०), पृ. १३२-३३

६. चीवर (वस्त्र) पिण्डपात (आहार), सेनासन (शय्यासन) और गिलानपच्चयमेसज्ज (औषधि) ये चार वस्तुएं बौद्ध साधु के लिए एषणीय बतलाई गयी हैं। दे. विसुद्धि.

१. ८६-८६

७. तत्थ, आरकत्ता, अरीनं अराज्ज हतत्ता, पच्चयादीनं अरहत्ता, पापकरणे रहाभावा ति, इमेहि ताव कारणेहि सो भगवा अरहंति अनुस्सरति ॥ वही, ७.४

बहुत दूर हैं, मार्ग से वासना आदि क्लेशों के विनष्ट हो जाने से अथवा उनसे दूर होने से ही वे अर्हत् कहलाते हैं ।^१ लोक में अपने आप को पण्डित मानने वाले कुछ एक लोग लोकभय से गुप्तरूप में पाप करते हैं, परन्तु जो गुप्तपाप नहीं करते, ऐसे वे पाप अथवा रह के अभाव में अर्हत् (अरह) कहलाते हैं ।^२

आचार्य बुद्धघोष लिखते हैं कि अविद्या और भवतृष्णा जिसके नाभि हैं, पुण्य आदि अभिसंस्कार जिसके आरे हैं, जरा—मरण जिसकी नेमि है, आस्रव समुदय रुपी छुरे से छेद कर, त्रिभवरुपी रथ में सब प्रकार से संयुक्त, अनादिकाल से चलता हुआ जो संस्कार चक्र है, उसे बोधिवृक्ष के नीचे, वीर्य के पैरों से शील की पृथ्वी पर खड़ा होकर, श्रद्धारुपी हाथों से, कर्मक्षय करने वाली ज्ञानरुपी कुल्हाड़ी को लेकर, जिसने सारे अरिओं अर्थात् कर्म रुपी शत्रुओं को मार डाला है, ऐसा वह सत्त्व विशेष ही अर्हत् है ।^३

अर्हत् सभी प्राप्त कर लेने योग्य अर्थों अर्थात् प्रयोजनों को हासिल कर लेता है तथा वह अनुत्तर पुण्यक्षेत्र वाला होता है ।^४ आचार्य घोषक कहते हैं कि सब मनुष्यों और देवों में यदि कोई पूजा के योग्य है तो वह सत्त्व विशेष अर्हत् ही है ।^५ ऐसे अरहन्त जहां कहीं भी विहार करते हैं, वह भूमि रमणीय हो जाती है ।^६

इस प्रकार सम्पूर्ण बौद्ध वाङ्मय में अर्हत् सर्वश्रेष्ठ पद से सम्मानित है । बौद्धों की अर्हत् में पूर्ण आस्था है । उसका आदर एवं सत्कार है । बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित अर्हत् के स्वरूप के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि अर्हत् वह सर्वश्रेष्ठ सत्त्व है जिसके निरन्तर ज्ञान के अभ्यास से सब प्रकार के कर्म, क्लेश, आसक्ति एवं राग—द्वेष आदि शत्रु जो कि मोक्ष की प्राप्ति में बाधक हैं, विनष्ट हो गए हैं और जिनको परमज्ञान प्राप्त हो चुका है, वे सर्वज्ञ तथा कृतकृत्य हैं । जो सभी तरह से विमुक्त तथा शान्तचित्त हैं, ऐसे वे अरहन्त

१. आरका हि सो सब्बकिलेसेहि सविदूर—विदूरे ठितो, मग्गेन सवासनानं किलेसानं विद्धं सितत्ता ति आरकत्ता अरहं । वही, ७.५
२. यथा च लोके ये केचि पण्डितमानिनो बाला असिलोकभयेन रहो पापं करोन्ति, एवमेस न कदाचि करोतीति पापकरणे रहाभावतोपि अरहं । वही, ७.२४
३. यच्चेतं अविज्जा भवतण्हामयनाभि पुञ्जादि अभिसङ्खारारं जरामरणनेमि—आसवसमुदयमये अक्खेन विज्झित्वा तिभवरथे समायोजितं अनादिकालप्पवत्तं संसारचक्कं, तस्सानेन बोधिमण्डे विरियपादेहि शीलपथवियं पतिट्ठाय सद्धाहत्येन कम्मखयकरं जाणफरसुं गहेत्वा सब्बे अरा हता ति अरानं हतत्ता पि अरहं । वही, ७.७
४. सर्वप्राप्त्यर्थप्राप्तत्वात् अनुत्तरपुण्यक्षेत्रत्वात् मूर्जारहत्वाच्चारहन् । बोधिसत्त्वभूमि, पृ. ६४
५. सर्वदेवमनुष्येषु पूजार्ह इत्युच्यते अर्हन् । अभिधर्माभूत, पृ. ८६
६. यत्थारहन्तो विहरन्ति तं भूमिं रामणेय्यकं । धम्म, गा. ६८

भगवान् स्वयं तो मोक्ष प्राप्त करते ही हैं, साथ ही साथ संसार के अन्य प्राणियों को भी अपने पावन उपदेश द्वारा भवसिन्धु से पार लगाते हैं। इसीलिए इन अरहन्तों को जगत् में विशेष रूप से सम्मान दिया जाता है—**नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्माधर्मा सम्बुद्धस्स**।

(५) जैन वाङ्मय में अर्हत् :

जैन परम्परा में भी अर्हत् को विशिष्ट सम्मान प्राप्त है। वे जैन धर्मावलम्बियों के परम आराध्य देव हैं। यहां अर्हत् किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं, वह तो आध्यात्मिक गुणों के विकास से प्राप्त होने वाला मंगलमय 'पदविशेष' है। जैन मान्यता के अनुसार प्रत्येक भव्य प्राणी स्वपुरुषार्थ से वीतरागी, केवलज्ञानी, अर्हत् और तीर्थंकर बन सकता है। ऐसे परमाराध्य अरहन्त तीर्थङ्कर को नमस्कार हो—**णमो अरहन्ताणं**।

अर्हत् शुद्ध संस्कृत रूप है। जैन ग्रन्थों में अर्हत् के लिए मुख्यतः अरहन्त एवं अरिहन्त शब्द मिलते हैं। इसके अतिरिक्त अरहा, अरिहा, अरिहो, अरूह, अरूहन्त एवं अरथान्त इत्यादि अन्य प्राकृत एवं अपभ्रंश शब्द भी मिलते हैं।

अर्हत् शब्द की व्याख्या : जैन वाङ्मय में :

'अर्ह पूजायाम्' अर्थात् पूजार्थक 'अर्ह' धातु से अर्हः प्रशंसायाम्^१ इस पाणिनि सूत्र से प्रशंसा अर्थ में शतृ प्रत्यय होकर अर्हत् पद बनता है। प्रथमा के एक वचन में 'उदिगघां सर्वनामस्थाने धातोः'^२ इस पाणिनी सूत्र से जब नुम् का आगम होता है तब 'अर्हन्' व अर्हत् पद बन जाता है।

प्राकृत भाषा में शतृ प्रत्यय के स्थान पर 'न्त' प्रत्यय होता है जिससे 'अर्हन्त' रूप बनता है। इसके अतिरिक्त प्राकृत व्याकरण के 'इःश्रीही—क्रीतक्लान्तक्लेशग्लानस्वप्नस्पर्शहर्षार्हगर्हेषु'^३ सूत्र से र् एवं ह के मध्य इकार का आगम होने पर इसका सूचक 'अरिहन्त' पद बनता है तथा स्वरभक्ति से अकार का योग होने पर अरहन्त रूप भी प्राकृत भाषा में बन जाता है। इसके अतिरिक्त जो अरहा, इत्यादि शब्द हैं वे भी इन्हीं के विकसित अथवा विकृत रूप हैं।

यहां यह विचारणीय विषय है कि इन पाठान्तरों का क्या कारण है ? और इन पाठों में से कौन-सा पाठ अधिक समीचीन है ?

प्राचीन इतिहास, शिलालेख एवं आगम ग्रन्थों का अवलोकन करने से

१. (पाणिनि), धातुपाठ, भ्वादिगण

२. अष्टाध्यायी, ३.२.१३३

३. वही, ७.१.७०

४. प्राकृत प्रकाश, ३.६२

अवगत होता है कि सबसे प्राचीन पाठ 'अरहन्त' है। इस बात का प्रमाण खारवेल का शिलालेख है, जिसकी पहली पंक्ति में 'नमो अरहन्तान' एवं पन्द्रहवीं पंक्ति में 'अरहन्त निसीदिया' पाठ उपलब्ध होता है।^१ इसी प्रकार आचार्य वीरसेन द्वारा उद्धृत एक प्राचीन गाथा है—'सिद्ध-सय्यलप्पूवा अरहन्ता दुण्ण्यां कयन्ता'^२ इसमें भी अरहन्त पाठ ही मिलता है। 'भगवती-आराधना' में भी अरहन्त पाठ ही आता है।^३ अतः अरहन्त पद ही प्रामाणिक और समीचीन है।

इसके अतिरिक्त अधिकांश हस्तलिखित ग्रन्थों एवं मुद्रित पूजा पाठों में भी अरहन्त पद ही सर्वाधिक प्रचलित है। इन पाठान्तरों का मुख्य कारण हमारी दृष्टि से निर्वचन शास्त्र का विस्तार है। समयानुसार निर्वचन की दृष्टि से विभिन्न पाठ प्रचलित हो गए, परन्तु मूल अर्थ की दृष्टि से इनमें कोई भेद नहीं है। जैसे कि—

(१) अरहन्त :

अरहन्त शब्द की व्याख्या करते हुए भगवती सूत्र में कहा गया है कि 'श्रेष्ठ देवों के द्वारा रचे गए आठ अशोक आदि महाप्रातिहार्यों से पूजा गया व्यक्ति विशेष ही अरहन्त कहलाता है।'^४ इसका एक दूसरा अर्थ यह भी किया गया है कि 'जो रह अर्थात् एकान्त देश से विरहित और अन्त अर्थात् मध्यवर्ती पर्वत, गुफा आदि सम्पूर्ण देश को जिन्होंने जान लिया है—वे अरहन्त कहलाते हैं।'^५ अथवा 'जिनको किसी भी प्रकार की आसक्ति नहीं रह गई है—वे अरहन्त हैं।'^६

स्थानाङ्ग सूत्र में कहा गया है कि 'जो देवों आदि के द्वारा की गई पूजा विशेष को धारण करते हैं, वे ही अरहन्त कहलाते हैं, अथवा 'जिनसे कुछ भी छिपा हुआ नहीं रह गया अर्थात् जिनको प्रत्यक्ष ज्ञान के उपलब्ध होते ही कुछ भी जानने योग्य नहीं रह जाता, ऐसे महामानव अरहन्त होते हैं।'^७

षट्खण्डागमसूत्र की टीका धवला में भी इसी बात को प्रकट करत हुए कहा गया है कि 'सातिशय पूजा के योग्य होने से सत्त्व अरहन्त इस विशेष संज्ञा को धारण करते हैं।' 'गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण—इन

१. दे. खारवेल प्रशस्ति, हाथी गुंफा—अभिलेख
२. धवला टीका, प्रथम पुस्तक, गा. २५
३. अरहन्तसिद्धचेइयं। भग. आ., गा. ४५
४. अमरवरविनिर्मिताशोकादिमहाप्रातिहार्यरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः। भग.वृ.प. ३
५. एकान्तरूपो देशः अन्तश्च—मध्यं गिरिगुहादीनां सर्ववेदितया समस्तवस्तुस्तोमगत—प्रच्छन्नत्वस्याभावेन येषां ते।। वही
६. क्वचिदप्यासक्तिमगच्छद्भ्यः क्षीणरागत्वात्। भग.वृ.प. ३
७. देवादिकृतां पूजामर्हन्तीति अर्हन्तः। अथवा नास्ति रहः प्रच्छन्नं किञ्चिदपि येषां प्रत्यक्षज्ञानत्वात्।। स्थानाङ्गवृत्ति, पत्र १७४

पांचों कल्याणकों में देवों द्वारा की गई पूजाएं, देव, असुर व मनुष्यों की प्राप्त पूजाओं से अधिक हैं, अतः इन अतिशयों के जो योग्य हैं—वे ही अरहन्त हैं ।^१

(२) अरह, अरहा एवं अरहो :

अरह कहें या अरहा अथवा अरहो—ये तीनों ही प्राकृत शब्द हैं तथा अरहन्त के समानार्थक हैं । उत्तराध्ययनसूत्र में 'अरह' को अनुत्तरज्ञानी, अनुत्तरदर्शी और अनुत्तरज्ञानदर्शनधारी बतलाया गया है ।^२

(३) अरिहन्त वा अरिहो :

अरिहन्त तथा अरिहो—ये दोनों शब्द भी एक ही अर्थ के द्योतक हैं । यहां पर 'अरि' का अर्थ 'शत्रु' से लिया गया है । प्रश्न होता है कि ये शत्रु कौन हैं? आगम ग्रन्थों में यह स्पष्ट निर्देश मिलता है कि 'भगवान् के तीर्थकरत्त्व की उपलब्धि के विनाशक जो तत्त्व हैं, जिन्हें कर्म भी कहा गया है, वे ही उसके घातक शत्रु हैं । ऐसे उन कर्मरूपी घातक अरिओं का विनाश करने वाला व्यक्ति विशेष अरिहन्त कहलाता है' ।^३

आवश्यक निर्युक्ति में भी उपर्युक्त कथन का समर्थन करते हुए बतलाया गया है कि 'पांचों इन्द्रियों के विषय, तथा क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार कषाय, क्षुधा—पिपासा आदि बाईस प्रकार के परीषह, शारीरिक और मानसिक रूप दोनों वेदनाएं एवं उपसर्ग—ये सब जीवन के शत्रु हैं । इन्हीं शत्रुओं के जो विनाशक हैं, वे अरिहन्त कहे जाते हैं' ।^४

ध्वला टीका में इस विषय पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है । यहां कहा गया है कि 'अरि अर्थात् शत्रुओं का विनाश करने से अरिहन्त संज्ञा प्राप्त होती है । यहां मोह को 'अरि' कहा गया है । मोह के अभाव में अवशेष कर्म अपना कार्य करने में असमर्थ हो जाते हैं । अथवा रज—आवरण कर्मों के नष्ट हो जाने से सत्त्व अरिहन्त बन जाता है ।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहनीय ये तीन कर्म यहां रज कहलाते हैं क्योंकि ये वस्तुओं को विषय करने वाले बोध और अनुभव के प्रतिबन्धक

१. अतिशयपूजार्हत्वाद्वार्हन्तः । स्वर्गावतरणजन्मभिषेकपरिनिष्क्रमण केवलज्ञानोत्पत्तिपरिनिर्वाणेषु देवकृतानां पूजानां देवासुरमानवप्राप्तपूजाभ्यो ऽधिकत्वादतिशयानामर्हत्वाद्योग्यत्वादहन्तः ॥ ध्वला टीका, प्रथम पुस्तक, पृ. ४५
२. अणुत्तरनाणी अणुत्तरदसी अणुत्तरनाणदंसणधरे अरहा— । उ. ६.१८
३. अट्ठविहंपि य कम्मं अरिभूयं होइ सयलजीवाणं ।
तं कममरिं हन्ता, अरिहन्ता तेण वुच्चन्ति ॥ भग. वृ.प. ३
४. इन्द्रियविसयकसाये परीसहे वेयणा उवसग्गे ।
ए ए अरिणो हन्ता अरिहन्ता तेण वुच्चन्ति ॥ आ.नि.गा. ६१६

होते हैं। 'रहस्य' के अभाव से भी अरिहन्त संज्ञा की उपलब्धि होती है। यहां रहस्य से अभिप्राय है—अन्तराय कर्म। अन्तराय कर्म के नाश से शेष तीन घातिया कर्मों का भी भ्रष्ट बीज के समान विनाश हो जाता है। इस प्रकार अन्तराय कर्म के नाश से अरिहन्त संज्ञा प्राप्त होती है।^१

द्रव्यसंग्रह के कर्त्ता आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती भी उसे ही अरिहन्त (= अरिहो) मानते हैं जिसने चार घातिया कर्मों अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय को नष्ट कर दिया है और इसके फल—स्वरूप जिसके अन्ततज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य—ये अनन्त चतुष्टय उत्पन्न हो गए हैं, साथ ही जो निर्विकार रूप में स्थित है, वह शुद्धात्मा ही अरिहन्त है।^२

४) अरुह एवं अरुहन्त :

अरहन्त के लिए अरुह अथवा अरुहन्त शब्दों का प्रयोग भी उपलब्ध होता है। भगवतीसूत्र में अरुहन्त शब्द की व्याख्या करते हुए बतलाया गया है कि 'कर्मरूपी बीज के नष्ट हो जाने से जो पुनः उत्पन्न नहीं होते, वे अरुहन्त हैं।'^३ जिस प्रकार बीज का आत्यन्तिक विनाश होने पर अंकुर उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार कर्मरूपी बीज के दग्ध हो जाने पर भवांकुर उत्पन्न नहीं होता—

दग्धे बीजे यथात्यन्तं, प्रादुर्भवति नांकुरः ।

कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवांकुरः ॥^४

इस प्रकार कर्मरूपी बीज के विनष्ट हो जाने पर अरहन्तों का संसार क्षीण हो जाता है, ये पुनः उत्पन्न नहीं होते हैं, अतः अरुहन्त कहलाते हैं। अरुह पद इसी का विकृत रूप है।

(५) अरथान्तः

अरहन्त के अर्थ में अरथान्त शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। भगवतीसूत्र में इसका निर्वचन करते हुए कहा गया है कि 'रथ' अर्थात् सम्पूर्ण परिग्रह के उपलक्षणभूत जन्म—मरण एवं जरा आदि का जिन्होंने विनाश कर दिया है, ऐसे सत्त्व विशेष ही 'अरथान्त' कहलाते हैं।^५

१. अरिहन्नादरिहन्ता—रजोहननाद्वा अरिहन्ता—रहस्याभावाद्वा अरिहन्ता—। धवला टीका, प्रथम पुस्तक, पृ. ४३-४५

२. णट्ठ चदुधाइकम्मो दसंणसुहणाणवीरियमइओ ।
सुहदेहत्यो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो ॥ द्रव्यसंग्रह, गा. ५०

३. क्षीणकर्मबीजत्वादनुपजायमानाः । भग.वृ. प. ३

४. वही

५. अविद्यमान रथः—स्यन्दनः सकलपरिग्रहोपलक्षणभूतोऽन्तश्च—विनाशो जराद्यु-
पलक्षणभूतो येषां ते । भग.वृ.प. ३

इस प्रकार अरहन्त के जो पाठान्तर मिलते हैं, उनमें मात्र निर्वचन के अन्तर को छोड़कर, मूलगुणों एवं अर्थ की दृष्टि से कोई विशेष भिन्नता नहीं है। सभी पाठ अरहन्त के समानार्थक ही हैं। इसी से आचार्य कुन्दकुन्द अरहन्त के विषय में अपना विशेष मन्तव्य प्रकट करते हुए लिखते हैं कि 'जिन्होंने जरा, व्याधि जन्म—मरण, चतुर्गति—गमन,^१ पुण्य—पाप, अठारह दोषों तथा घातिया कर्मों को नष्ट कर दिया है और जो ज्ञानमय हो गए हैं, वे ही अरहन्त हैं'।^२

अरहन्त दिव्य औदारिक शरीर^३ के धारी होते हैं। घातिया कर्म—मल से रहित होने के कारण उनकी आत्मा महान् एवं पवित्र होती है। अनन्त चतुष्टय रूपी लक्ष्मी भी उनको प्राप्त हो जाती है।^४

प्रतिष्ठातिलक में आचार्य नेभिचन्द्र कहते हैं कि हे अर्हन्, आप मोहरूपी शत्रु को नष्ट करने वाले नयरूपी बाणों को धारण करते हैं तथा अनेकान्त को प्रकाशित करने वाले निर्बाध प्रमाण रूप विशाल धनुष के धारक हैं। युक्ति एवं शास्त्र के अविरुद्ध वचन होने के कारण आप ही हमारे आराध्य देव हैं। जो सर्वथा एकान्तवादी हैं, वे हमारे आराध्य देव नहीं हो सकते क्योंकि उनका उपदेश प्रत्यक्ष एवं अनुमान से बाधित है। हे अर्हन्, आप ऐसी आत्मा को धारण करते हैं, जो स्वर्णाभूषण (निष्क) की तरह प्रकाशमान है, बाह्य और अन्तःमल से रहित है तथा जो समस्त विश्व के पदार्थों को एक साथ निरन्तर जानता है। हे अर्हन्, आप मनुष्य, सुर एवं असुर सभी को मोक्ष मार्ग का उपदेश देते हैं, आप से बढ़कर अन्य कोई ब्रह्म अथवा असुर को जीतने वाला बलवान् देवता नहीं है।^५

१. चार गति हैं—१. नरकगति, २. तिर्यञ्चगति, ३. मनुष्यगति और ४. देवगति। त. सा., २.३८

२. जरवाहिजम्ममरणं दउगइगमणं च पुण्णपावं च।

हंतूण दोसकम्मे हुउ णाणमयं च अरहंतो ॥ बोधपाहुड, गा. ३०

३. औदारिक, वैकिय, आहारक, तेजस और कर्मण—ये पांच प्रकार के शरीर होते हैं। विस्तार के लिए देखिए—त.सू. २.३७—४६

४. दिव्यौदारिकदेहस्थः धौतघातिचतुष्टयः।

ज्ञानदृवीर्यसौख्यादयः सोऽर्हन् धर्मोपदेशकः ॥ पंचाध्यायी, २.६०

५. अर्हन् विमर्षिमोहारिविध्वंसिनयसायकान्।

अनेकान्तद्योतिनिर्बाधप्रमाणोदारधनुः च ॥

ततस्त्वमेव देवाः से युक्तिशास्त्रविरोधिवाक्।

दृष्टेष्टबाधितेष्टाः स्युः सर्वथैकान्तवादिनः ॥

अर्हन्निष्कमिवात्मानं बहिरन्तर्मलक्षयम्।

विश्वरूपं च विश्वार्थं वेदितं लभसे सदा ॥

अर्हन्निदं च दयसे विश्वमभ्यंतराश्रयम्।

नृसुरासुरसंघातं मोक्षमार्गोपदेशनात् ॥

ब्रह्मासुरजयीवान्यो देव रुद्रस्त्वदस्ति न ॥ प्रतिष्ठातिलक, ३७४—७८

अरहन्त परमेष्ठी जगत्पूज्य हैं, अतः 'अरहन्त' कहलाते हैं। ये ही कर्मरूपी शत्रुओं को जीतने वाले होने से 'जिन' कहलाते हैं। ये अरहन्त ही भुवन—वासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी^१ इन समस्त देवों के स्वामी हैं। अतः आप ही 'महादेव' हैं। प्राणिमात्र को सुख देने वाले होने से 'शंकर' और ज्ञान की अपेक्षा से समस्त पदार्थों में व्यापक होने से आप ही 'विष्णु' कहलाते हैं और ब्रह्म—स्वरूप के परम ज्ञापक होने से आप ही 'ब्रह्म' भी हैं। समस्त जगत् के दुःखों को हरने वाले होने से भगवान् 'हरि' भी आप ही हैं। ऐसे ये अरहन्त भगवान् अनेक नामों वाले हैं, फिर भी अपने देवत्व लक्षण की अपेक्षा से एक ही हैं, अनेक नहीं, क्योंकि वह अनन्त गुणात्मक एक द्रव्य ही साधक युक्तियों से सभी में समान रूप से सिद्ध है।^२

इस प्रकार सम्पूर्ण जैन वाङ्मय में अरहन्त शब्द पूज्य एवं योग्य व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है। अरहन्त के जो गुण पालि साहित्य में बतलाए गए हैं, वे बहुत अंशों में जैन अरहन्त के गुणों से समानता रखते हैं फिर भी जैन और बौद्धों के अरहन्त की मान्यता में काफी अन्तर है।

जैनों का अरहन्त पूर्ण ज्ञानी, तीनों लोकों का ज्ञाता, मोक्ष मार्ग का दर्शक और धर्म का संस्थापक है। स्वरूपतः जैनधर्म का अरहन्त महायानी बौद्धों के सम्यक्—सम्बुद्ध के समकक्ष तो है ही साथ ही अपनी कुछ अतिरिक्त विशेषताओं की अपेक्षा वह हीनयानी बौद्धों के अर्हत् से कहीं अधिक श्रेष्ठ एवं महान् भी है। बौद्धों का अर्हत् स्वयं सम्यग् सम्बुद्ध से कई गुणों में हीन है, कारण कि यहां अर्हत् का लक्ष्य अपने को निर्वाण लाभ के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है जबकि सम्यक् सम्बुद्ध और जैनों के तीर्थङ्कर अरहन्त अपने मोक्ष—लाभ के साथ—साथ जगत् के समस्त प्राणियों को अपने उपदेश द्वारा मोक्ष—मार्ग की प्राप्ति के लिए प्रेरित करते हैं। यही दोनों के अरहन्त के स्वरूप में एक महान् अन्तर है।

(ख) आध्यात्मिक विकास और अर्हत्पद :

अध्ययन की दृष्टि से जीव के आध्यात्मिक विकास को चौदह सोपानों में बांटा गया है, जिन्हें गुणस्थान कहते हैं। मोह तथा मन, वचन, काय की

१. देवलोक की विस्तृत जानकारी के लिए देखिए, त. सू. अध्याय ४

२. अर्हन्निति जगत्पूज्यो जिनः कर्मरिशातनात्।

महादेवोऽधिदेवत्वाच्छाङ्करोऽपि सुखावहात् ॥

विष्णुज्ञानेन सर्वार्थविस्तृतत्वात्कथञ्चन।

ब्रह्म ब्रह्मस्वरूपत्वाद्धरिर्दुःखापनोदनात् ॥

इत्याद्यनेकनामापि नानेकोऽस्ति स्वलक्षणात्।

यतोऽनन्तगुणालैकद्रव्यं स्यात्सिद्धसाधनात् ॥

जैनधर्मावृत, २.७४—७६

प्रवृत्ति के कारण जीव के अन्तरंग परिणामों में प्रतिक्षण होने वाले उतार-चढ़ाव को गुणस्थान कहा गया है ।^१

गुणस्थान रूप चौदह सौपानों का क्रम निर्धारित करने में कर्मबन्ध के जो पांच मूल हेतु—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग^२ हैं इनका क्रमिक उपशम, क्षय, क्षयोपशम और केवल क्षय ही गुणस्थानों का आधार है । आगम ग्रन्थों में ये गुणस्थान चौदह प्रकार के बतलाये गए हैं ।^३ इनका यहां अध्ययन करना आवश्यक समझता हूं ।

१. मिथ्या दृष्टि गुणस्थानः

मोहनीय कर्म के एक भेद मिथ्यात्व के उदय से जो अपने हित-अहित का विचार नहीं कर सकते, वे जीव मिथ्यादृष्टि कहे जाते हैं । मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से उत्पन्न होने वाले मिथ्या परिणामों का अनुभव करने वाला जीव विपरीत श्रद्धान वाला हो जाता है । उसको यथार्थ धर्म उसी प्रकार अच्छा नहीं लगता जिस प्रकार पित्तज्वर से युक्त प्राणी को मीठा रस भी रुचिकार नहीं होता ।^४ संसार के अधिकतर सत्त्व इसी श्रेणी में आते हैं ।

२. सासादन गुणस्थानः

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ में से किसी एक के भी उदय में आने से सम्यक्त्व की विराधना होने पर सम्यग्दर्शन गुण की जो अव्यक्त अतत्त्व श्रद्धानरूप परिणति होती है, उसको सासन या सासादन गुणस्थान कहते हैं ।^५ इस गुणस्थान को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि सम्यक्त्वरूपी रत्नपर्वत के शिखर से गिरकर जो जीव मिथ्यात्वरूपी भूमि के सम्मुख हो चुका है, अर्थात् जिसने सम्यक्त्व की विराधना कर दी है, किन्तु

१. दे० (पं० कैलाशचन्द्र), जैनधर्म, पृ. २३६-३७

२. मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः । त. सू. ८.१

३. कम्मविसोहिमगगणं पडुच्च चउददस जीवदठाणा पणत्ता, तं जहा—मिच्छदिट्ठी, सासायणसम्मदिट्ठि, सम्मामिच्छदिट्ठि, अविरयसम्मादिट्ठि, विरयाविरए, पमत्तसंजए, अप्पमत्तसंजए, नियदिठवायरे, अनियदिठवायरे, सुहुमसंपराए, उवसमए वा खवए वा, उवसंतमोहे, खीणमोहे, सजोगी केवली, अजोगी केवली । समवाओ, १४.५

४. मिच्छतं वेदंतो, जीवो विवरीय दंसणो होदि ।

ण य धम्मं रोचेदि हु, महुरं खु रसं जहा जरिदो ।।

गो.जी., गा. १७

५. आदिमसम्मत्तद्धा, समयादो छावलित्ति वा सेसे ।

अणअण्णदरुदयादो, णासियसम्मोत्ति सासणक्खो सो ।।

गो० जी०, गा० १६

मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं किया है, उसे सासन या सासादन गुणस्थानवर्ती कहते हैं ।^१

असन का अर्थ होता है—‘नीचे की ओर गिरना’ तथा आसादना का अर्थ होता है—विराधना, कारण कि यह जीव मिथ्यात्व की तरफ नीचे की ओर गमन करता है । यह कार्य सम्यक्त्व की विराधना से होता है । इस तरह सत्त्व द्वितीय गुणस्थान सासादन के कारण सम्यक्त्व का विनाश कर पतन की ओर अग्रसर होता है ।

३. सम्यग्-मिथ्यादृष्टि गुणस्थानः

मिले हुए गुड़ और दही की तरह जिसका पृथक्—पृथक् स्वभाव नहीं बतलाया जा सकता, ऐसे सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप मिले हुए परिणाम वाला सम्यग् मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है ।^२ मिश्ररूप परिणाम होने से इसे मिश्र गुणस्थान भी कहा जाता है ।

४. अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानः

जो न तो इन्द्रियों के विषयों से विरक्त है और न त्रस तथा स्थावर जीवों की हिंसा से ही किन्तु जिनेन्द्र देव द्वारा प्रतिपादित तत्त्व पर जो श्रद्धा रखता है, वह अविरत सम्यग्दृष्टि जीव है ।^३ उसमें सत्य के प्रति आस्था तो हो जाती है परन्तु उसका आचरण करने की स्थिति नहीं बन पाती ।

५. विरताविरत गुणस्थानः

जो जीव जिनेन्द्र देव में अद्वितीय श्रद्धा रखता हुआ त्रस की हिंसा से विरत और उस ही समय में स्थावर की हिंसा से अविरत होता है, उस जीव को विरताविरत कहते हैं ।^४ विरत और अविरत दोनों ही धर्म भिन्न—भिन्न कारणों की अपेक्षा से हैं । अत एव उनका यहां सहावस्थान विरोध नहीं है ।

६. प्रमत्तसंयत गुणस्थानः

इस स्थान वाले साधक में महाव्रत आदि पालन की क्षमता भी आ जाती है, परन्तु उसमें दृढ़ता का अभाव होता है । व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकार के

१. सम्मत्तरयणपव्वयसिहरादो मिच्छभूमिसमिमुहो ।
णासियसम्मत्तो सो, सासणनामो मुणेयव्वो ॥ वही, गा. २०
२. दहिगुडमिव वामिस्सं, पुहभावं णेवकारिदुं सक्कं ।
एवं मिस्सयभावो, सम्मामिच्छोत्ति णादव्वो ॥ वही, गा. २२
३. णो इंदियेसु विरदो, णो जीवे थावरे तसे वापि ।
जो सदहदि जिणुत्तं सम्माइदुत्ती अविरदो सो ॥ वही, गा०, २६
४. जो तसवहाउ विरदो, अविरदओ तह य थावरवहादो ।
एक्कसमयमिहि जीवो, विरदाविरदो जिणेक्कमई ॥ वही गा. ३१

प्रमादों^१ के नष्ट न होने के कारण वह चित्रल^२ आचरण वाला माना गया है।^३

७. अप्रमत्तसंयत गुणस्थानः

जिस संयत सत्त्व के सम्पूर्ण व्यक्ताव्यक्त प्रमाद नष्ट हो चुके हैं, जो समग्र महाव्रत आदि मूलगुण तथा सदाचार (शील)^४ से युक्त है, शरीर और आत्मा के भेदज्ञान में तथा मोक्ष के कारणभूत ध्यान में निरन्तर लीन रहता है, ऐसा अप्रमत्त मुनि जब तक उपशमक या क्षपक श्रेणी का आरोहण नहीं करता तब तक उसको स्वस्थान अप्रमत्त कहते हैं।^५ इस स्थान का काल अन्तर्मुहूर्त मात्र ही है। यदि वह परविशुद्धि को प्राप्त कर लेता है तब ऊपर के गुणस्थानों में आरोहण करता है, अन्यथा पुनः छठे गुणस्थान में बना रहता है।

८. निवृत्तिबादर गुणस्थानः

यहां बादर का स्थूल अर्थ किया गया है और इस गुणस्थान के जब साधक सत्त्व स्थूल कषाय की पूर्ण निवृत्ति करता है, तब वह आत्मा स्थूल रूप से क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि कषायों से मुक्त हो जाती है। इस स्थान में भिन्नसमयवर्ती जीव, जो पूर्व समय में कभी भी प्राप्त नहीं हुए थे, ऐसे अपूर्व परिणामों को धारण करते हैं। इसी कारण गुणस्थान का नाम अपूर्वकरण भी मिलता है।^६

इस गुणस्थान में भिन्न समयवर्ती जीवों में विशुद्ध परिणामों की अपेक्षा कभी भी सादृश्य नहीं पाया जाता, किन्तु एक समयवर्ती जीवों में सादृश्य और वैसादृश्य दोनों ही पाए जाते हैं।^७ ध्यान रहे की यहां से दो प्रकार की श्रेणियां

१. चार विकथा—स्त्रीकथा, भक्तकथा, राष्ट्रकथा, अविनिपालकथा, चार कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ, पंच इन्द्रिय—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, एक निद्रा और एक प्रणय—ये पन्द्रह प्रकार के प्रमाद हैं। दे. वही, गा. ३४
२. चित्रल से अभिप्राय है—चितकबरा—जहां दूसरे रंग का भी सद्भाव पाया जाए। यहां इसका अभिप्राय है दोषमिश्रित।
३. वत्तावत्तपमादे, जो वसइ पमत्तसंजदो होदि।
सयलगुणसीलकलिओ, महव्वई चित्तलायरणो।। गो. जी., गा. ३३
४. असङ्गतया समशत्रुमित्रता शीलमिति। धर्मबिन्दु, ४.२६७
५. णट्ठासेसपमादो, वयगुणसीलो तिमंडिओ णाणी।
अणुवसमओ अखवओ ज्ञाणणिलीणो हु अपमत्तो।। गो. जी., गा. ४६
६. एदम्हि गुणट्ठाणे विसरिससमयट्ठयेहिं जीवेहिं।
पुव्वमपत्ता जम्हा, होंति अपुव्वा हु परिणामा।। वही, गा. ५१
७. भिण्णसमयट्ठयेहिं दु, जीवेहिं ण होदि सब्बदा सरिसो।
करणेहिं एक्कसमयट्ठयेहिं सरिसो विसरिसो वा।। गो. जी., गा., ५२

आरम्भ हो जाती हैं। मोहनीय कर्म की शेष प्रकृतियों का उपशम करने वाले उपशमक तथा चय करने वाले क्षपक कहलाते हैं।^१

६. अनिवृत्तिबादर गुणस्थान :

जिसमें स्थूल कषाय की अनिवृत्ति होती है अर्थात् कषाय थोड़ी मात्रा में रहता है, उसे अनिवृत्तिबादर गुणस्थान कहते हैं। इस अवस्था में आत्मा प्रायः कषाय से निवृत्त हो जाती है। इस अवस्था का नाम अनिवृत्तिकरण भी है। यहां निवृत्ति से अभिप्राय है—भेद तथा करण शब्द का अर्थ है—परिणाम। अतः जिन जीवों के परिणामों में भेद नहीं होता अर्थात् प्रतिसमय एक जैसे रहते हैं और जो विमलतर ध्यान रूपी अग्नि शिखा से कर्मवन को भस्म कर देते हैं, वे जीव अनिवृत्तिकरण गुणस्थान वाले कहलाते हैं।^२

१०. सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान :

साम्पराय कषाय का नाम है। जिस प्रकार धुले हुए काषाय वस्त्र में लालिमा सूक्ष्म रह जाती है, उसी प्रकार जो जीव अत्यन्त सूक्ष्म राग एवं लोभ कषाय से युक्त है, उसको सूक्ष्म साम्पराय नामक गुणस्थान वाला कहते हैं।^३ इस स्थान वाला जीव चाहे उपशम श्रेणी का आरोहण करने वाला हो अथवा क्षपक श्रेणी का आरोहण करने वाला हो, वह यथाख्यातचारित्र से कुछ ही न्यून रहता है^४ क्योंकि उस अवस्था में क्रोध, मान और माया ये तीन कषाय उपशान्त हो जाते, क्षीण हो जाते हैं, केवल सूक्ष्म लोभ के उदय का ही वेदन होता है।

११. उपशान्तकषाय गुणस्थान :

निर्मली फल से युक्त जल की तरह, अथवा शरद् ऋतु में ऊपर से स्वच्छ हो जाने वाले सरोवर के जल की तरह, सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के उपशम से उत्पन्न होने वाले निर्मल परिणामों को उपशान्त कषाय गुणस्थान कहते हैं।^५ इस अवस्था में साधक का मोहनीय कर्म पूर्णतया शान्त हो जाता है।

१. तारिसपरिणामदिठयजीवा हु जिणेहिं गलियतिमिरेहिं ।
मोहस्सपुव्वकरणा, खवणुवसमणुज्जया भणिया ॥ वही, गा. ५४
२. होंति अणियदिठणो ते, पडिसमयं जेस्सिमेव्वपरिणामा ।
विमलयरझाणहुयवहासिहाहिं णिदड्ढकम्मबणा ॥ वही, गा. ५७
३. धुतकोसुंभयवत्थं, होहि जहा सुहमरायसंजुत्तं ।
एवं सुहमकसाओ, सुहमसरागोति णादव्वो ॥ वही, गा. ५८
४. अणुलोहवेदंतो, जीवो उवसामगो व खवगो वा ।
सो सुहमसांपराओ, जहखादेणूणओ किंचि ॥ वही, गा. ६०
५. कदकफलजुदजलं वा, सरए सरवाणियं व णिम्ललयं ।
सयलोवसंतमोहो, उवसंतकसायओ होदि ॥ वही, गा. ६१

१२. क्षीणकषाय गुणस्थान :

जिस निर्ग्रन्थ का चित्त मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षीण हो जाने से स्फटिक के निर्मल पात्र में रखे हुए जल के समान हो गया है, वह क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती कहलाता है।^१ ऐसे सत्त्व की आत्मा वीतराग हो जाती है। इस गुण स्थान की अवधि पूर्ण होते ही उसके ज्ञान, सुख और वीर्य को अवरुद्ध करने वाले शत्रु स्वरूप सम्पूर्ण कर्महेतुओं का आत्यन्तिक विनाश हो जाता है।

यह गुणस्थान बड़े महत्त्व का है क्योंकि इसमें सत्त्व के गुणों में उतार-चढ़ाव आता रहता है। इस गुणस्थान में पहुँचा हुआ व्यक्ति यदि अपने साधनामार्ग से भटक जाए तो सीधा चौथे गुण स्थान में चला जाता है। यदि इस गुण स्थान को एक बार पार कर लिया जाए तब वह सत्त्व पुनः उस गुण स्थान में नहीं लौटता। वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है और एकमात्र ज्ञान को पा लेता है।

१३. सयोगकेवली गुणस्थान :

जिसका केवलज्ञान रूपी सूर्य की किरणों के समूह से अज्ञान रूपी अन्धकार सर्वथा नष्ट हो गया है और जिसको नौ प्रकार की केवललब्धियों^२ के प्रकट होने से परमात्मा की संज्ञा प्राप्त हो गई है, वह इन्द्रिय, आलोक आदि की अपेक्षा न रखने वाले ज्ञानदर्शन से युक्त होने के कारण केवली तथा योग से युक्त रहने के कारण सयोग केवली एवं घातिया कर्मों से रहित होने के कारण जिन (=अरहन्त) कहा जाता है।^३ यही तेरहवां गुणस्थान जीवन्मुक्त की अवस्था का द्योतक है।

१४. अयोगकेवली गुणस्थान :

जो अठारह हजार शील^४ के भेदों का स्वामी हो चुका है, जिसके कर्मों के आने का द्वाररूप आस्रव सदा के लिए बन्द हो गया है तथा सत्त्व और उदयरूप अवस्था को प्राप्त कर्मरूप रज की सर्वथा निर्जरा होने से जो उस कर्म से पूर्णतः मुक्त है, उस चौदहवें गुणस्थानवर्ती योगरहित केवली को अयोगकेवली कहते हैं।^५ यही सिद्धावस्था है और आध्यात्मिक विकास की

१. गिस्सेसखीणमोहो, फलिहामलभायणुदयसमचितो।
खीणकसाओ भण्णदि, गिग्गंथो वीयरसेहिं ।। वही, गा० ६२
२. दाणे लाहे भोए परिभोए वीरिए सम्मते ।
णवकेवललद्धीओ दंसण णाणे चारित्ते य ।। वसुनन्दि—श्रावकाचार, गा० ५२७
३. गो०जी०, गा० ६३-६४
४. तीन योग, तीन करण, चार संज्ञाएं, पांच इन्द्रियां, पृथ्वी आदि षट्काय और दश श्रमण धर्म—इन्हें परस्पर गुणा करने से शील के अठारह हजार भेद हो जाते हैं। दे०—मूला० वृ० गा० १० १६, तथा भावपाहुड, गा० ११८ पर टीका
५. सीलेसि संपत्तो, गिरुद्धगिस्सेसआसवो जीवो ।
कम्मरयविण्णमुक्को, गयजोगो केवली होदि ।। गो०जी०, गा० ६५

अन्तिम मंजिल भी है। यही साध्य है, धर्म का आदि तथा अन्त भी यही है।

उपर्युक्त प्रक्रिया के अनुसार सत्त्व तीसरे गुणस्थान से उठता हुआ तेरहवें गुणस्थान में पहुँच कर चार घातिया कर्मों का विनाश करके अरहन्त पद को प्राप्त करता है तथा वही चौदहवें गुणस्थान में पहुँच कर सम्पूर्ण कर्मों से मुक्त होने पर सिद्ध कहलाता है।

(ग) कर्म तथा उसके भेद :

शुभ एवं अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट एवं सम्बद्ध होकर जो पुद्गल^१ आत्मा के स्वरूप को आवृत्त करते हैं, विकृत करते हैं और शुभाशुभ फल के कारण बनते हैं, उन आत्मगृहीत पुद्गलों का नाम ही 'कर्म' है।

कर्म जब आत्मा के साथ बन्ध^२ को प्राप्त होते हैं तो वे मुख्य रूप से आठ रूपों में परिवर्तित हो जाते हैं। ये कर्मों की आठ अवस्थाएँ ही कर्मों के प्रमुख आठ भेद गिनाए गए हैं वे हैं (१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम, (७) गोत्र और (८) अन्तराय कर्म।^३ इन आठ भेदों को मूल कर्मप्रकृति तथा इनके अवान्तर भेदों को उत्तर कर्मप्रकृति कहा जाता है।^४ यहाँ प्रकृति से अभिप्राय है—वस्तु का स्वभाव।

इन आठ प्रकार के कर्मों को दो भागों में बांटा गया है—(१) घातिया कर्म और (२) अघातिया कर्म।

(अ) घातिया कर्म:

जो कर्म पुद्गल आत्मा से चिपक कर आत्मा के मुख्य या स्वाभाविक गुणों का घात (विनाश) करते हैं, उनका हनन करते हैं, वे घातिया कर्म कहलाते हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय—ये चार घातिया कर्म हैं। इन कर्मों का समूल विनाश होने पर ही आत्मा स्वस्वरूप में प्रगट हो जाती है। आत्मा का यही प्रगटपना सर्वज्ञत्वमय होता है।

१. जिनमें पूरण—नये परमाणुओं का संयोग और गलन—संयुक्त परमाणुओं का वियोग होता है उन्हें पुद्गल कहा जाता है। त०सा० ३.५५

२. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते। स बन्धः।

त०सू० ८.२-३

३. नाणस्सावरणिज्जं दंसणावरणं तहा।

वेयणिज्जं तहा मोहं आउकम्मं तहेव य।।

नामकम्मं च गोयं च अन्तरायं तहेव य।

एवमेयाइ कम्माइ अट्ठेव उ समासओ।। उ० ३३.२-३

४. एयाओ मूलपयडीओ उत्तराओ य आहिया। वही, ३३.१६

(आ) अघातिया कर्म :

जो कर्म आत्मा के गुणों का घात नहीं करते, उनको किसी भी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाते—वे अघातिया कर्म कहलाते हैं। घातिया कर्मों का अभाव होने पर ये कर्म नहीं पनपते, उसी जन्म में क्षीण हो जाते हैं। वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र—ये चार अघातिया कर्म हैं।

जैनों के द्वारा मान्य इन घातिया और अघातिया कर्मों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—

३ ज्ञानावरणीय कर्म :

जो आत्मा में रहने वाले ज्ञानगुण को प्रकट नहीं होने देता उसे ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। ज्ञान के मुख्य पांच प्रकारों के आधार पर ज्ञानावरणीय कर्म के भी पांच अवान्तर भेद होते हैं^१—

(१) आभिनिबोधिकज्ञानावरण (मतिज्ञानावरण)

यह इन्द्रियजन्य ज्ञान का आवरक कर्म है।

(२) श्रुतज्ञानावरण :

यह शास्त्र ज्ञान का आवरक कर्म होता है।

(३) अवधिज्ञानावरण :

यह इन्द्रिय इत्यादि की सहायता के बिना होने वाले यौगिक प्रत्यक्ष ज्ञान का आवरक कर्म होता है।

(४) मनःपर्ययज्ञानावरण :

यह इन्द्रिय आदि की सहायता के बिना दूसरे के मनोगत भावों को जानने वाले ज्ञान का आवरक कर्म होता है।

(५) केवलज्ञानावरण :

यह इन्द्रियादि की सहायता के बिना होने वाले त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों की समस्त अवस्थाओं के ज्ञान का आवरक कर्म होता है।

१. नाणावरणं पंचविहं सुयं आभिणिबोहियं ।
ओहिनाणं तईयं मणनाणं च केवलं ।। उ० ३३.४

२. दर्शनावरणीय कर्म :

जो पदार्थों के सामान्य ज्ञान या आत्मबोधरूप दर्शन गुण का आवरक है उसे दर्शनावरणीय कर्म माना गया है। इसके नौ अवान्तर भेद बतलाए गए हैं—

(१) **चक्षुर्दर्शनावरण**— जो चक्षु द्वारा होने वाले सामान्य अवलोकन को न होने दे, वह चक्षुर्दर्शनावरण है।

(२) **अचक्षुर्दर्शनावरण**— जो चक्षु को छोड़कर अन्य इन्द्रियों से होने वाले सामान्य अवलोकन को न होने दे वह अचक्षुर्दर्शनावरण है।

(३) **अवधिदर्शनावरण**— जो अवधिज्ञान से पहले होने वाले सामान्य अवलोकन को न होने दे वह अवधिदर्शनावरण है।

(४) **केवलदर्शनावरण**— जो केवलज्ञान के साथ होने वाले सामान्य दर्शन को रोके वह केवलदर्शनावरण है।

(५) **निद्रा**— जिस कर्म के उदय से ऐसी निद्रा आए कि सुखपूर्वक जागा जा सके वह निद्रावेदनीय दर्शनावरण है।

(६) **निद्रा-निद्रा**— जिस कर्म के उदय से निद्रा से जागना अत्यन्त कठिन हो वह निद्रानिद्रावेदनीय दर्शनावरण है।

(७) **प्रचला**— जिस कर्म के उदय से बैठे-बैठे या खड़े-खड़े ही नींद आ जाए वह प्रचलावेदनीय दर्शनावरण है।

(८) **प्रचला-प्रचला**— जिस कर्म के उदय से चलते-चलते ही नींद आ जाए वह प्रचलाप्रचलावेदनीय दर्शनावरण है।

(९) **स्त्यानगृद्धि**— जिस कर्म के उदय से जाग्रत अवस्था में सोचे हुए कार्य को निद्रावस्था में करने का सामर्थ्य प्रकट हो जाए वह स्त्यानगृद्धि दर्शनावरण है।^१

३. वेदनीय कर्म :

जिस कर्म के उदय से सुख या दुःख की अनुभूति होती है, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। सुख और दुःखरूप अनुभूति होने के कारण इसके दो भेद किए

१. चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धिवेदनीयानि च।
त०सू० ८.८

२. दे०—त०वृ० ८.७

गए हैं । वे हैं— सातावेदनीय और असातावेदनीय ।^१

(१) सातावेदनीय-जिसके उदय से प्राणी सुख का अनुभव करे वह सातावेदनीय कर्म है ।

(२) असातावेदनीय—जिसके उदय से प्राणी को दुःख का अनुभव हो वह असातावेदनीय कर्म है ।^२

इन दोनों के कई अवान्तर भेद भी हो सकते हैं । उत्तराध्ययनसूत्र में असातावेदनीय रूप से क्रोध, मान, माया और लोभवेदनीय का उल्लेख मिलता है^३ । पुण्यरूप और पापरूप जितने भी कर्म सम्भव हैं वे सब इनके अवान्तर भेद हो सकते हैं ।^४

४. मोहनीय कर्म:

जिस कर्म के उदय से जीव अपने स्वरूप को भूलकर परपदार्थों में ममत्व रखे, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं । इस कर्म के प्रभाव से जीव विषयों में आसक्त रहता है और उसे अपनी मूढ़ता का पता नहीं रहता । यह कर्म सब कर्मों में प्रधान है क्योंकि इस कर्म के नष्ट होते ही अन्य कर्म भी जल्दी ही क्षीण हो जाते हैं ।^५

तत्त्वों में श्रद्धान और सदाचार में प्रवृत्ति न होने के कारण मोहनीय कर्म के मुख्य दो भेद किए गए हैं (१) दर्शनमोहनीय और (२) चारित्रमोहनीय ।^६

दर्शनमोहनीय कर्म के तीन अवान्तर भेद हैं—(१) सम्यक्त्व मोहनीय, (२) मिथ्यात्व मोहनीय, (३) सम्यक्त्वमिथ्यात्व मोहनीय ।^७

चारित्रमोहनीय कर्म के पच्चीस अवान्तर भेद हो जाते हैं । सोलह कषाय-क्रोध, मान, माया और लोभ ये कषाय के मुख्य चार भेद हैं । तीव्रता के तरतमभाव की दृष्टि से प्रत्येक के (१) अनन्तानुबन्धी, (२) अप्रत्याख्यानावरण, (३) प्रत्याख्यानावरण, और (४) संज्वलन के भेद से चार-चार और भेद हो जाते हैं, । नौ कषाय (ईषत् मनोविकार) — (१) हास्य, (२) रति, (३) अरति, (४) शोक, (५) भय, (६) जुगुप्सा, (७) स्त्रीवेद, (८) पुरुषवेद और (९) नपुंसकवेद । इस प्रकार इन सभी

१. वेदणीयं पि यदुविहं सायमसायं च आहियं । उ० ३३.७

२. दे०—त०वृ० ८.८

३. दे०—उ० २६.६८—७१

४. दे०—कर्मप्रकृति, प्रस्तावना, पृ० २५

५. लोभविजएण संतोसीभावं जणयइ, लोभवेयणिज्जं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ । । उ० २६.७१

६. मोहणिज्जं पि दुविहं दंसणे चरणे तथा । । उ० ३३.८

७. सम्मतं चेव मिच्छतं सम्मामिच्छत्तरमेव य ।

एयाओ तित्ति पयडीओ मोहणिज्जस्स दंसणे । । वही, ३३.६

को मिलाकर मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियां बतलाई गयी हैं ।^१

५-आयु कर्म :

जिस कर्म के उद्दय से जीव के जीवन (आयु) की अवधि निश्चित होती है उसे आयु कर्म कहते हैं । गतियों के आधार पर इसके भी चार भेद हो जाते हैं जैसे (१) नरकायु, (२) तिर्यञ्चायु, (३) मनुष्यायु और (४) देवायु ।^२

उत्तराध्ययन सूत्र में सूत्रार्थ चिन्तन का फल बतलाते हुए लिखा है कि सूत्रार्थ के चिन्तन से जीव आयु कर्म को छोड़कर शेष ज्ञानावरण आदि सात कर्मों की प्रकृतियों के प्रगाढ़ बन्धन को शिथिल कर देता है । आयु कर्म का बन्धन कदाचित् करता है और कदाचित् नहीं भी करता है ।^३ इससे यह स्पष्ट है कि आयु कर्म अन्य सात कर्मों से कुछ भिन्न प्रकार का है । **उत्तराध्ययन सूत्र** के टीका आदि ग्रन्थों से भी पता चलता है कि आयु कर्म का जीवन में केवल एक ही बार बन्ध होता है जबकि अन्य कर्मों का बन्ध सदैव होता रहता है ।^४

१. दर्शनचारित्रमोहनीयकषायनोकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विषोडश नवभेदाः
सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानिकषायनोकषायानन्तानुबन्धप्रत्याख्यानप्रत्या-
ख्यानवरणसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभा हास्यर-
त्यरतिशोकभय-जुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदाः । त०सू० ८.१०
२. नेरइय-तिरिक्खाउ मणुस्साउ तहेव य ।
देवाउयं चउत्थं तु आउकम्मं चउव्विहं । । उ० ३३.१२
३. अणुपेहाएणंआउयवज्जाओ सत्तकम्मणबडीओ घणियबन्धणबद्धाओ सिद्धिल बन्धणबद्धाओ पकरेइ । आउयं च णं कम्मं सिय बन्धइ, सिय नो बन्धइ । उ० २६.२३
४. आयु कर्म का बन्ध सम्पूर्ण आयु का तृतीय भाग शेष रहने पर होता है । जैसे किसी जीव की आयु ६६ वर्ष की है तो वह ३३ वर्ष की आयु के शेष रहने पर ही अगले भव के आयु कर्म का बन्ध करेगा ।
यदि उस समय आयु कर्म के बन्ध का निमित्त नहीं मिलेगा तो वह जीव अवशिष्ट आयु के त्रिभाग में अर्थात् ११ वर्ष शेष रहने पर आयु कर्म का बन्ध करेगा ।
यदि पुनः आयु कर्म के बन्ध का निमित्त नहीं मिलता तब वह जीव अवशिष्ट आयु के त्रिभाग अर्थात् ३-२/३ वर्ष शेष रहने पर आयु कर्म का बन्ध करेगा ।
विषमक्षण आदि से अकाल-मृत्यु होने पर जीव उपर्युक्त नियम का उल्लंघन करके तत्क्षण ही आयु कर्म का बन्ध कर लेता है ।
सामान्यावस्था इस तरह आयु कर्म के बन्ध का निमित्त न मिलने पर यह आयु के अन्तिम भाग तक चलता रहेगा उपर्युक्त क्रमानुसार ही आयु कर्म का बन्ध होता है फिर भी इतना अवश्य है कि आयुष्कर्म का बन्ध जीवन में केवल एक बार ही होता है । इस कर्म के बन्ध होने पर जीवन की आयु-सीमा घट अथवा बढ़ भी सकती है परन्तु नरकादि चतुर्विधरूप से जो आयु कर्म का बन्ध हो जाता है वह बहुत प्रयत्न करने पर भी नहीं टलता ।

६. नाम कर्म :

जो कर्म शरीर, इन्द्रियादि की रचना का हेतु हैं उसे नाम कर्म कहते हैं। इसके शुभ और अशुभ के भेद से प्रथमतः दो भेद माने गए हैं।^१ फिर उसके बयालिस अवान्तर भेद बतलाए गए हैं।^२ वे हैं—गति, जाति, शरीर, अङ्गो पाङ्ग, निर्माण, बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छवास, विहायोगति तथा साधारण और प्रत्येक, स्थावर और त्रस, दुर्भग और सुभग, दुःस्वर और सुस्वर, अशुभ और शुभ, बादर और सूक्ष्म, अपर्याप्त और पर्याप्त, अस्थिर और स्थिर, अनादेय और आदेय, अयश और यश एवं तीर्थकरत्त्व।^३

७. गोत्र कर्म :

जिस कर्म के उदय से उच्च अथवा निम्न जाति, कुल आदि की प्राप्ति हो उसे गोत्रकर्म कहते हैं। इसके दो भेद किए गए हैं—(१) उच्च गोत्र और (२) नीच गोत्र।^४ प्रतिष्ठा प्राप्त कराने वाले कुल में जन्म दिलाने वाला कर्म उच्च गोत्र और शक्ति रहने पर भी प्रतिष्ठा न मिल सके, ऐसे में कुल में जन्म दिलाने वाला कर्म नीच गोत्र कहलाता है।^५

८. अन्तराय कर्म :

जिस कर्म के उदय से सभी कारणों के अनुकूल रहने पर भी कार्य सिद्ध नहीं होता उसे अन्तराय कर्म कहते हैं।^६ सके पांच भेद बतलाए गए हैं वे हैं—
१. दान, २. लाभ, ३. भोग, ४. उपभोग और ५. वीर्य शक्ति।^७

जो कर्म कुछ भी देने में अन्तराय (विघ्न) पैदा करता है वह दानान्तराय, जो लेने में अन्तराय पैदा करता है वह लाभान्तराय, जो किसी वस्तु (फल आदि) को एक बार भोगने में अन्तराय पैदा करता है वह भोगान्तराय, जो किसी वस्तु (=वस्त्र आदि) को बार—बार भोगने में अन्तराय पैदा करता है वह उपभोगान्तराय और जो सामर्थ्य में अन्तराय पैदा करता है, वह वीर्यान्तराय कहलाता है।^८

इस तरह आठ प्रकार के मूल कर्मों तथा उनके अवान्तर भेदों का विवेचन

१ नाम कर्म तु दुविहं सुहमसुहं च आहियं । उ० ३३.१३

२ दे०—त०सू० ८.१२

३ विस्तार के लिए दे०—(संघवी), त०सू०, पृ० १६६—२००

४ गौर्य कर्मं दुविहं उच्चं नीयं च आहियं । उ० ३३.१४

५ दे०—(संघवी), त०सू०, पृ० २००

६ दाणे लाभे य भोगे य उवभोगे वीरिए तहा ।

पंचविहमन्तरायं समासेण वियाहियं । उ० ३३.१५

७ दे०—(संघवी), त०सू०, पृ० २००

किया गया है। दिगम्बर और श्वेताम्बर कर्म—ग्रन्थों में भूल—कर्म के आठ भेदों में तो कोई अन्तर नहीं पाया जाता, परन्तु उनके अवान्तर भेदों और उनके स्वरूप में किञ्चित् अन्तर अवश्य पाया जाता है^१

(ई) कर्मक्षय का क्रम :

कर्मों के क्षय का भी एक विशेष क्रम है। जब यह आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र से सम्पन्न होता है तब आस्रव से रहित होने के कारण उसके नवीन कर्मों की सन्तति कट जाती है तथा जब यह आत्मा तप आदि कर्म—क्षय के कारणों के द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करने लगता है तब संसार का बीजभूत मोहनीयकर्म पूर्ण रूप से क्षय (नष्ट) हो जाता है। तदनन्तर अन्तराय, ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय ये तीनों कर्म भी एक साथ निखिल रूप से नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार गर्भ के नष्ट होने पर बालक मर जाता है उसी प्रकार मोहनीय कर्म के नष्ट होने पर उक्त कर्म भी स्वतः क्रमशः नष्ट हो जाते हैं। ऐसा कर्मक्षयी आत्मा ही सर्वज्ञ, केवली एवं अरहन्त कहलाता है।^२

(घ) केवलज्ञान :

अरिहन्त भगवान् केवलज्ञानी होते हैं। यह केवलज्ञान क्या है ?

यहां केवलज्ञान का स्वरूप बतलाते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि 'केवली अर्थात् एक मात्र ज्ञान का धारी, ज्ञानी मूर्त—अमूर्त^३, चेतन—अचेतन, स्वज्ञेय तथा परंज्ञेय समस्त पदार्थों को देखने और जानने वाला होता है। उसका यह ज्ञान अतीन्द्रिय है और प्रत्यक्ष होता है।^४ आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के अनुसार केवलज्ञान का एक मात्र विशुद्ध, अनन्त एवं असहाय (=उत्पत्ति में अन्य किसी की सहायता से रहित) होता है।^५ ज्ञानावरण का विलय तथा उसके अवान्तर भेदों के मिट जाने पर एकमात्र ज्ञान और अशुद्धि के अंशमात्र के भी उसमें न रह जाने से वह केवलज्ञान कहलाता है—शुद्धम्-निर्मलम् सकेलावरणमकलंकविगमसम्भूतत्वात्।^६

इस ज्ञान के विषय में आचार्य नरेन्द्र सेन लिखते हैं कि केवलज्ञान के

१. दे०—कर्मप्रकृति, प्रस्तावना, पृ० २३-२५

२. दे० त०सा० ८.२०-२५

३. धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय ये चार द्रव्य अमूर्त (अरूपी) हैं, पुद्गल मूर्त है। दे०—त०सू० ५.३-४

४. मुत्तममुत्तं दव्वं चेयणमियरं सगं च सव्वं च ।

पेच्छंतस्स दु णाणं पच्चक्खमणिंदियं होइ ।। नियम०, गा० १६७

५. केवलमेगं सुद्धं सगलमसाहारणं अणन्तं च । विशेष०, गा०, ८४

६. वही, वृत्ति

उपलब्ध होते ही सम्पूर्ण ज्ञानावरणों का क्षय हो जाता है और इससे लोक और अलोक प्रकाशित हो जाते हैं। ऐसा यह एकमात्र ज्ञान केवलज्ञान है।^१

गोम्मटसार में इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि केवलज्ञान सम्पूर्ण, समग्र, केवल, प्रतिपक्षरहित, सर्वपदार्थगत और लोकालोक में अन्धकाररहित होता है—

संपुण्णं तु समगं केवलसमवत्तं सब्बभावगयं ।
लोयालोयवित्तिमिरं, केवल्णाणं मुणेदब्बं ॥^२

१. सम्पूर्णज्ञान : केवलज्ञान

यह केवलज्ञान समस्त पदार्थों को विषय करने वाला और लोकालोक के विषय में आवरणरहित है तथा जीवद्रव्य की ज्ञानशक्ति के जितने अंश हैं वे यहां पर पूर्णरूप से व्यक्त हो जाते हैं, इसी से इसे सम्पूर्ण ज्ञान कहा गया है।

२. समग्रज्ञान : केवलज्ञान

मोहनीय और अन्तराय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने के कारण वह अप्रतिहत शक्ति वाला और निश्चल है। इसी से इसे समग्रज्ञान कहते हैं।

३. केवल : केवलज्ञान

केवलज्ञान इन्द्रियों की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता इसलिए वह केवल है।

४. अप्रतिपक्ष : केवलज्ञान

केवलज्ञान चारों घातिया कर्मों के सर्वथा क्षय होने से क्रम, करण और व्यवधान से रहित है, फलतः युगपत् और समस्त पदार्थों के ग्रहण करने में उसका कोई बाधक नहीं है। अतः उसको अप्रतिपक्ष (असपत्न) कहा गया है।

भगवती आराधना में भी इस विषय पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। यहां बतलाया गया है कि चारों घातिया कर्मों के क्षय हो जाने पर विशद केवलज्ञानी और विशुद्ध केवलज्ञानी उत्पन्न होता है। वह केवलज्ञानी सब द्रव्यों को त्रिकालगोचर सब पर्यायों को जानता है। इसीलिए इसको सर्वपर्यायनिबद्ध कहा है। केवलज्ञानी केवल एक है, तथा शुद्ध, अव्याबाध, सन्देहरहित, उत्तम, असंकुचित, सकल, अनन्त, अविनाशी एवं विचित्र ज्ञान

१. लोकालोकप्रकाशात्मा केवलज्ञानमुत्तमम् ।

केवलं जायते यस्मादशेषावरणक्षयात् ॥ सिद्धान्तसारसंग्रह, २.१६६

२. गो०जी०, गा० ४६०

है। ऐसे इस केवलज्ञान से केवलज्ञानी तीनों कालों सहित इस समस्त लोक और अलोक को एक साथ (युगपत्) जानता है।^१

केवल का अर्थ है—असहाय। केवलज्ञानी इन्द्रियों की सहायता से रहित है, इसी से इसका नाम केवल है। यह ज्ञान राग आदि मल से रहित होने से शुद्ध है। व्याघात से रहित है, किसी अन्य ज्ञान के इसमें बाधा न डालने से यह अव्याबाध ज्ञान कहलाता है। निश्चयात्मक होने से यह सन्देहरहित होता है। श्रुतादि सभी अन्य ज्ञानों में प्रधान होने से यह उत्तम है। सब द्रव्यों और पर्यायों में प्रवर्तमान होने से मतिज्ञान आदि के विषयों की तरह उसका विषय अल्प नहीं है, तथा एक आत्मा में स्वयं ही होने से एक है। सम्पूर्ण आत्मस्वरूप होने से सकल है। अनन्त प्रमाण वाला होने से अनन्त है। यह केवलज्ञान विनाशरहित होने से अविनाशी कहलाता है एवं विचित्र द्रव्य पर्यायरूप से प्रतिभासमान होने से वह चित्रपट की तरह विचित्र नानारूप है।

अरहन्त भगवान् ऊपर वर्णित केवलज्ञान से संयुक्त होते हैं। अतः उन्हें सर्वव्याप्त, सर्वदर्शी एवं सर्वज्ञ स्वीकार किया गया है।

(ङ) अरहन्तः सर्वज्ञः

जैनों के मत में कर्मों का नाश करके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से सर्वथा विशुद्ध आत्मा ही सर्वज्ञ होता है। आचार्य हेमचन्द्र लिखते हैं कि जो सब कुछ जानता है, रागादि दोषों को जीत चुका है, तीनों लोकों में पूजित है, वस्तुएं जैसी हैं उन्हें उसी प्रकार प्रतिपादित करता है, वही परमेश्वर अरिहन्त देव सर्वज्ञ है।^२ वह त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती समस्त द्रव्यों एवं उनके समस्त पर्यायों को एक साथ जानता है।^३ सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों को जैसे हम पृथक्जन अनुमान से जानते हैं, वैसे ही वे उन्हें प्रत्यक्ष रूप से

१. तत्तो णंतरसमए उप्पज्जदि सव्वपज्जयणिवधं ।
केवलणाणं सुद्धं तघ केवलदंसणं चेव ॥
अव्वाबाधादमसदिद्धमुत्तमं सव्वदो असंकुडिदं ।
एयं सयलमणंतं अणियत्तं केवलं णाणं ॥
चित्तपडं व विचित्तं तिकालसहिदं तदो जगमिणं सो ।
सव्वं जुगवं पस्सदि सव्वमलोगं च सव्वत्तो ॥
भग० आ०, गा० २०६ ७—६६
२. सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः ।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः ॥
(हेमचन्द्र), योगशास्त्र, २.४
३. जं तक्कालियमिदरं जाणादि जुगवं समंतदो सव्वं ।
अत्थ विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं ॥ प्रवचनसार, १.४७

साक्षात्कार कर लेते हैं ।^१

जैन कहते हैं कि आत्मा की ऐसी अवस्था अवश्य होती है, जहां दोषों और आवरणों की हानि का चरम प्रकर्ष दृष्टिगोचर होता है । जिस प्रकार सोने को आग में तपाने से उसमें मिले हुए मैल के जल जाने पर सोना शुद्ध हो जाता है और उसके स्वाभाविक गुण निखर उठते हैं उसी प्रकार ध्यानाग्नि द्वारा कर्ममल के जल जाने पर आत्मा भी विशुद्ध एवं विशद हो जाती है और अपने स्वाभाविक गुणों से देदीप्यमान हो उठती है ।^२

आचार्य मल्लिषेण लिखते हैं कि 'जो पदार्थ एक देश से नष्ट हो जाते हैं, उनका पूर्ण रूप से नाश भी उसी प्रकार हो जाता है जिस प्रकार मेघों के पटलों का आंशिक विनाश होने से उनका सर्वथा विनाश हो जाता है ।' इसी प्रकार राग, द्वेष, मोह आदि का आंशिक विनाश हो जाने पर उनका सर्वथा विनाश हो जाता है ।^३ इस तरह आत्मा के समस्त दोष एवं आवरणों के नष्ट हो जाने पर वह अपने स्वाभाविक गुणों से प्रकाशित हो जाती है, यही उसकी आत्मज्ञत्व, सर्वज्ञत्व एवं कैवल्य की अवस्था है । इस तरह से अरहन्त सर्वज्ञ के अस्तित्व की पूर्ण सिद्धि होती है ।

आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि 'जिसके वचन युक्ति एवं शास्त्र के विरुद्ध न हों, उसे निर्दोष मानने में किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती अर्थात् निर्दोष वक्ता और शास्त्रज्ञाता ही सर्वज्ञ है ।'^४ आचार्य प्रभाचन्द्र का भी यही अभिमत है कि कोई आत्मा सम्पूर्ण पदार्थों का साक्षात्कार करने वाला अवश्य है क्योंकि उसका स्वभाव उनको ग्रहण करने का है और उसमें प्रतिबन्ध के कारण नष्ट हो गए हैं । जिस प्रकार चक्षु का स्वभाव रूप को साक्षात्कार करने का है और रूप के साक्षात्कार करने में प्रतिबन्धक कारणों के अभाव में चक्षु रूप का साक्षात्कार करती है उसी प्रकार प्रतिबन्धक कारणों के अभाव में आत्मा भी समस्त पदार्थों का साक्षात्कार करती है ।^५

१. सूक्ष्मान्तरित-दूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा ।

अनुमेयत्वतोऽन्यादिरिति सर्वज्ञ-संस्थितिः ।।

आप्त-मीमांसा, का० ५

२. दोषाऽवरणयोर्हानिर्निःशेषऽस्त्यतिशायनात् ।

क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्ष्यः ।। वही, का० ४

३. देशतो नाशिनो भावा दृष्टा निखिलनश्वराः ।

मेघपङ्क्त्यादयो यद्वत् एवं रागादयो मताः ।।

स्याद्वादमंजरी, पृ० ७६

४. सः त्वमेवाऽसि निर्दोषो युक्ति-शास्त्राऽविरोधवाक् । आप्त-मीमांसा, का० ६

५. सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्, यद् यद् ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्यय तत् तत् साक्षात्कारि यथा अपगततिमिरादिप्रतिबन्धं लोचनविज्ञानं रूपसाक्षात्कारि । प्रमेयकमल मार्तण्ड, पृ० २५५.

आचार्य अकलंक देव की दृष्टि में भी जब चैतन्य के प्रतिबन्धक कर्मों का पूर्ण रूप से क्षय हो जाता है, तब वह सत्त्व (=विशुद्ध आत्मा) समस्त अर्थों को जानने वाला बन जाता है।^१ यदि उस सर्वज्ञ आत्मा के अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान न माना जाए तब वह सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिर्ग्रहों का तथा भूत-भविष्यत् आदि दशाओं का ज्ञाता, द्रष्टा एवं वक्ता कैसे हो सकेगा? ज्योतिर्ज्ञान उपदेश अविसंवादी और यथार्थ देखा जाता है।^२ अतः यह मानना ही समुचित है कि उसका यथार्थ उपदेश अतीन्द्रियार्थ के बिना नहीं हो सकता जैसे सत्यस्वप्न दर्शन इन्द्रियादि की सहायता के बिना ही भावी राज्यलाभ-सुख आदि का यथार्थ स्पष्ट ज्ञान कराता है तथा विशद है, उसी तरह सर्वज्ञ का ज्ञान भी भावी पदार्थों में संवादक और स्पष्ट होता है। सर्वज्ञ के अस्तित्व की सिद्धि में इस तरह कोई भी बाधक प्रमाण नहीं है। अतः उसकी निर्बाध सत्ता सिद्ध हो जाती है^३ तथा यही स्वस्वभाव को प्राप्त सर्वज्ञ ही तीनों लोकों के अधिपतियों द्वारा पूजा जाता हुआ स्वयंभू भी कहलाता है।^४

घ. अरहन्तः तीर्थकर :

यद्यपि जैनधर्म में तीर्थकर की अवधारणा अत्यधिक प्राचीन है, फिर भी प्राचीन जैन-ग्रन्थों के अवलोकन से ऐसा लगता है कि इसका एक क्रमिक विकास हुआ है। आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध एवं सूत्रकृतांग जैसे जैनो के प्राचीनतम ग्रन्थों में हमें तीर्थकर शब्द ही नहीं मिलता है। जबकि वहां अरहन्त शब्द विद्यमान है। सबसे पहले उत्तराध्ययनसूत्र में महावीर और पार्श्व के विशेषण के रूप में धर्म-तीर्थकर शब्द प्रयुक्त हुआ है और यहां यह पद जिन तथा अरहन्त का पर्यायवाची है^५ परन्तु परवर्ती जैन-वाङ्मय में कुछ अन्तर उपलब्ध होता है।

अरहन्त शब्द व्यापक है तो तीर्थकर पद व्याप्य। अरहन्त की भूमिका में तीर्थकर अरहन्त भी आ जाते हैं और दूसरे सब केवली अरहन्त भी। तीर्थकर और केवली अरहन्तों में आत्म-विकास की दृष्टि से कुछ भी अन्तर नहीं है।

१. सर्वार्थग्रहसामर्थ्यचैतन्यप्रतिबन्धिनाम् ।
कर्मणां विगमे कस्मात् सर्वानर्थान् पश्यति ।। न्यायविनिश्चय, श्लो० ३.२४
२. धीरत्यन्तपरोक्षेऽर्थे न चेतुषां कुतः पुनः ।
ज्योतिर्ज्ञानाविसंवादः श्रुताच्चेत्साधनान्तरम् ।।
सिद्धिविनिश्चयटीका, पृ० ५२६
३. अस्ति सर्वज्ञः सुनिर्णीतासम्भवदबाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत् । वही, पृ० ५३२
४. तह सो लद्धसहावो सब्वण्हू सब्वलोगपदिमहिदो ।
भूदो सयमेवादा हवदि सयंभु ति णिदिदट्ठो ।। प्रवचनसार, १.१६
५. जिणे पासे ति नामेण अरहा लोगपूइओ ।
संबुद्धप्पा य सब्वन्नू धम्मतिथयरे जिणे ।। उ० २३.१ तथा दे० २३.५

सभी अरहन्त अन्तरंग में समान भूमिका पर होते हैं। सभी का ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य समान ही होता है। सब के सब अरहन्त क्षीणमोह गुणस्थान पार करने पर सयोगकेवली गुणस्थान में पूर्ण वीतरागी होते हैं। कोई भी न्यूनाधिक नहीं होता क्योंकि क्षायिकभावं में कोई तरतमता नहीं होती है।

अरहन्त पद पर पहुंचे हुए व्यक्ति जब चतुर्विध संघ की स्थापना करते हैं और धर्म—देशना करते हैं तब वे ही तीर्थंकर कहे जाते हैं। सभी तीर्थंकर केवली और अरहन्त होते हैं परन्तु सभी केवली अरहन्त तीर्थंकर हों, सो ऐसा नहीं है। तीर्थंकर एक समय में एक ही होता है जबकि केवली एक अरहन्त तीर्थंकर के समय में अनेक हो सकते हैं। तीर्थंकर पार्श्वनाथ^१ के समय में १००० तथा महावीर^२ के समय में ७०० केवली अरहन्त थे।

जैनेन्द्र सिद्धान्तकोष में वर्णित हैं कि वे अरहन्त जिनके विशेष पुण्य के कारण कल्याणक महोत्सव मनाए जाते हैं, तीर्थंकर कहलाते हैं। शेष सामान्य अरहन्त ह्येते हैं। केवलज्ञानी अर्थात् सर्वज्ञत्व से युक्त होने के कारण उन्हें ही केवली कहते हैं।^३

आचार्य हरिभद्रसूरि तीर्थंकर और सामान्य केवली के आदर्शों के आधार पर उनमें अन्तर बतलाते हुए कहते हैं कि 'जो करुणा से युक्त हैं, जो परार्थ को ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाते हैं, सत्त्वों के कल्याण की कामना ही जिसका एकमात्र कर्तव्य है और जो अपनी आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त करने के पश्चात् ही सत्त्वहित के लिए धर्मतीर्थ की स्थापना करता है, वह तीर्थंकर कहलाता है' परन्तु जो साधक आत्म कल्याण को ही अपना लक्ष्य बनाता है और इसी आधार पर साधना करते हुए आध्यात्मिक परिपूर्णता हासिल करता है, वह सामान्य केवली कहा जाता है। जैनों की पारिभाषिक शब्दावली में उसे मुण्डकेवली भी कहते हैं।^४

उपाध्याय अमरमुनि तीर्थंकर और अरहन्त में भेद स्पष्ट करते हुए बड़े ही सरल शब्दों में लिखते हैं कि अनेक लोकोपकारी सिद्धियों के स्वामी तीर्थंकर

१. दे० समवाओ, प्रकीर्णक सूत्र ६२

२. वही, सूत्र ३८

३. दे० जैनेन्द्र सिद्धान्तकोष, भाग-१, पृ० १४०, भाग-२, पृ० १५७

४. करुणादिगुणोपेतः, परार्थव्यसनी सदा।

तथैव चेष्टते धीमान्, वर्धमान महोदयः॥

तत्तत्कल्याणभोगेन कुर्वन्सत्त्वार्थमेव सः।

तीर्थकृत्वमवाप्नोति, परं सत्त्वार्थसाधनम्॥ योगबिन्दु, २८ ७-८८

५. संविज्ञो भवनिर्वेदादात्मनि सरणं तु यः।

आत्मार्यं सम्प्रवृत्तोऽसौ सदा स्यान्मुण्डकेवली॥ वही, २८६

होते हैं, जबकि दूसरे मुक्त होने वाले आत्मा ऐसे नहीं होते अर्थात् न तो वे तीर्थकर जैसे महान धर्म—प्रचारक ही होते हैं और न ही वे इतनी अलौकिक योग—सिद्धियों के स्वामी ही होते हैं। साधारण मुक्त जीव अपना आत्मिक विकास का लक्ष्य अवश्य प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु जनता पर अपना चिरस्थायी एवं अक्षुण्ण आध्यात्मिक प्रभुत्व नहीं जमा पाते। यही एक विशेषता है जो तीर्थकर और अन्य मुक्त आत्माओं में भेद करती हैं।^१

इस प्रकार अरहन्त और तीर्थकर में अन्तर केवल इतना ही है कि अरहन्त स्वयं अपनी ही मुक्ति की कामना करते हैं और तीर्थकर स्वयं संसार—सागर से पार होने के साथ—साथ दूसरों को भी पार लगाते हैं परन्तु आध्यात्मिक विकास की पूर्णता की दृष्टि से वे एक समान ही होते हैं।

१. तीर्थङ्कर :

तीर्थङ्कर दो शब्दों के मेल से बना है—तीर्थ और कर। तीर्थ शब्द 'तृ' धातु से 'थक्' प्रत्यय के लगाए जाने पर निष्पन्न होता है। इस शब्द की व्युत्पत्ति व्याकरण की दृष्टि से इस प्रकार है—'तीर्यते अनेन इति तीर्थम्' अर्थात् जिसके द्वारा अथवा जिसके आधार से तरा या तैरा जाए, वह 'तीर्थ' है।

तैरने की क्रिया दो प्रकार से होती है। एक तो जलाशय में भरे हुए पानी को पार करने से और दूसरी संसाररूपी सागर को तैरने से। इन दोनों क्रियाओं में से प्रथम क्रिया जिस स्थान से होती है उसे लौकिक 'तीर्थ' कहते हैं जबकि द्वितीया क्रिया जिसके आश्रय से अथवा जिस स्थान से होती है, उसे लोकोत्तर 'तीर्थ' कहते हैं।

लोक व्यवहार में 'तीर्थ' शब्द पवित्र स्थान, सिद्ध क्षेत्र अथवा नदी या सरोवर के तटवर्ती घाट अथवा समुद्र में ठहरने के स्थान के अर्थ में प्रयुक्त होता है, परन्तु वर्तमान सन्दर्भ में 'तीर्थ' का सम्बन्ध लोकोत्तर तीर्थ से ही है।

जैन शास्त्रों में तीर्थ शब्द का अर्थ इस प्रकार मिलता है—

जो इस संसार समुद्र से पार करे, वह 'तीर्थ' है^२ अथवा यह संसार रूपी समुद्र, जिस निमित्त से तैरा जाए, वह तीर्थ है। संसारो द्वादशाङ्गश्रुत का आश्रय लेकर भवसागर से पार होते हैं। अतएव वह द्वादशाङ्गश्रुत ही 'तीर्थ' है।^३ आचार्य धनञ्जय का भी यही अभिमत है।^४ श्री योगीन्दु के अनुसार तो आत्मा

१. दे० जैनत्व की झांकी, पृ० ५३

२. संसाराब्धे परस्य तरणे तीर्थमिष्यते। आदि० ४.८

३. तीर्यते संसारसागरो येन तत्तीर्थं द्वादशाङ्गशास्त्रं तत्करोति।

जिनसहस्रनाम, स्वोपज्ञवृत्ति, ४.३७

४. तीर्थं द्वादशाङ्गशास्त्रम्।

धनञ्जय नाममाला, श्लोक ११६ भाष्य

ही 'तीर्थ' है जिसमें स्नान किए बिना कोई भी जीव संसार के दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता ।^१

सीधे अर्थों में यों कहा जा सकता है कि तीर्थ का अर्थ पुल या सेतु है ।^२ कितनी ही बड़ी नदी क्यों न हो, सेतु द्वारा निर्बल से निर्बल व्यक्ति भी उसे सुगमता से पार कर सकता है । इस प्रकार के 'तीर्थ' के करने वाले को ही 'तीर्थकर' कहते हैं ।^३

तीर्थ शब्द से अभिप्राय साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका रूप चतुर्विध संघ से भी लिया जाता है ।^४ उक्त चतुर्विध संघ के व्यवस्थापक तीर्थकर ही होते हैं ।^५ इन चारों के सामूहिक प्रयास से ही संसार महासागर पार किया जा सकता है ।

२. तीर्थकर परम्परा :

जैन परम्परानुसार कालचक्र दो भागों—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी में विभक्त है । प्रत्येक में छह आरे होते हैं ।^६ अभी अवसर्पिणी काल चल रहा है । इसके पूर्व उत्सर्पिणी काल था । अवसर्पिणी के समाप्त होने पर पुनः उत्सर्पिणी कालचक्र शुरू होगा । इस तरह से कालचक्र चलता रहता है ।^७

अवसर्पिणी काल में मनुष्य एवं तिर्यञ्चों की आयु, शरीर की ऊँचाई और विभूति इत्यादि सभी भाव घटते हैं तथा उत्सर्पिणी काल में बढ़ते रहते हैं—किन्तु दोनों ही कालों में तीर्थकरों का जन्म होता है । प्रत्येक काल में इनकी संख्या २४ ही मानी गई है । प्रस्तुत अवसर्पिणी काल में जो २४ तीर्थकर हो चुके हैं वे इस प्रकार हैं ।^८

१. अण्णु जि तित्थु म जाहि जिय अण्णु जि गुरुउम सेवि ।

अण्णु जि देउ म चिंति तुहुं अप्पा विमलु मुएवि ।। परमात्म० १.६५

२. तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खण्ड—१, पृ० ४

३. तीर्थकर: तीर्थकर । जिनसहस्रनाम स्वोपज्ञवृत्ति ४.४७

४. तिथ्यं पुण चाउवण्णे समणसंघे, तं जहा—समणा, समणीओ, सावया सावियाओ ।। भग० २०.७४

५. धम्मतिथ्यरे जिणे । उ० २३.१.५

६. छह आरे—सुषमसुषमा, सुषमा, सुषमदुषमा, दुषमसुषमा, दुषमा और अतिदुषमा । ये अवसर्पिणी काल के छह आरे हैं । उत्सर्पिणी काल में इनका क्रम विपरीत होता है । दे०—तिलोय० ४.३१६-१६

७. दे०—(बलभद्र) जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, भाग—१, पृ० २७

८. णरतिरियाणं आऊ उच्छेहविभूदिह्हुदियं सब्बं ।

अवसर्पिणिण्ण हायदि उस्सवर्पिणिण्णियासु वड्ढेदि ।। तिलोय० ४.३१४

६. भग० २०.६७

१. ऋषभनाथ	२. अजितनाथ
३. संभवनाथ	४. अभिनन्दन नाथ
५. सुमतिनाथ	६. पद्मप्रभ
७. सुपाश्वर्षनाथ	८. चन्द्रप्रभ
९. सुविधिनाथ	१०. शीतलनाथ
११. श्रेयांसनाथ	१२. वासुपूज्य
१३. दिमलनाथ	१४. अनन्तनाथ
१५. धर्मनाथ	१६. शान्तिनाथ
१७. कुन्धुनाथ	१८. अरनाथ
१९. मल्लिनाथ	२०. मुनिसुव्रतनाथ
२१. नमिनाथ	२२. अरिष्टनेमि
२३. पार्श्वनाथ और	२४. वर्द्धमान (महावीर)*

३ तीर्थंकर पद और उसकी प्राप्ति की कारण भावनाएं तथा बीस स्थानक :

यह बात पहले ही स्पष्ट हो चुकी है कि जो अरहन्त तीर्थ की स्थापना करके धर्मोपदेश भी देते हैं—वे तीर्थंकर कहलाते हैं। यहां पर यह शंका हो सकती है कि 'जब वे कृतकृत्य एवं वीतराग हैं और उन्हें अब कुछ भी करने की इच्छा नहीं रही, तब वे उपदेश भी किस कारण से देते हैं? इस शंका का परिहार करते हुए आचार्य उमास्वाति कहते हैं कि 'ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों में एक नामकर्म भी है। उसी का एक भेद तीर्थंकरनामकर्म है। उसका यही फल है कि उसके उदय होने पर भव्य आत्मा (तीर्थंकर) कृतकृत्य होकर भी मोक्षमार्ग का प्रवर्तन करता है।'

जिस प्रकार सूर्य अपने स्वभाव से ही लोक को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार तीर्थंकर नामकर्म का भी यह स्वभाव है कि उसके उदय से तीर्थ का प्रवर्तन होता है। अतएव उसके उदय के अधीन हुए अरहन्त सूर्य के समान तीर्थ

१. तीर्थंकरों की विस्तृत जानकारी के लिए देखिए—(तेजा सिंह गौड़), जैन धर्म का संक्षिप्त इतिहास, पृ० १८-२५२, तथा तीर्थंकर बुद्ध और अर्जुन, पृ० ६०-६५

२. तीर्थप्रवर्तनफलं यत्प्रोक्तं कर्म तीर्थंकरनाम।

तस्योदयात्कृतार्थाऽप्यहंस्तीथं प्रवर्तयति ।।

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, सम्बन्ध का० ६

प्रवर्तन में प्रवृत्त हुआ करते हैं ।^१

तीर्थकर पद की प्राप्ति के लिए पूर्व जन्मों में विशिष्ट साधना करनी होती है । उस साधना से तीर्थकर नामकर्म का आस्रव होता है । तीर्थकर नामकर्म के आस्रव के सोलह कारण बतलाए गए हैं जो सोलहकारण भावनाओं के नाम से प्रसिद्ध हैं । वे कारण भावनाएं इस प्रकार हैं^२

१. दर्शनविशुद्धि :

वीतरागकथित तत्त्वों में निर्मल और दृढ़ रुचि दर्शनविशुद्धि है ।

२. विनयसम्पन्नता :

ज्ञानादि मोक्षमार्ग और उसके साधनों के प्रति समुचित आदरभाव विनयसम्पन्नता कहलाती है ।

३. शीलव्रतानतिचार :

अहिंसा, सत्य आदि मूलव्रत तथा उनके पालन में उपयोगी अभिग्रह आदि दूसरे नियम या शील के पालन में प्रमाद न करना शीलव्रतानतिचार कहलाता है ।

४. अभीक्षणज्ञानोपयोग :

तत्त्वविषयक ज्ञान में सदा जागृत रहना अभीक्षणज्ञानोपयोग है ।

५. अभीक्षण-संवेग :

सांसारिक भोगों से जो वास्तव में सुख के स्थान पर दुःख के ही साधन बनते हैं, डरते रहना अर्थात् कभी भी लालच में न पड़ना अभीक्षण-संवेग है ।

६. यथाशक्ति त्याग :

अपनी अल्पतम शक्ति को भी छिपाए बिना विवेकपूर्वक आहारदान, अभयदान और ज्ञानदान आदि करते रहना यथाशक्ति त्याग कहा जाता है ।

७. यथाशक्ति तप :

ऐसे ही शक्ति को छिपाए बिना विवेकपूर्वक हर तरह की सहनशीलता का अभ्यास यथाशक्ति तप कहलाता है ।

१. तत्त्वभाष्यादेव प्रकाशयति भास्करो यथालोकम् ।

तीर्थप्रवर्तनाय प्रवर्तते तीर्थकर एवम् ।। तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, सम्बन्ध का० १०

२. दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचाराऽभीक्षणज्ञानोपयोगसंवेगो शक्तिस्त्यागतपसी सङ्घसाधुसमाधिवैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्ति रावश्यकपरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ।

त०सू० ६.२३

८. संघसाधुसमाधिकरण :

चतुर्विध संघ और विशेषकर साधुओं को समाधि पहुंचाना अर्थात् ऐसा करना जिससे वे तन, मन से स्वस्थ रहें वही संघसाधु समाधिकरण है।

६. वैयावृत्यकरण :

कोई भी गुणी यदि कठिनाई में पड़ जाए तो उस समय योग्य ढंग से उसकी कठिनाई दूर करने का प्रयत्न करना वैयावृत्यकरण है।

१०-१३. चतुः भक्ति :

अरिहन्त, आचार्य, बहुश्रुत और शास्त्र—इन चारों में शुद्ध निष्ठापूर्वक अनुराग रखना चतुःभक्ति कहलाती है।

१४. आवश्यकापरिहाणि :

सामयिक आदि षडावश्यकों के अनुष्ठान को भाव से न छोड़ना आवश्यकापरिहाणि है।

१५. मोक्षमार्ग प्रभावना :

अभिमान को त्याग कर ज्ञान आदि मोक्षमार्ग को जीवन में उतारना तथा दूसरों को उसका उपदेश देकर प्रभाव बढ़ाना मोक्षमार्ग प्रभावना बतलायी गयी है

१६. प्रवचनवत्सल्य :

जैसे गाय बछड़े पर स्नेह रखती है वैसे ही सहधर्मियों पर निष्काम स्नेह रखना प्रवचनवत्सल्य है।^१

कुछ शास्त्रों में तीर्थंकर नामकर्म के उपार्जन हेतु निम्न बीस साधनाओं (स्थानकों) को आवश्यक माना गया है^२—

१-७. अरिहन्त, सिद्ध, प्रवचन, गुरु, स्थविर, बहुश्रुत एवं तपस्वी—भक्ति

१. विस्तार के लिए दें—त०वृ० ६.२४ तथा (संघवी) त०सू० पृ० १६२-६३
२. इमेहि य णं बीसाएहि य कारणेहिं आसेविय बहुलीकएहिं तित्थरनामगोयं कम्म निव्वत्तिसुं, तं जहा अरहंत, सिद्ध, पवयण, गुरु, थेर, बहुस्सुए, तवस्सीसुं । वच्छत्तयाइ तेसिं अभिक्खणणाणोवओगे य ॥
दसंण, विणए, आवस्सए य, सीलव्वए निरइयारं ।
खणलव, तवच्चियाए, वेयावच्चे, समाही य ॥
अपुव्वणाणगहणे, सुयभत्ती, पययणे पभावणया ।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥ ज्ञाता० ८.५

८. अभीक्षणज्ञानोपयोग

९. दर्शनविशुद्धि

१०. दिनयसम्पन्नता

११. आवश्यकपरिहाणि

१२. शीलव्रतानतिचार

१३. क्षण--लव (अभीक्षण--संवेग)

१४. यथाशक्ति तप

१५. यथाशक्ति त्याग

१६. वैयावृत्यकरण

१७. संपन्न--साधु--समाधिकरण

१८. अपूर्व ज्ञान--नवीन ज्ञान अर्थात् ज्ञान से हेय, ज्ञेय और उपादेय के स्वरूप को यथार्थ के रूप से जानना ।

१९. श्रुतभक्ति

२०. प्रवचन प्रभावना अर्थात् अरहन्त भगवान् द्वारा उपदिष्ट प्रवचनों का बार-बार स्वयं स्वाध्याय करके अपने हृदय में अनुप्रेक्षापूर्वक उसे स्थापित करना और साथ-साथ अन्य भव्य आत्माओं को भी प्रमादरहित होकर शास्त्रविहित उपदेश सुनाकर उनके हृदय में उसका प्रभाव स्थापित करना ।

सोलह कारण भावनाओं तथा बीस स्थानकों में कोई विशेष अन्तर नहीं है । सिद्धभक्ति का अरहन्त भक्ति में, स्थविर तथा तपस्वी भक्ति का बहुश्रुतभक्ति में एवं अपूर्वज्ञान का अभीक्षण ज्ञानोपयोग में अन्तर्भाव हो जाता है ।

तीर्थकर नामकर्म का बन्ध मनुष्यगति में ही होता है, चाहे वह स्त्री हो, पुरुष हो या नपुंसक हो--इनमें से कोई भी हो, यदि वह शुभ लेश्या^१ वाला है, और विंशति स्थान को उसने अच्छी प्रकार पुनः पुनः आसेवन किया है अथवा इन बीस स्थानों में से एक, दो, तीन आदि स्थानों का सेवन कर उन्हें उसने अत्यन्त पुष्ट कर लिया है, तो वह तीर्थकर नामकर्म का बन्ध करता है । जिस भव में वह तीर्थकर नामकर्म का बन्ध करता है, उसका वह प्रथम भाव होता है,

१. जिसके द्वारा जीव अपने को पुण्य और पाप से लिप्त करे, उसे लेश्या कहते हैं । कृष्ण, नील, कापोत ये तीन अशुभ तथा पीत, पद्म एवं शुक्ल ये तीन शुभ लेश्याएं होती हैं । विस्तृत जानकारी के लिए दे०-गो०जी०, गा० ४८६-५५२

उसके बाद वह मरकर दूसरे भव में या तो देवपर्याय में जाता है या नरकपर्याय में—वह उसका दूसरा भव होता है, वहां से निकल कर फिर वह मनुष्य भव में आता है—वह उसका तीसरा भव होता है। इस भव में वह तीर्थकर होकर सामयिक प्ररूपणा आदि द्वारा तीर्थकर नामकर्म का क्षय करके सिद्ध हो जाता है।^१

४. तीर्थकर की माता के स्वप्न :

देव हो या नारकी अथवा मनुष्य ही क्यों न हो, वह जब अपनी आयु पूर्ण कर तीर्थकरत्व की प्राप्ति हेतु माता के गर्भ में प्रवेश करता है तो उससे पूर्व रात्रि में माता को १४ अथवा १६ स्वप्न दिखाई पड़ते हैं और वे स्वप्न हैं—(१) सफेद हाथी, (२) सुलक्षण उजला बैल (वृषभ), (३) सौम्य सिंह, (४) शुभ अभिषेक, (५) मनमोहिनी माला, (६) चन्द्र, (७) सूर्य, (८) सुन्दर पताका, (९) शुद्ध जल से पूर्ण तथा कमल के गुच्छों से शोभायमान कलश (१०) कमल से सुशोभित सरोवर, (११) क्षीर सागर, (१२) देवविमान, (१३) रत्नराशि, और (१४) निर्धूम अग्निशिखा।^२ इन १४ स्वप्नों की मान्यता श्वेताम्बर आम्नाय में मिलती है तथा दिगम्बरों की मान्यता कुछ और इनसे भिन्नता रखती है। वे गर्भ में आने वाले तीर्थकर की माता को १६ स्वप्न बतलाते हैं। इनके अनुसार वे स्वप्न हैं—(१) सफेद हाथी, (२) वृषभराज, (३) मृगराज, (४) कमलासन पर सुशोभित लक्ष्मी, (५) दो पुष्पमालाएं, (६) कलायुक्त चन्द्रमा, (७) उदित होता हुआ सूर्य, (८) जल से भरे हुए दो स्वर्ण कलश, (९) जलक्रीड़ा करती हुई दो मछलियां, (१०) दिव्य सरोवर, (११) क्षीर सागर, (१२) दिव्य सिंहासन, (१३) देवविमान (१४) धरणेन्द्र का विमान, (१५) रत्नराशि और (१६) निर्धूम अग्निशिखा।^३

उपर्युक्त स्वप्न तीर्थकर की माता ही देखती है। सामान्य अरहन्त (केवली) की माता को ये विलक्षण स्वप्न नहीं दिखाई देते हैं। यही तीर्थकर अरहन्त तथा केवली अरहन्त के स्वरूप में एक विशेष भिन्नता है।

५-तीर्थकरों के पंच कल्याणक :

तीर्थकरों के जीवन में पांच प्रसंग अत्यन्त महत्वपूर्ण अर्थात् परमकल्याणकारी माने जाते हैं। ये प्रसंग जैन जगत् में पंचकल्याणक के नाम से जाने जाते हैं।^४ वे पंचकल्याणक निम्न हैं —

१. दे०-अनुयोगद्वारसूत्र, सू० २४८ टीका, पृ० ७८३-८५

२. कल्पसूत्र ५

३. दे०-वीरवर्धमानचरित, श्लो० ७.६१-६८
तथा आदि० १२.१० ५-११६

४. (क) पंच महाकल्लाणा सव्वेसिं जिणाणं हवन्ति नियमेण।

(हरिभद्र) पंचासक, ४२४

(ख) जस्स कम्मसुदण्ण जीवो पंचमहाकल्लाणाणि पाविदूण तित्थं दुवालसंगं कुणदि तं तित्थयरणामं। धवला टीका, पुस्तक १३, पृ० ३६६

१-गर्भकल्याणकः

तीर्थकर जब भी माता के गर्भ में अवतरित होते हैं। तब देवता और मुनय मिलकर उनके गर्भावतरण का महोत्सव मनाते हैं ।^१

२-जन्मकल्याणक :

जब तीर्थकर का जन्म होता है, तब स्वर्ग के देव और सौधर्म इन्द्र पृथ्वी पर आकर तीर्थकर का जन्म कल्याणक महोत्सव मनाते हैं और मेरु पर्वत पर ले जाकर वहां वे उनका जन्माभिषेक करते हैं ।^२

३- दीक्षा कल्याणक :

तीर्थकर के दीक्षाकाल के समीप होने पर देव उनसे प्रब्रज्या लेने की प्रार्थना करते हैं । उनके दीक्षा लेने के पूर्व देव अपार धनराशि उनके कोषागार में लाकर डाल देते हैं जिससे वे दीक्षित भव्य सत्त्व प्रतिदिन एक करोड़ बावन लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान करते हैं । दीक्षा के दिन देवराज इन्द्र अपने देवमंडल के साथ आकर उनका अभिनिष्क्रमण महोत्सव मनाते हैं । उन्हें एक विशेष पालकी में आरुढ़ कराकर वनस्थल की ओर ले जाया जाता है, जहां वे अपने वस्त्र और आभूषणों का त्याग कर देते हैं तथा पंचमुष्टि लोंच करके दीक्षित हो जाते हैं । तीर्थकर होने वाले भव्यसत्त्व स्वयं ही दीक्षित होते हैं, किसी गुरु के समीप वे नहीं जाते ।^३

४- कैवल्यकल्याणक :

जब वे अपनी कठोर साधना के द्वारा कैवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं उस समय भी देवगण आकर उनका कैवल्य महोत्सव मनाते हैं । वे उस समय केवली तीर्थकर के लिए एक विशिष्ट समवसरण (धर्मसभा—स्थल) की रचना करते हैं, जिसमें उपस्थित होकर अरहन्त तीर्थङ्कर लोक—कल्याण के लिए धर्ममार्ग का प्रवर्तन करते हैं ।^४

५-निर्वाणकल्याणक :

जब वे तीर्थकर समस्त कर्मों का क्षय करके परिनिर्वाण को प्राप्त करते हैं तब भी इन्द्र देवों सहित उनका दाह संस्कार कर परिनिर्वाण महोत्सव मनाते हैं ।^५

इन उपर्युक्त पांचों कल्याणकों को विशेष पर्व मानकर जैन लोग उस तिथि को विशिष्ट भक्ति—भावपूर्वक तीर्थकर की उपासना करते हैं तथा तप,

१. कल्पसूत्र, १५-७१

२. वही, ६६

३. वही, ११०-११४

४. वही, १११

५. वही, १२४

संयम आदि गुणों का वर्धन करते हुए अपने आत्मकल्याण में वृद्धि करते हैं ।

६-अष्टादशदोषरहित तीर्थकर :

मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय—इन चार घातिया कर्मों के क्षय करने के कारण तीर्थकर अठारह दोषों से भी रहित होते हैं । मोहनीयकर्म के क्षय से मिथ्यात्व, राग, द्वेष, अविरति, कामवासना, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा ये ग्यारह दोष दूर हो जाते हैं ।

निद्रा दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से तथा अज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से विनष्ट हो जाता है । दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय एवं वीर्यान्तराय ये पांच अन्तराय कर्म के क्षय से नष्ट हो जाते हैं । इस प्रकार अरहन्त भगवान् अठारह दोषों से रहित होते हैं ।^१

श्वेताम्बर जैन तीर्थकर को कुछ भिन्न अठारह दोषों से रहित मानते हैं, वे दोष हैं—१. हिंसा, २—मृषावाद, ३—चोरी, ४—कामक्रीड़ा, ५—हास्य, ६—रति, ७—अरति, ८—शोक, ९—भय, १०—क्रोध, ११—मान, १२—माया, १३—लोभ, १४—मद, १५—मत्सर, १६—अज्ञान, १७—निद्रा और १८—प्रेम ।^२

एक दूसरे स्थान पर दिगम्बर परम्परा में उन्हें निम्न अठारह दोषों से रहित माना गया है वे हैं — (१) क्षुधा, (२) तृषा, (३) भय, (४) क्रोध, (५) राग, (६) मोह, (७) चिन्ता, (८) जरा, (९) रोग, (१०) मृत्यु, (११) स्वेद, (१२) खेद, (१३) मद, (१४) रति, (१५) विस्मय, (१६) निद्रा, (१७) जन्म और (१८) उद्वेग (अरति) ।^३

इन दोनों परम्पराओं में तीर्थकर को जिन दोषों से रहित माना गया है उनमें मूलभूत अन्तर यही है कि जहां दिगम्बर परम्परा तीर्थकर में क्षुधा और तृषा का अभाव मानती है वहां श्वेताम्बर परम्परा ऐसा नहीं मानती है कारण कि श्वेताम्बर परम्परा में केवली का कवलाहार (भोजन—ग्रहण) स्वीकार किया गया है, दिगम्बर परम्परा जिसे स्वीकार नहीं करती ।^४ अन्य बातों की दृष्टि से दोनों ही परम्पराओं में लगभग समानता है । जैसे

१. अन्तराया दान—लाभ, वीर्य—भोगोपभोगाः ।
हासो रत्यरती भीतिर्जुगुप्साशोक एव च । ।
कामो मिथ्यात्वमज्ञानं निद्रा चाविरतिस्तथा ।
रागो द्वेषश्च नो दोषस्तेषामष्टादशाऽप्यमी । । अभिधान चिन्तामणि, १.७२—७३
२. हिंसाऽऽइतिगं कीला, हासाऽऽइपंचगं च चउक्साया ।
मयमच्छर अन्नाणा, निद्या पिम्मं इअ व दोसा । । अभिधानराजेन्द्रकोष, भाग—४, पृ० २२४८
३. छुहत्तण्हमीरुसो रागो मोहोचिंता जरा रुजामिच्चू ।
सेदं खेद मदो रइ विम्हियणिददा जणुब्बेगो । । नियम०, गा० ६
४. भुङ्क्ते न केवली न स्त्री मोक्षमेति दिगम्बरः ।
प्राहुरेषामयं भेदो महान् श्वेताम्बरैः सह । ।
जिनदत्तसूरि, उद्धृत, भारतीय दर्शन, (बलदेव), पृ० ६३

(अ) छयालीस गुणसम्पन्न तीर्थकर :

प्रत्येक तीर्थकर केवली एवं सर्वज्ञ तो होता ही है । इसके अतिरिक्त उसमें और भी गुण होते हैं वे हैं — अनन्त चतुष्टय और अष्टमहाप्रातिहार्य ये बारह मूलगुण तथा चौत्तीस अतिशय । इस प्रकार तीर्थकर भगवान् ४६ गुणों से सम्पन्न होते हैं ।

(आ) अनन्त चतुष्टय :

तीर्थकर देव अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख से समृद्ध होते हैं ।^१ अरहन्त भगवान् इन गुणों में ही रमण करते हैं किन्तु घातिया कर्म इन गुणों के बाधक हैं । अत एव घातिया कर्मों का विनाश होना अत्यन्त आवश्यक है कारण कि इनके नष्ट होते ही जीव में इन गुणों का सद्भाव हो जाता है ।

(इ) अष्टमहाप्रातिहार्य :

तीर्थकर भगवान् देवप्रदत्त अष्टमहाप्रातिहार्यों से भी सम्पन्न होते हैं । पूज्यत्व प्रकट करने वाली जो सामग्री प्रतिहारी की भांति सदैव भगवान् के साथ रहे, वह ही प्रातिहार्य है । अद्भुतता अथवा दिव्यता से युक्त होने के कारण इन्हें महाप्रातिहार्य कहते हैं । वह सामग्री आठ प्रकार की होती है, इसी से इसे अष्टमहाप्रातिहार्य कहा जाता है । ये इस प्रकार हैं^२

१- अशोक वृक्ष :

तीर्थकर भगवान् भूमण्डल को पावन करते हुए जहां धर्मोपदेश देने के लिए बैठते या खड़े होते हैं, वहां उनके शरीर से द्वादश गुणे ऊंचे अति सुन्दर अशोक वृक्ष की रचना हो जाती है जिसे देखते ही भव्य प्राणियों का शोक दूर हो जाता है ।

२. सुरपुष्पवृष्टि :

जिस स्थान पर तीर्थकर का समवसरण होता है, वहां एक योजन तक देवगण विविध वर्णों वाले मनोहर सुगन्धित पुष्पों की वर्षा करते हैं ।

३. दिव्यध्वनि :

तीर्थकर के श्रीमुख से सर्वभाषा में परिणत होने वाली अर्धमागधी भाषा में सर्वगुणसम्पन्न एवं योजनगामिनी दिव्यध्वनि निकलती है, जिसे सुनकर सभी प्राणी अपनी-अपनीभाषा में उसके भाव को स्पष्ट रूप से समझ लेते हैं ।

१. ज्ञानदृवीर्यसौख्यादयः सोऽर्हन् धर्मोपदेशकः ।

पंचाध्यायी, २.६०७

२. दे०—तिलोय० ४.६ १५—६२७

४. चंवर :

तीर्थकर भगवान् के दोनों ओर श्वेत चंवर डुलाए जाते हैं ।

५. सिंहासन :

जहां—जहां भगवान् पधारते हैं वहां—वहां पहले से ही अशोक वृक्ष के नीचे स्फटिक मणि के बने हुए एक पादपीठ वाले सिंहासन की रचना की जाती है जिस पर भगवान् पभासन में बैठकर सद्धर्मोपदेश देते हैं ।

६. भामण्डल :

तीर्थकर के मस्तक के कुछ पीछे एक भामण्डल होता है जो सूर्यमण्डल के समान प्रकाशमान होता है तथा जिससे दशों दिशाओं का अन्धकार विनष्ट हो जाता है ।

७. देवदुन्दुभि :

जिस स्थान पर तीर्थकर भगवान् विराजमान होते हैं, वहां देवगण दुन्दुभि बजा—बजा कर उद्घोषणा करते हैं जिसे सुन कर भव्य प्राणी वहां आकर भगवान् के उपदेश को सुनकर अपना कल्याण करते हैं ।

८. श्वेत आतपत्र, छत्र एवं चंवर :

देवगण सदैव तीर्थकर भगवान् के सिर पर तीन छत्र धारण कर रखते हैं । वे ही देव भगवान् को दोनों ओर से चंवर डुलाए रखते हैं । इन सबसे यह सूचित होता है कि वे भगवान् श्री ही त्रैलोक्य के स्वामी हैं ।

(ग) चौंतीस अतिशय :

समवायांग सूत्र में तीर्थकर के निम्न ३४ अतिशय बतलाए गए हैं^१—

१. तीर्थकरों के सिर के बाल, दाढ़ी मूछ एवं रोम और नख नहीं बढ़ते, वे सदैव एक ही स्थिति में रहते हैं ।

२. उनका शरीर सदैव रोग तथा मल से रहित होता है ।

३. उनका मांस तथा खून गाय के दूध के समान श्वेत वर्ण का होता है ।

४. उनका श्वासोच्छ्वास नील कमल के समान सुगन्धित होता है ।

५. उनका आहार और नीहार दृष्टिगोचर नहीं होता ।

६. उनके आगे—आगे आकाश में धर्मचक्र चलता है ।

७. उनके ऊपर आकशगत छत्र होता है ।
८. उनके दोनों ओर श्वेत चंवर डुलते हैं ।
९. उनके आकाश जैसा स्वच्छ, स्फटिक मणि से बना हुआ पादपीठ सहित सिंहासन होता है ।
१०. उनके आगे-आगे आकाश में हजारों लघु पताकाओं से सुशोभित इन्द्रध्वज चलता है ।
११. जहां-जहां भगवान् ठहरते हैं अथवा बैठते हैं, वहां-वहां उसी समय पत्र, पुष्प और पल्लव से सुगन्धित, छत्र, ध्वजा, घण्टा और पताका सहित अशोक वृक्ष उत्पन्न हो जाता है ।
१२. उनके मस्तक के कुछ पीछे दशों दिशाओं को प्रकाशित करने वाला भामण्डल होता है ।
१३. उनके पांवों के नीचे का भूभाग समतल और रमणीय होता है ।
१४. कण्टक अधोमुख हो जाते हैं ।
१५. ऋतुएं अनुकूल और सुखदायी हो जाती हैं ।
१६. शीतल, सुन्दर और सुगन्धित वायु योजन^१ प्रमाण भूमि का चारों ओर से प्रमार्जन करती है ।
१७. छोटी फुहार वाली वर्षा द्वारा रज और रेणु का शमन हो जाता है ।
१८. पंचवर्ण वाला सुन्दर पुष्प-समुदाय प्रकट हो जाता है ।
१९. अमनोज्ञ शब्द स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का अभाव हो जाता है ।
२०. मनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध का प्रदुर्भाव हो जाता है ।
२१. प्रवचनकाल में उनका स्वर हृदयंगम और योजनगामी होता है ।
२२. भगवान् अर्धभागधी भाषा में धर्म का व्याख्यान करते हैं ।
२३. वह भाष्यमाण अर्धभागधी भाषा सुनने वाले आर्य, अनार्य, द्विपद, चतुष्पद आदि समस्त प्राणियों की भाषा में परिवर्तित हो जाती है ।

१. एक योजन का प्रमाण चार कोस होता है ।

२४. पूर्वबद्ध वैर वाले देव, असुर, नाग, यक्ष, गन्धर्व आदि भगवान् के पादमूल में प्रशान्तचित्त होकर धर्मश्रवण करते हैं ।

२५. अन्य तीर्थ वाले प्रावचनिक विद्वान्, भी भगवान् को नमस्कार करते हैं ।

२६. अन्य तीर्थ वाले विद्वान् भगवान् के पादमूल में आकर निरुत्तर हो जाते हैं ।

२७. भगवान् जहां—जहां विहार करते हैं, वहां—वहां पच्चीस योजन तक ईति अर्थात् धान्य को नष्ट करने वाले चूहे आदि प्राणियों की उत्पत्ति नहीं होती और भीति अर्थात् भय भी नहीं होता ।

२८. महामारी (संक्रामक बीमारियां) नहीं होती ।

२९. अपनी सेना उपद्रव नहीं करती ।

३०. दूसरे राजा की सेना भी उपद्रव नहीं करती ।

३१. अतिवृष्टि नहीं होती ।

३२. अनावृष्टि नहीं होती ।

३३. अकाल नहीं पड़ता ।

३४. भगवान् के विहार से पूर्व उत्पन्न हुई औत्पातिक व्याधियां भी शीघ्र ही शांत हो जाती हैं ।

इन अतिशयों में से दूसरे से लेकर पांचवें तक ये चार अतिशय भगवान् के जन्म से ही होते हैं । बारहवां तथा इक्कीसवें से चौतीसवें तक—ये पन्द्रह अतिशय कर्मक्षय से उत्पन्न होते हैं, तथा शेष पन्द्रह अतिशय देवकृत होते हैं ।^१

(ज) तीर्थकर की दिव्यध्वनि :

तीर्थकर के मुख से निकलने वाली कल्याणकारी वाणी और धर्मोपदेश का नाम ही दिव्यध्वनि है । तीर्थकर की ध्वनि सामान्य ध्वनि नहीं होती, वह कुछ अधिक विशिष्ट होती है । इसीलिए उनकी ध्वनि को दिव्यध्वनि कहा जाता है ।

(अ) दिव्यध्वनि के पैंतीस अतिशय :

समवायांगसूत्र* में तीर्थंकर की दिव्यध्वनि के पैंतीस अतिशयों की चर्चा की गई है परन्तु वे अतिशय कौन-कौन से हैं इस विषय में नहीं बतलाया गया। वृत्तिकार ने इनका वर्णन अवश्य किया है जो निम्न प्रकार है^१

- (१) संस्कारत्व—वचनों का संस्कारयुक्त अर्थात् व्याकरण—सम्मत होना।
- (२) उदात्तत्व—ध्वनि का उच्च स्वर से परिपूर्ण होना।
- (३) उपचारोपेतत्व—ग्राम्यता से विरहित होना।
- (४) गम्भीरशब्दत्व—मेघ के समान गम्भीर शब्दों से युक्त होना।
- (५) अनुनादित्व—प्रत्येक शब्द का यथार्थ उच्चारण से युक्त होना।
- (६) दक्षिणत्व—वचनों का निश्छल और सरल होना।
- (७) उपनीतरागत्व—मालकोंश आदि रागों से युक्त होना।
- (८) महार्थत्व—वचनों का महान् अर्थ से गर्भित होना।
- (९) अव्याहतपौर्वापर्यत्व—पूर्वापर अविरोधी वाक्य वाला होना।
- (१०) शिष्टत्व—वचनों का शिष्टता से युक्त होना।
- (११) असन्दिग्धत्व—सन्देह रहित निश्चित अर्थ का प्रतिपादक होना।
- (१२) अणूत्तरत्व—अन्य पुरुषों के दोषों को प्रकाशित करने वाला होना।

१. पणीती। सच्चवयणाइसेसा पण्णता। समवाओ, ३५.१
२. सत्यंकरः अतिशया आगमे न दृष्टाः एते तु ग्रन्थान्तरदृष्टाः सम्भाविताः, वचनं हि गुणः। यथा—संस्कारवत् १, उदात्तं २, उपचारोपेतं ३, गम्भीरशब्द ४, अनुनादित्व ५, दक्षिणं ६, उपनीतरागं ७, महार्थं ८, अव्याहतपौर्वापर्यं ९, शिष्टं १०, अणूत्तरं ११, अपहृताभ्योत्तरं १२, हृदयग्राहि १३, देशकालाव्यतीतं १४, तत्त्वानुरूपं १५, अक्षणीयप्रसृतं १६, अन्योऽन्यप्रगृहीतं १७, अभिजातं १८, अतिस्निग्धमधुरं १९, अपरमर्मबिद्धं २०, अर्थधर्माभ्यासानुपेतं २१, उदारं २२, परनिन्दात्मोत्कर्षविप्रयुक्तं २३, उपगतश्लाघं २४, अनपनीतं २५, उगादिताच्छिन्नकौतूहलं २६, अदभुतं २७, अनतिविलम्बितं २८, विभ्रमविक्षेपकिलिकिञ्चितादिविमुक्तं २९, अनेकजातिसंश्रयाद्विचित्रं ३०, आहितविशेषं ३१, साकारं ३२, सत्त्वपरिग्रहं ३३, अपरिरवेदितं ३४, अव्युच्छेदं ३५, चेति वचनं महानुभावं वैरक्तव्यमिति। समवायांगवृत्ति, पत्र ५६-६०

- (१३) **हृदय ग्राहित्व**—वचनों का श्रोताओं के हृदयों को आकृष्ट करने वाला होना ।
- (१४) **देशकालाव्यतीतत्व**—देश—काल के अनुकूल एवं प्रस्तावोचित होना ।
- (१५) **तत्त्वानुरूपत्व**—वचनों का विवक्षित वस्तु के स्वरूप के अनुरूप होना ।
- (१६) **अप्रकीर्णप्रसृतत्व**—निरर्थक विस्तार से रहित सुसम्बद्ध वचन होना ।
- (१७) **अन्योऽन्यप्रगृहीतत्व**—पदों का परस्पर सापेक्षता से युक्त होना ।
- (१८) **अभिजातत्व**—वक्ता की कुलीनता और शालीनता का सूचक होना ।
- (१९) **अतिस्निग्धमधुरत्व**—अत्यन्त स्नेह एवं मधुरता से युक्त होना ।
- (२०) **अपरमर्मविद्धत्व**—किसी दूसरे के मर्म (हृदय) को चोट पहुंचाने वाला अथवा रहस्य को प्रकट करने वाला न होना ।
- (२१) **अर्थधर्माभ्यासानपेक्षत्व**—अर्थ और धर्म के अनुकूल होना ।
- (२२) **उदारत्व**—तुच्छतारहित और उदारता से युक्त होना ।
- (२३) **परनिन्दात्मोत्कर्षविप्रयुक्तत्व**—परनिन्दा और अपनी प्रशंसा से रहित होना अथवा वीतरागता से युक्त होना ।
- (२४) **उपगतश्लाघ्यत्व**—‘भगवान् धन्य हैं’ इस प्रकार जिन्हें सुनकर लोग प्रशंसा करें, ऐसे वचन होना ।
- (२५) **अनपनीतत्व**—काल, कारक, वचन एवं लिंग, आदि व्याकरण के दोषों से रहित होना ।
- (२६) **उत्पादिताच्छिन्नकौतूहलत्व**—वचनों का श्रोताजनों के हृदय में निरन्तर कौतूहल उत्पन्न करने वाला होना ।
- (२७) **अद्भुतत्व**—आश्चर्यजनक एवं अपूर्व भाव उत्पन्न करने वाला होना ।
- (२८) **अनतिविलम्बित्व**—अति विलम्ब से रहित धाराप्रवाह से बोलना ।
- (२९) **विभ्रम-विक्षेप-किलकिञ्चतादि-विमुक्तत्व**—मन की भ्रान्ति, विक्षेप, रोष और भय आदि से रहित होना ।
- (३०) **अनेकजातिसंश्रयाद्विचित्रत्व**—नय—प्रमाण आदि अनेक जाति के संश्रय के कारण विचित्रता से युक्त होना ।

(३१) **आहितविशेषत्व**—सामान्य वचनों से कुछ विशेषतायुक्त होना ।

(३२) **साकारत्व**—पृथक्-पृथक् वर्ण, पद, वाक्य के आकार से युक्त होना ।

(३३) **सत्त्वपरिगृहीतत्व**—साहस से परिपूर्ण वचन होना ।

(३४) **अपरिखेदित्व**—खिन्नता से रहित वचन होना ।

(३५) **अव्युच्छेदित्व**—विवक्षित अर्थ की सम्यक् सिद्धि वाले वचन होना ।

(आ) दिव्यध्वनि का समय :

दिव्यध्वनि के काल के विषय में बतलाते हुए आचार्य यतिवृषभ लिखते हैं कि यह दिव्यध्वनि प्रातः, मध्याह्न तथा सायंकाल—तीनों सन्ध्याओं में कुल मिलाकर नव मुहूर्त पर्यन्त खिरती है । गणधर, इन्द्र तथा चक्रवर्ती आदि के प्रश्नों के अनुरूप अर्थ के निरूपणार्थ यह दिव्यध्वनि शेष समयों में भी ध्वनित होती है ।^१

(झ) तीर्थंकर का समवसरण :

जैन शब्दावली में प्रयुक्त समवसरण शब्द से अभिप्राय उस पवित्र—स्थान से है जहां पर तीर्थंकर भगवान् विराजमान होते हैं और जहां बैठकर वे धर्म की देशना करते हैं । **आदिपुराण**^२ में भगवान् ऋषभनाथ एवं **पद्मचरित**^३ में भगवान् महावीर के समवसरण का सुन्दर चित्रण उपलब्ध होता है ।

(अ) समवसरण की संरचना :

समवसरण की रचना कुबेर करता है किन्तु सूत्रधार तो इन्द्र ही होता है ।^४ यह बारह योजन तक फैला हुआ, देदीप्यमान एवं इन्द्रनील मणियों से बना हुआ होता है ।^५ इन्द्रनीलमणियों से निर्मित तथा चारों ओर से गोलाकार यह समवसरण ऐसा लगता था मानों त्रिलोक की लक्ष्मी के मुखदर्शन का मंगलमय दर्पण ही हो—

सुरेन्द्रनील निर्माणं समवृत्तं तदा बभौ ।

त्रिजगच्छ्रीमुखालोकमंगलादर्शविभ्रमम् ॥^६

समवसरण की भूमि पृथ्वी तल से एक हाथ ऊंची **कल्पभूमि** होती है । यह भूमि कमल के आकार वाली और इसमें गंधकुटी कर्णिका के समान होती है । शेष रचना कमल—दल के समान होती है । गंधकुटी के चारों ओर मानांगण नाम की भूमि होती

१. तिलोय० ४.६०३-६०४

२. आदिपुराण, २२.७६-३१२

३. पउम० २.५०-६१

४. सूत्रामा सूत्रधारो भूनिर्माणे यस्य कर्मठः । आदि० २२.७६

५. द्विषड्योजनविस्तारम भूदास्थानमीशितुः ।

हरिनीलमहारत्नघटितं विलसत्तलम् ॥ वही, २२.७७

६. वही २२.७८

है। जहां खड़े होकर इन्द्र आदि देवगण भगवान् का पूजन करते हैं।^१

समवसरण के बाहरी भाग में रत्नों की धूली से बना हुआ एक धूलीसाल नाम का घेरा होता है।^२ इस धूलीसाल के बाहर चारों ओर सुवर्णमय खम्भों के अग्रभाग पर अवलम्बित चार तोरण द्वार सुशोभित होते हैं।^३ धूलीसाल के भीतर ही कुछ दूरी पर निर्मित चार मानस्तम्भ चारों दिशाओं में ऐसे सुशोभित होते हैं मानों भगवान् के अनन्त चतुष्टय ही मूर्तिमान हो रहे हों।^४ मुनिसुव्रतकाव्यकार की दृष्टि में घातिया कर्मों का क्षय करके जिनेन्द्र ने मानस्तम्भ के रूप में प्रत्येक दिशा में विजयस्तम्भ स्थापित किए थे।^५

इन स्वर्णमय मानस्तम्भों के मूलभाग में जिनेन्द्र भगवान् की सुवर्णमय प्रतिमाएं विराजमान थीं, जिनकी इन्द्र आदि क्षीर सागर के जल से अभिषेक करते हुए पूजा करते थे—

हिरण्यमयी जिनेन्द्रार्घ्याः तेषां बुध्नप्रतिष्ठिताः।^६

देवेन्द्राः पूज्यन्तिस्म क्षीरोदाम्भोभिषेचनैः।।

इन्हीं मानस्तम्भों के मस्तक पर तीन छत्र ढल रहे थे। इन्द्र के अरा बनाए जाने के कारण उनका अपर नाम इन्द्रध्वज भी रूढ़ हो गया था—

मानस्तम्भान महामानयोगात् त्रैलोक्यमाननात्।

अन्वर्थसंज्ञयो तज्ज्ञैर्मनस्तम्भाः प्रकीर्तिताः।।^७

मानस्तम्भ के आस-पास में बावड़ियां होती हैं।^८ इसके भीतरी भूभाग को घेरे हुए लतावनों में सभी ऋतुओं के फूल सुशोभित होते हैं।^९ लतावनों के भीतर की ओर एक सुवर्णमय पहला कोट होता है जो इस समवसरण भूमि को चारों तरफ से घेरे रहता है।^{१०}

उस सुवर्णमय कोट के चारों ओर चांदी के बने हुए गोपुरद्वार होते हैं।^{११}

१. दे०—(बलभद्र जैन), जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, भाग-१, पृ० ५६

२. तत्पर्यन्तभूभागं अलञ्चक्रे, धूलीसालपरिक्षेपो रत्नपांसुभिराचितः। आदि०, २२.८१

३. चतसृष्वपि दिक्ष्वस्य हेमस्तम्भाग्रावलम्बिता तोरणा। वही, २२.६१

४. आदि०, २२.६७

५. स्तम्भाः जयादय इव प्रभुणा निखाताः।

स्तम्भाः बभूवुः प्रगिदिशं किल मानपूर्वाः।। मुनिसुव्रतकाव्य १०.३१

६. वही, २२.६८

७. वही, २२.१०२

८. वही, २२.१०३

९. वही, २२.११८

१०. वही, २२.१२८

११. महान्ति गोपुराण्यस्य विबभुर्दिक्चतुष्टये।। वही, २२.१३६

इन गोपुरद्वारों के मार्ग के दोनों ओर नाट्यशालाएं^१, इनके आगे गलियों के दोनों ओर दो-दो धूपघट^२ और इनके भी आगे वन-वीथियां होती हैं^३ जिनमें एक चैत्यवृक्ष होता है। इस वृक्ष के चारों तरफ जिनेन्द्रदेव की चार प्रतिमाएं विद्यमान होती हैं जिनका अभिषेक स्वयं इन्द्र करते हैं।^४

समवसरण में नंदा, भद्रा, जया और पूर्णा—ये चार वापिकाएं होती हैं। जिनेन्द्र भगवान् का अद्भुत प्रभाव उन वापिकाओं में प्रतिबिम्बित होता है। हरिवंश पुराण में कहा गया है कि पवित्र जल से परिपूर्ण ये वापिकाएं समस्त पाप और रोग का हरण करने वाली हैं। जो इनमें अपने को निहारते हैं वे अपने भूत तथा भावी सप्त भवों को देखे लेते हैं।^५

भगवान् के समवसरण में स्तूपों का सभुदाय बड़ा मनोरम होता है। भवन—भूमि के पार्श्वभागों में तथा प्रत्येक वीथी के मध्य में जिन एवं सिद्धों की प्रतिमाओं से व्याप्त नौ स्तूप होते हैं।^६

(आ) श्रीमण्डप :

भगवान् रत्नमय स्तम्भों पर अवस्थित श्रीमण्डप में विराजमान रहते हैं। यह उज्ज्वल रूपटिकमणि का बना हुआ श्रीमण्डप यथार्थ में श्री अर्थात् लक्ष्मी का मण्डप ही था क्योंकि जिनेन्द्र ने यहीं पर मनुष्य, देव तथा असुरों के समीप तीनों लोको की श्री को स्वीकार किया था—

सत्यं श्रीमण्डपः सोऽयं यत्राऽसौ परमेश्वरः ।

नृसुरासुरासानिध्ये स्वीचक्रे त्रिजगच्छ्रियम् ।^७

जैनेन्द्र भगवान् के माहात्म्य के कारण केवल एक योजन लम्बे चौड़े इस श्रीमण्डप में समस्त मनुष्य, सुर और असुर परस्पर बाधा न पहुंचाते हुए सुख से बैठ सकते हैं।^८ सुर, नर तथा तिर्यञ्चों के चढ़ने के लिए चारों दिशाओं में एक साथ उन्नत एवं विस्तृत सुवर्णमय बीस हजार सीढ़ियां होती हैं।^९

१. नाट्यशालाद्वयं दिक्षु प्रत्येकं चतसृष्वपि । वही, २२.१४८

२. ततो धूपघटौ द्वौ द्वौ वीथीनामुभयोर्दिशोः । वही, २२.१५६

३. तत्र विथयन्तरेष्वासंश्रतस्रो वनवीथयः । वही, २२.१६२

४. वही, २२.१६५

५. ताः पवित्रजलापूर्णाः सर्वपापरुजाहराः ।

परापरभवाः सप्त दृश्यन्ते यासु पश्यताम् ।। हरिवंशपुराण, ५७.७४

६. भवणरिवदिष्पणि धीसुं वीहि पडि हांति भवणवा वूहा ।

जिणसिद्धप्पडिमाहिं अप्पडिमाहिं समाइण्णा ।। तिलोय० ४.८४४

७. आदि० २२.२८६

८. योजनप्रमिते यस्मिन् सम्मुर्त्तुरासुराः ।

स्थिताः सुखमबाधमहो माहात्म्यमीशितुः ।। आदि २२.२८६

९. तिलोय० ४.७२०

श्रीमण्डप क प्रथम खण्ड में महर्षिगण, द्वितीय खण्ड में देवियां, तृतीय खण्ड में गुणवती साध्वियां, तथा उसके पश्चात् क्रमशः ज्योतिष्क देवों^१ की देवियां, व्यन्तरकन्याएं एवं वनवासी देवियां बैठती हैं। तत्पश्चात् ज्योतिष्क देव, व्यन्तर एवं भुवनेन्द्र देवों का स्थान आता है। इन्हीं की एक ओर राजाओं एवं अन्य मनुष्यों के बैठने का स्थान होता है। उसके बाद समवसरण के पूर्वोत्तर भाग में तिर्यञ्च बैठते हैं^२।

श्रीमण्डप के मध्य भाग में वैदूर्यमणि की बनी हुई एक प्रथम पीठिका, उसके ऊपर सुवर्ण की बनी हुई एक दूसरी पीठिका होती है जिसके ऊपर आठ दिशाओं में लोकपालों के समान आठ बड़ी-बड़ी पताकाएं लहराती हुई सुशोभित होती हैं^३। दूसरे पीठ पर रत्नों से बना हुआ एक तीसरा पीठ होता है।^४ इस प्रकार के तीन कटनीदार पीठ पर जिनेन्द्र भगवान् ऐसे शोभायमान होते हैं जैसे त्रिलोक के शिखर पर सिद्ध परमेष्ठी सुशोभित होते हैं।^५

तीसरे पीठ के अग्रभाग पर सुगन्धित एक गंधकुटी होती है^६ जिसके मध्य में एक रत्नजटित सिंहासन होता है। उस सिंहासन पर प्रभु सुशोभित होते हैं।^७ तीर्थकर देव स्वभाव से ही पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर मुख करके विराजमान होते हैं।^८

तीर्थकरों का यह समवसरण एक अलौकिक सभा विशेष है। यह अशोक वृक्ष आदि अष्ट महाप्रातिहायों से सम्पन्न होता है। इसमें सम्मिलित सभी प्राणी भगवान् की वाणी सुनकर मुग्ध हो जाते हैं एवं सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त हो जाते हैं।

(अ) तीर्थकर का उपदेश :

आगम बतलाता है कि अतीत काल में अनेक तीर्थकर हुए हैं।^९ वर्तमान

१. देवों के चार प्रकार हैं—१. भवनपति, २. व्यन्तर, ३. ज्योतिष्क और ४. वैमानिक। त०सू० ४.१

२. पउम० २.५५-६१

३. आदि० २२.६५

४. तृतीयमभवत् पीठं सर्वरत्नमयं पृथु। वही, २२.२६८

५. ईदृक् त्रिमेखलं पीठमस्योपरि जिनाधिपः। त्रिलोकशिखरे सिद्धपरमेष्ठीव निर्बभौ।। आदि० २२.३०४

६. वही, २३.२०

७. वही, २३.२६

८. देवोर्द्ध्वं प्राङ्मुखो वा नियतिमनुसरन्नुत्तराशामुखो वा।। वही, २३.१६३

९. अतीतकाल के चौबीस तीर्थंकर- निर्वाणसागरमहासाधुविमलप्रभ सुदतअमलप्रभ, उद्धरअगिङ्गरसन्मति सिन्धु कुसुमाञ्जलि शिवगण उत्साह ज्ञानेश्वर परमेश्वर विमलेश्वर यशोदरकृष्णमतिज्ञानमतिशुद्धमतिश्रीभद्रअतिक्रान्तशान्ताश्वेति भूतकालसम्बन्धिततुर्विंशति तीर्थंकरेभ्यो नमो नमः। तीर्थंकर पृ० ३१४

में ऋषभ आदि २४ तीर्थंकर हुए हैं और उत्सर्पिणी काल के चौथे आरे में २४ तीर्थंकर होंगे।^१ ये सभी तीर्थंकर धर्म के मूल स्तम्भ हैं। इन्होंने शश्वत सत्यों का समान रूप से निरूपण किया है, और वस्तु धर्म का वे आगे भी ऐसा ही प्रतिपादन करेंगे। जैसे स्वयं भगवान् महावीर ने कहा भी है कि जो अर्हत् हो चुके हैं, जो वर्तमान में हैं, और जो आगे भी होंगे, उन सब का यही निरूपण है कि किसी भी जीव की हिंसा मत करो।^२

(अ) धर्म के मूल तत्त्वों में अभेद :

धर्म के मूल तत्त्वों के निरूपण में एक तीर्थंकर से दूसरे तीर्थंकर का किञ्चित् मात्र भी भेद न कभी रहा है और न कभी रहेगा परन्तु प्रत्येक तीर्थंकर अपने-अपने समय में देश, काल, तत्कालीन मानव की शक्ति, बुद्धि एवं सहिष्णुता आदि को ध्यान में रखकर तदनुरूप धर्म दर्शन का प्रवचन करते हैं।^३

देश, काल के प्रभाव से जब तीर्थ में नाना प्रकार की विकृतियां उत्पन्न हो जाती हैं, परस्पर में अनेक भ्रान्तियां पनपने लगती हैं, उस समय दूसरे तीर्थंकर का जन्म होता है। आचार्य रविषेण ने कहा है कि 'जब उत्तम आधार का विघात हो जाता है। मिथ्याधर्मियों के पास धन की वृद्धि हो जाती है, सत्यधर्म के प्रति निरादर की भावना उत्पन्न होने लगती है, तब तीर्थंकर भगवान् उत्पन्न होते हैं।^४ वे विशुद्ध रूप से नवीन तीर्थ की स्थापना करते हैं, इसी से वे तीर्थंकर कहलाते हैं। धर्म के प्राणभूत सिद्धान्त ज्यों के त्यों उपदिष्ट किए जाते हैं। बाह्य क्रियाओं एवं आचार, व्यवहार आदि में ही किञ्चित् अन्तर आता है।^५

(आ) महाव्रतों की देशना :

सभी तीर्थंकर महाव्रतों की देशना करते हैं।^६ ऐसा माना जाता है कि प्रागऐतिहासिक काल में भगवान् ऋषभ ने पांच महाव्रतों का उपदेश दिया था किन्तु बाद के काल में पार्श्वनाथ पर्यन्त तीर्थंकरों ने चातुर्याम धर्म का उपदेश

१. अनागतकाल के चौबीस तीर्थंकर —

महापद्म—सुरदेव—सुपार्श्व—स्वयंप्रभ—सर्वात्मभूत—देवपुत्र—
कुलपुत्र—उदक—प्रौष्ठिल—जयकीर्ति—मुनिसुव्रत—अर—निष्पाप—
निष्कण्य—विपुल—निर्मल—चित्रगुप्त—स्वयंभू—अनिर्वतक—
जय—विमल—देवपाल—अनन्तवीर्यश्चेति भविष्यत्कालसम्बन्धि—
चतुर्विंशति तीर्थंकरेभ्यो नमो नमः। वही,

२. दे० आचार्य, ४:१:१

३. दे०—तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग-१, पृ० ५

४. आचाराणां विघातेन कुदृष्टीनां च संपदा।

धर्मलानिपरिप्राप्तमुच्छयन्ते जिनोत्तमाः। पद्मपुराण, ५:२०६

५. दे०—तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग-१, पृ० ५

६. भग०, २०:६६

दिया । ये चार याम थे—अहिंसा, सत्य, अचौर्य एवं बहिस्तात् आदान—विरमण (अपरिग्रह)^१ किन्तु अन्तिम तीर्थकर महावीर ने पांच महाव्रतों की देशना दी थी । उनके पांच महाव्रत हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ।^२ पार्श्वनाथ के शिष्य कुतर्कों का सहारा लेकर अब्रह्मचर्य का समर्थन करने लगे थे । अतः भगवान् महावीर ने उसको (ब्रह्मचर्यको) अलग से महाव्रत का स्थान दिया और इस प्रकार महाव्रत पांच हो गए ।^३

(इ) मोक्षमार्ग का उपदेश :

तीर्थकर मोक्ष—मार्ग का उपदेश देते हैं । वह मोक्षमार्ग हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र । ये तीनों युगपत् मोक्षमार्ग का साधन बतलाया गया है ।^४ इस रत्नत्रय की विशुद्धि को ही धर्म भी कहा गया है ।^५

(ई) अनेकान्तवादनिरूपण :

तीर्थकर अनेकान्तवाद का भी उपदेश देते हैं । आचार्य नेमिचन्द्र ने अरुहन्त भगवान् को अनेकान्तवाद का प्रकाशक बतलाया है ।^६ प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है^७, उसको प्रमाण^८ और नयों^९ के द्वारा ही समझा जा सकता है ।^{१०} स्याद्वाद^{११} के द्वारा उन अनेक धर्मों का संग्रह करना, समन्वय करना ही अनेकान्त है । इस अनेकान्त को समझ लेने से दृष्टि सम्यक् हो जाती है ।

१. ठाणं, ४.१३६

२. उ०, २१.१२

३. विस्तार के लिए दे०—(तुलसी), उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ० १२४

४. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः । त०सू० १.१

५. धर्मः पुंसो विशुद्धिः सुदृगवगमचारित्ररूपा— । धर्मा०, १.६०

६. अनेकान्तद्योतिनिर्बाधप्रमाणोदारधनुः च । प्रतिष्ठातिलक, ३७४

७. संति अणांताणंता तीसु वि कालेसु सब्ब—दब्बाणि ।।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा० २२४

८. (क) तत्त्वज्ञानं प्रमाणं । आप्त मीमांसा, का० १०१

(ख) सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम् । आलापपद्धति, । दे० नयचक्र पृ० २१३

९. प्रमाण के द्वारा जिसका स्वरूप प्रकट है ऐसी अनन्तधर्मात्मक वस्तु के एक देश का जो ज्ञान कराता है वह नय है । नैगम, संग्रह, व्यवहार ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरुढ और एवम्भूत ये सात नय हैं ।

विस्तृत अध्ययन के लिए दे० नयचक्र तथा त०वृ० १.३३

१०. प्रमाणनयैरधिगमः । त०सू० १.६

११. स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः ।

सप्तमंग—नयापेक्षो हेयाऽऽदेय—विशेषकः ।। आप्त मीमांसा, का० १०४

(उ) जीवाजीव निरूपण :

भगवान् महावीर ने जीवाजीव का उपदेश देते हुए बतलाया कि तत्त्व दो प्रकार के हैं—(१) जीव तत्त्व और (२) अजीव तत्त्व। जीव के भी दो भेद होते हैं—(१) सिद्ध (मुक्त) जीव, और (२) संसारी जीव। सिद्ध जीव अनन्त सुख से युक्त, अक्षय, मलरहित एवं सब प्रकार की बाधाओं से सर्वदा मुक्त होता है। संसारी जीव के त्रस एवं स्थावर ये दो भेद होते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये पांच स्थावर जीव हैं। द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के प्राणी त्रस जीव कहलाते हैं।^१

आगे फिर बतलाया गया है कि जीव बड़ी मुश्किल से पांचों इन्द्रियों से निरोग तथा सुरुप होता है। सभी सुन्दर वस्तुओं की प्राप्ति होने पर भी अपुण्यशाली मूर्ख मनुष्य की लोभ एवं मोहवश धर्म में बुद्धि नहीं होती। वह कुधर्मरूपी क्रीड़ाओं में फंस जाता है और जिन-उपदिष्ट धर्म को वह प्राप्त नहीं करता। मनुष्यत्व प्राप्त करके जिसका चित धर्म में नहीं लगता, उस मनुष्य के करतल में आया हुआ अमृत भी मानों नष्ट हो जाता है।^२

जिनेन्द्र भगवान् की देशना भाग्यवान् पुरुषों को ही प्राप्त होती है। गम्भीर, सर्वतोभद्र, सदा सब के लिए कल्याणकारी, समस्त भावों के प्रकाशक, जिन भगवान् द्वारा निरूपित धर्म को जो सम्यग् प्रकार से अनुभव करते हैं अथवा जो उसे सम्यग् प्रकार से पहचानते हैं, वे आत्माएं धन्य हैं।^३

(ऊ) तीर्थकर उपदेश का फल :

तीर्थकर के उपदेश का फल बतलाते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि जिन वचनरूपी औषधि विषय सुख को दूर करने वाली, अमृतरूप, जरा और मरण की व्याधि को दूर करने वाली तथा सब दुःखों का क्षय करने वाली है।^४

इस प्रकार से तीर्थकर के उपदेश से सभी जीवों का कल्याण होता है। उनके द्वारा बतलाए हुए मोक्ष मार्ग पर चलने से आत्मा परम विशुद्ध हो जाती है और उसके परिणामस्वरूप अन्त में मुक्ति लाभ करती है। यही सत्त्व का परमधेय भी होता है।

(ट) तीर्थकर अवतार नहीं :

जैनधर्म अवतारवाद में श्रद्धा नहीं रखता है। जैन किसी ऐसे ईश्वर को

१. दे०— पउम० २.६२—६५

२. वही, २.७७—८०

३. गंभीरं सब्बओभददं सब्बभावविभावणं।

धण्णा जिणाहितं मग्गं सम्मं वेदंति भावओ।। इसि० ६.३३

४. जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरयणं अभिदभूयं।

जर मरण वाहिहरणं खयकरणं सब्बदुक्खाणं।। दंसणपाहुड गा० १७

नहीं मानते जो बार—बार अवतार लेता है। तीर्थकर ईश्वर या किसी अव्यक्त शक्ति के अवतार नहीं होते। जैनधर्म में संसार की उत्पत्ति, संरक्षण और विनाश करने वाली कोई ऐसी शक्ति विशेष नहीं मानी गई है जो संसार का संचालन करती हो। संसार में जो जीव आदि षड्द्रव्य हैं, उनके अपने—अपने स्वभाव और कार्यकारण भाव से ही संसार का उत्पाद, स्थिति और प्रलय होता है। तीर्थकर मनुष्य रूप ही होते हैं, किन्तु वे साधारण मनुष्यों से परे, असंसारण शक्ति से सम्पन्न होते हैं।^१

(अ) तीर्थकर एक सामान्य जीव

जैनधर्म का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि तीर्थकर का जीव अतीत में एक दिन हमारी ही तरह वासना के चंगुल में फंसा हुआ था, आधि—व्याधि और उपाधियों से संतृप्त था, तथा हेय, ज्ञेय और उपादेय का उसे तनिक भी ध्यान नहीं था। वह मात्र भौतिक सुखों को सच्चा सुख मानकर दिन—रात उनमें ही खोया रहता था, वैराग्य का किंचित् भी विवेक उसे नहीं था परन्तु जब कदाचित् महान् पुरुषों के साथ उसकी संगति हुई तो उसके ज्ञान—चक्षु खुल गए और उसे भेद—विज्ञान की उपलब्धि हो गई। यथार्थ स्थिति का मान होने से तथा कठोर तप के बल पर उसके परम आत्मशुद्धि प्राप्त करने पर वह ही इस परम पद अरहन्तत्व पर पहुँच गया, अरहन्त परमात्मा बन गया।

(आ) आध्यात्मिक विकास से तीर्थकर पद-प्राप्ति

सामान्य आत्माओं में से ही कोई एक आत्मा अपने आध्यात्मिक विकास की क्रमिक यात्रा करते हुए तीर्थकर के गरिमामय पद को उपलब्ध कर लेता है। जैनों के अनुसार प्रत्येक आत्मा का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। प्रत्येक आत्मा तत्त्वतः स्वयं में परमात्मा है किन्तु कर्म—बन्धन के कारण उसका वह परमात्मत्व स्वरूप आवरित है। कर्मबन्धन से मुक्त होते ही वही उसका परमात्मत्व न प्रगट हो जाता है।^२

इस प्रकार तीर्थकर की अवधारणा अवतारवाद से भिन्न है। अवतारवाद में एक ही सर्वोच्च शक्ति बार—बार जन्म लेती है जबकि तीर्थकर की अवधारणा में प्रत्येक तीर्थकर अपना भिन्न—भिन्न अस्तित्व रखता है। कोई भी आत्मा अपना आध्यात्मिक विकास करके उस पद को प्राप्त कर सकता है। वही आत्मा अन्तिम सिद्ध पद को प्राप्त कर पुनः संसार में नहीं आता। अवतारवाद में आत्मा या परमात्मा ऊपर से नीचे की ओर आता है जबकि तीर्थकर की अवधारणा में कोई भव्य सत्त्वात्मा परमात्मत्व की ऊँचाइयों को उपलब्ध करता है। एक में जहाँ अवतरण है तो दूसरे में वहीं उन्नयन (उत्तरण) है। इस प्रकार दोनों अवधारणाओं में यही महत् अन्तर है।

१. दे०— (बलभद्र), जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, प्रथम भाग प्राक्कथन, पृ० ७

२. परमात्म०, पृ० १०२

(ठ) अरहन्त-भक्ति और उसका फल :

जैनधर्म में अरहन्त देव परम पूज्य हैं, उन्हीं को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। अतः प्रत्येक जैन साधक का यह परम कर्तव्य है कि वह आदर्श पुरुष के रूप में तीर्थकरों की स्तुति करे। यहां यह बात स्पष्ट रूप से जान लेनी चाहिए कि जैन दर्शन में जो तीर्थकरों की स्तुति की जाती है उससे किसी प्रकार के भौतिक लाभ की अपेक्षा करना व्यर्थ है, कारण कि तीर्थकर किसी को कुछ नहीं देते। 'गीता' के कृष्ण की तरह तीर्थकर कोई इस प्रकार की उद्घोषणा भी नहीं करते कि 'तुम मेरी भक्ति करो, मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूंगा।' जैन तीर्थकर प्रत्यक्ष रूप से अपने भक्त की किसी भी उपलब्धि में सहायक नहीं बनते, क्योंकि ऐसा करने पर उनकी वीतरागता में बाधा आती है।

तब फिर हम उनकी भक्ति क्यों करें? इस प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्य समन्तभद्र ने स्पष्ट रूप से कहा है कि 'हम तीर्थकर की स्तुति इसलिए नहीं करते हैं कि उसकी स्तुति करने अथवा उनके न करने से वह हमारा हित अथवा अहित करेगा। वे अत्यन्त सहज, भाव से कहते हैं कि हे प्रभु! तेरी प्रशंसा करने से भी कोई लाभ नहीं, क्योंकि तुम वीतराग हो, अतः स्तुति करने पर भी आप प्रसन्न भी नहीं होंगे। तेरी निन्दा करने से भी कोई भय नहीं है, क्योंकि तू तो विवान्तवैर है, अर्थात् निन्दा करने पर भी नाराज नहीं होते, फिर भी हम तेरी स्तुति इसलिए करते हैं कि तेरे पुण्य गुणों के स्मरण से हमारा चित्त दुर्गुणों से पवित्र हो जाता है—

न पूज्यार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ विवान्त वैरेः।

तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिनः पुनातु चित्तं दुरितां वनेभ्यः॥^१

उत्तराध्ययन सूत्र में तीर्थकर स्तवन का फल बतलाते हुए कहा गया है कि 'चौबीस वीतराग तीर्थकरों की स्तुति से जीव दर्शनविशुद्धि को प्राप्त होता है।'^२ आचार्य भद्रबाहु ने भी स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि उनके नाम स्मरण से पापों का पुंज नष्ट हो जाता है।^३

आचार्य वट्टकर कहते हैं कि जो प्रयत्नशील भाव से अरहन्त को नमस्कार करता है वह अतिशीघ्र ही सभी दुःखों से छुटकारा पा लेता है।^४

१. सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ गीता, १८.६६

२. स्वयम्भुस्तोत्र, १२.२

३. चउब्बीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ। उ० २६.१०

४. अरिहंतनमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो। आ० नि० गा० ६२६

५. अरहंतणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदी।

सो सव्वदुक्खमोक्कसं पावदि अचिरेण कालेण॥ मूला० ७.५०६

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र में अरहन्त की पूजा का फल और उसकी आवश्यकता पर बल देते हुए बतलाया गया है कि 'अरहन्तदेव का पूजन करने से रागद्वेष आदि मानसिक विकार दूर हो जाते हैं और चित्त निर्मल हो जाता है, चित्त के निर्विकार होने से अच्छी प्रकार समाधि लगती है जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः अरहन्त का पूजन करना न्यायोचित है' क्योंकि मोक्ष की प्राप्ति ही प्राणी का मुख्य उद्देश्य है।

भगवती आराधना में अरहन्त—नमस्कार पर विशेष बल देते हुए कहा गया है कि 'मरते समय यदि एक बार भी अरहन्त को नमस्कार किया जाय तो उसे जिनागम में संसार का उच्छेद करने में समर्थ कहा है।'^१

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अरहन्त भगवान् की उपासना करने से महान् फल प्राप्त होता है। उनके स्तवन से मानसिक पवित्रता प्राप्त होती है जिससे प्राणी के मानसिक दृष्टिकोण में परिवर्तन आ जाता है और उसके परिणामस्वरूप मोह—विच्छेद हो जाता है। तत्पश्चात् प्राणी वीतरागता के पथ पर अग्रसर होता हुआ सभी प्रकार के विघ्नों से मुक्त हो जाता है और उसे प्रशस्त मंगल की प्राप्ति हो जाती है। रागद्वेष आदि दुष्प्रवृत्तियों के पूर्णतया नष्ट हो जाने पर उसे निःश्रेयस् की प्राप्ति होती है।

१. अभ्यर्चनादहतां मनः प्रसादस्ततः समाधिश्च।

तस्मादपि निःश्रेयसमतो हि तत्पूजनं न्यायम्॥

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, सम्बन्धका० ८

२. अरहन्तणमोक्कारो एक्को वि हविज्ज जो मरणकाले।

सो जिणवयणे दिट्ठो संसारुच्छेदणसमतथो ॥ भग. आ० ७५४

सिद्ध परमेष्ठी

लोकाग्रभागभवना भवभीति-मुक्ताः,

ज्ञानावलोकित - समस्त - पदार्थसार्थाः ॥

स्वाभाविकस्थिरविशिष्टसुखैः समृद्धाः,

सिद्धा विलीनधनकर्मसला जयन्ति ॥

- मंगल-वाणी, पृ० २७८

तृतीय परिच्छेद सिद्ध परमेष्ठी

तेरहवें गुणस्थानवर्ती योगयुक्त उत्कृष्ट योगावचर को जिन, अर्हत्त्व की उपलब्धि हो जाने पर **सयोगकेवली** कहा जाता है किन्तु जब वही बौद्धहवें गुणस्थान में पहुँचता है तब इनके योग का निःशेषतः अभाव हो जाता है और वे सम्पूर्ण कर्मबन्ध से भी परे हो जाते हैं। इसी से ये **अयोगकेवली** कहलाते हैं। इन्हें जो कुछ भी करणीय था वह उनके द्वारा पूर्ण कर लिया होता है। अब वे विगतकर्मा हैं, भवहीन हैं और कृतकृत्य हैं। ऐसी आत्मा जिसने सम्पूर्ण कर्म— इन्धन को नष्ट कर दिया है, जिसकी कर्माग्नि शान्त हो गई है, वही कर्मक्षयी आत्मा अब सिद्ध परमेष्ठी पद पर प्रतिष्ठित हो जाती है।

(क) सिद्ध पद का निर्वचन एवं व्याख्या :

व्याकरण के अनुसार सिद्ध शब्द सिध्+क्त प्रत्यय से बना है। 'जिसका साधन हो चुका है, जो पूरा हो चुका है, सम्पन्न, अनुष्ठित, अवाप्त एवं सफल' इत्यादि ही विद्वानों ने इसके अर्थ किए हैं।^१ जैन दर्शन में इस पद की विभिन्न विशिष्ट व्याख्याएं उपलब्ध होती हैं।

भगवतीसूत्र में सिद्ध शब्द की निरुक्ति एवं व्युत्पत्तिपरक जो भिन्न-भिन्न व्याख्याएं की गई हैं वे निम्न प्रकार हैं—

'जिन्होंने भूतकाल में बांधे हुए (पूर्वबद्ध) आठ प्रकार के कर्मों को शुक्ल ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा नष्ट कर दिया है—वे सिद्ध कहलाते हैं।'^२

सिद्ध पद की व्युत्पत्ति गत्यर्थक 'षिधु' धातु से 'क्त' प्रत्यय लगाकर होती है जिससे इसका अर्थ यों निकलता है कि 'जो ऐसी निर्वाणपुरी को चले गए हैं, जहां से उन्हें कभी भी वापिस नहीं आना पड़ता।' ^३

'षिधु' धातु का दूसरा अर्थ संराधन अर्थात् निष्पत्ति भी लिया जाता है। इस प्रकार जिनका लक्ष्य सिद्ध हो गया है अथवा निष्पन्न हो गया है—वे ही सिद्ध हैं।^४

१. दे०—(आष्टे), संस्कृत—हिन्दी कोष, पृ० ११०५

२. सितं—बद्धमष्टप्रकारं कर्मन्धनं ध्यातं—दग्धं जाज्वल्यमानशुक्लध्यानानलेन यैस्ते। भग०वृ०प० ३

३. अथवा 'षिधु गती' इति वचनात् सेधन्ति स्म—अपुनरावृत्त्या निर्वृतिपुरीमगच्छन्। वही

४ 'षिधु संराद्धौ इति वचनात् सिद्धयन्ति स्म निष्ठितार्था भवन्ति स्म। वही

‘विधु’ धातु शास्त्र और माङ्गल्य अर्थ में भी आती है। इस प्रकार जो शास्त्रों के शास्ता हुए हैं और जिन्होंने माङ्गल्यरूप का अनुभव किया है, वे सिद्ध हैं।^१

१. कर्मबन्धमुक्त-सिद्ध :

धवला टीकाकार सिद्ध पद की व्याख्या करते हुए बतलाते हैं कि ‘जो पूर्णरूप से अपने स्वरूप में स्थित हैं, कृतकृत्य हैं, जिन्होंने अपने साध्य को सिद्ध कर लिया है और जिनके ज्ञानावरण आदि आठ कर्म नष्ट हो चुके हैं, वे ही सिद्ध हैं।’^२

यहां ही आगे और अधिक विस्तार करते हुए कहा गया है कि जिन्होंने नानाभेद रूप आठ कर्मों का नाश कर दिया है, जो तीन लोक के मस्तक के शेखर स्वरूप हैं, दुःखों से रहित हैं, सुखरूपी सागर में निमग्न हैं, निरंजन हैं, नित्य हैं, आठ गुणों से युक्त हैं, निर्दोष हैं, कृतकृत्य हैं, जिन्होंने समस्त पर्यायों सहित सम्पूर्ण पदार्थों को जान लिया है, जो वज्रशिला निर्मित अभग्न प्रतिमा के समान अभेद्य आकार से युक्त हैं, जो पुरुषाकार होने पर भी गुणों से पुरुष के समान नहीं हैं क्योंकि पुरुष सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों को भिन्न-भिन्न देशों में जानता है, परन्तु जो प्रत्येक देश में सब विषयों को जानते हैं, वे ही सिद्ध हैं।^३

२. भव्यात्मा-सिद्ध :

आवश्यकनिर्गुक्ति में सिद्ध भगवान् का वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि ‘सब दुःखों को नाश करके, जन्म, जरा—मरण और कर्मबन्ध से मुक्त हुए तथा किसी भी प्रकार की बाधाओं से रहित, ऐसे शाश्वत सुख का अनुभव करने वाले भव्यात्मा ही सिद्ध कहलाते हैं।’^४

१. विधूञ् शास्त्रे माङ्गल्ये च इति वचनात् सेधन्ति स्म—शासितारोऽभूवन् माङ्गल्यरूपतां चानुभवन्ति स्मेति सिद्धाः । वही
२. णमो सिद्धाणं—सिद्धाः निष्ठिताः कृतकृत्याः
सिद्धसाध्याः नष्टाष्टकर्मणाः । धवला टीका, प्रथम पुस्तक, पृ० ४७
३. निहय—विविहदठ—कम्मा—तिहुवण—सिर—सेहरा विहुवदुक्खा ।
सुहसायर—मज्झगया गिरंजणा णिच्च—अदठगुणा ।।
अणवज्जा कय—कज्जा सव्वावयवेहि दिदठ—सव्वदठा ।
वज्ज—सिलत्थम्मगय—एडिमं वामेज्ज—संठाणा ।।
मणुस—संठाणा वि हु सव्वावयवेहि णो गुणेहि समा ।
सव्धिंदियाण विसयं जमेग—देसे विजाणंति ।। वही, गा० २६—२८
४. निष्ठिन्न सव्वदुक्खा जाइजरामरणबन्धविमुक्का ।
अव्वावाहं सुखं अणुहवंति सासयं सिद्धा ।। आ० नि०, गा० ६८८

३. अनन्तचतुष्टयी सिद्ध :

आचार्य कुन्दकुन्द भी कहते हैं कि जो अनन्तदर्शन तथा अनन्तज्ञान रूप हैं, अनन्तवीर्य तथा अनन्तसुख से युक्त हैं, अविनाशी सुख सम्पन्न हैं, शरीर रहित हैं और आठ कर्मों के बन्धन से मुक्त हो गए हैं, वे सिद्ध परमेष्ठी हैं ।^१

४. निरुपम एवं शाश्वत सिद्ध :

वे सिद्ध निरुपम हैं क्योंकि संसार में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जिससे उनकी उपमा की जा सके, अचल हैं, अक्षोभ हैं अर्थात् किसी भी प्रकार का उत्पात उत्पन्न होने पर उनमें विकार उत्पन्न नहीं होता, स्थिर रूप से निर्मापित हैं, संसारावस्था के अन्तिम क्षणरूप उपादान से सिद्ध—अवस्था को प्राप्त हुए हैं, अजंगम रूप से सिद्ध स्थान में स्थित हैं, वे कायोत्सर्ग अथवा पद्मासन मुद्रा में स्थित हैं क्योंकि मुक्तात्माओं के यही दो आसन निश्चित हैं तथा वे सिद्ध शाश्वत हैं ।^२

५. अष्टमहागुणसम्पन्न सिद्ध :

नियमसार में भी बतलाया गया है कि आठ कर्मों के बन्ध को जिन्होंने नष्ट कर दिया है, जो आठ महागुणों से युक्त हैं, परमतत्त्व स्वरूप हैं, लोक के अग्रभाग में स्थित हैं और नित्य हैं—ऐसे वे सिद्ध भगवान् होते हैं ।^३

६. लोकाग्रभागस्थित सिद्ध :

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने अपने अनुपम ग्रन्थरत्न गोम्मतसार में उपर्युक्त मत का समर्थन करते हुए कहा है कि जो आठ कर्मों से रहित हैं, अनन्तसुख में निमग्न हैं, नवीन कर्मबन्ध के कारणभूत मिथ्यादर्शन आदि भावकर्मरूपी अञ्जन से रहित हैं, नित्य हैं, आठ गुणों से युक्त हैं, कृतकृत्य हैं और लोक के अग्रभाग में स्थित हैं—वे ही सिद्ध परमेष्ठी हैं ।^४

आचार्य वट्टकेर का भी अभिमत है कि 'यह जीव अनादिकाल से आठ कर्मों से लिप्त है और जब उसके ये ही कर्म नष्ट हो जाते हैं, तब वह सिद्धत्व

१. दंसण अणंतणाणं अणंतवीरिय अणंतसुक्खा य ।

सासय सुक्ख अदेहा मुक्का कम्मदब्धेहिं ।। बोधपाहुड, गा० १२

२. गिरुवममचलमखोहा निम्भिवियाजंगमेण रूवेण ।

सिद्धट्ठाणम्मि ठिया वोसरपडिमा धुवा सिद्धा ।। वही, गा० १३

३. णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमणिया परमा ।

लोग्गण्ठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति ।। नियम०, गा० ७२

४. अट्ठविहकम्मवियला, सीदीभूदा गिरंजणा णिच्चा ।

अट्ठगुणा किदकिच्चा, लोग्गणिविसिणो सिद्धा ।। गो०जी०, गा० ६८

को प्राप्त हो जाता है ।^१

७. त्रिलोकवन्दनीय सिद्ध :

भगवतीआराधना में सिद्ध भगवान् का गुणगान करते हुए कहा गया है कि जिन्होंने रागद्वेष को दूर कर दिया है, और जो भय, मद, उत्कण्ठा और कर्मरूप धूलिपटल से रहित हैं, वे सिद्ध तीनों लोकों के द्वारा वन्दनीय हैं ।^२

८. परमसुखीसिद्ध :

संसार में जितना भी शारीरिक और मानसिक सुख—दुःख है, उसे सिद्ध परमेष्ठी पूर्णरूप से नष्ट कर चुके होते हैं क्योंकि उन्हें इस तरह की कोई भी बाधा नहीं होती, वे समस्त बाधाओं को जानते हैं तथा अध्यवसान—विकल्पवासाना से रहित होते हैं, इसी से वे परमसुखी हैं—

जावं तु किंचि लोए सारीरं माणसं च सुहदुक्खं ।
तं सव्वं णिज्जिण्णं असेसदो तस्स सिद्धस्स ॥
जं णत्थि सव्वबाधाओ तस्स सव्वं च जाणइ जदो से ।
जं च गदज्जवसाणो परमसुही तेण सो सिद्धो ॥^३

आचार्य शिवार्य आगे लिखते हुए कहते हैं कि 'सिद्धों का शब्द आदि विषयों से कोई प्रयोजन नहीं होता कारण कि उन्हें भूख, प्यास आदि की बाधा नहीं होती तथा विषयों के उपभोग के कारण रूप रागादि भी नहीं होते । इसी कारण सब प्रकार की क्रियाओं से रहित सिद्धों में बोलना, चलना, फिरना तथा विचारना आदि भी नहीं होता ।^४

९. परमविशुद्ध आत्मा: सिद्ध परमात्मा :

आचारांगसूत्र में परमविशुद्ध आत्मा का जो स्वरूप बतलाया गया है, वही सिद्ध परमात्मा का स्वरूप है । यहां बतलाया गया है कि—परम विशुद्ध आत्मा—परमात्मा (=सिद्ध) का वर्णन करने में कोई भी शब्द समर्थ नहीं है । परमात्मा तर्क—गम्य भी नहीं है । उसे मति के द्वारा भी ग्रहण नहीं किया जा

१. दीहकालमयं जंतू उसिदो अट्ठकम्महिं ।

सिद्धे धत्ते णिधत्ते य सिद्धत्तमुववच्छइ ॥ मूला० ७.५०७

२. मदरागदोसमोहो विभओ विमओ णिरुस्सओ विरओ ।

बुधजणपरिगीदगुणो णमंसणिज्जो तिलोगस्स ॥ भग०आ०, गा० २१३७

३. वही, २१३६—४०

४. विसएहिं से ण कज्जं जं णत्थि छुदादियाओ बाधाओ ।

रागादिया य उवभोगहेदुगा णत्थि जं तस्स ॥

एदेण चेव अणिदो भासणचंकमणचिंतणदीणं ।

चेट्ठाणं सिद्धम्मि अभावो हदसव्वकरणम्मि ॥ वही, गा० २१४८—४९

सकता । वह अकेला, शरीर रहित और ज्ञाता है ।

१०. निर्लिप्त परमात्मा: सिद्ध :

ये परमात्मा न तो दीर्घ हैं, न ही ह्रस्व, न वृताकार हैं, न ही त्रिकोण, न चौकोर हैं और न ही परिमण्डलाकार हैं । न काले हैं, न नीले, न लाल, न पीले और न ही शुक्ल हैं । सुगन्धित भी नहीं हैं और न ही वे दुर्गन्धित हैं । वे तिक्त भी नहीं हैं, न ही कटु, न कषैले हैं, न अम्ल और न ही मधुर हैं । वे कठोर भी नहीं हैं, न कोमल, न गुरु, न लघु, न शीत, न उष्ण, न स्निग्ध हैं और न ही वे रुक्ष ही हैं ।

वे सिद्ध परमात्मा शरीरवान्, जन्मधर्मा, और लेपयुक्त भी नहीं हैं, वे न स्त्री हैं, न पुरुष और न ही नपुंसक हैं । केवल वे परिज्ञानरूप और एकमात्र ज्ञानमय हैं ।

उनके लिए कोई भी उपमा नहीं दी जा सकती । उन अमूर्त अस्तित्व वाले सिद्ध परमात्मा का बोध कराने के लिए कोई भी पद नहीं है । वह शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्शरूप से परे हैं ।^१

इस तरह शुक्लध्यान के चरमोत्कर्ष से अष्टकर्मों के नाशक, परमविशुद्ध आत्मा और मोक्ष में स्थित रहने वाले, निराकार तथा समस्त पौद्गलिक गुणों और पर्यायों से रहित सिद्ध परमात्मा हैं । सिद्ध अष्टगुणों एवं अनन्त चतुष्टय से युक्त होते हैं । वे स्थिर एवं शाश्वत लोक के अग्रभाग पर अवस्थित हैं ।

(ख) सिद्ध के पर्यायवाची पद :

औपपातिकसूत्र के सिद्धाधिकार में सिद्ध के अनेकों पर्यायवाची शब्द उपलब्ध होते हैं—(१) सिद्ध, (२) बुद्ध, (३) पारंगत, (४) परम्परागत, (५) उन्मुक्त कर्मकवच, (६) अजर, (७) अमर और (८) असंग ।^२

१. सव्वे सरा णियट्ठंति, तक्का तत्थ न विज्जइ ।

मई तत्थ ण गाहिया, ओए अप्पतिट्ठाणस्स खेयण्णे ।।

से ण दीहे, ण हस्से, ण वट्ठे, ण तंसे, ण चउरंसे, ण परिमंडले । ण किन्हे, ण गीले, ण लोहिए, ण हालिहे, ण सुविकल्ले । ण सुभिगंधे, ण दुरभिगंधे । ण तित्ते, ण कडुए, ण कसाए, ण अंबिले, ण महुरे । ण कक्खडे, ण मउए, ण गरुए, ण लहुए, ण सीए, न उण्हे, ण णिद्धे, ण लुक्खे ।

ण काऊ, ण रुहे, ण संगे । ण इत्थी, ण पुरिसे, ण अण्णहा । परिण्णे सण्णे ।

उवमा ण विज्जए । अरूवी सत्ता । अपयस्स पयं णत्थि । से ण सद्दे, ण रूवे, णं गंधे, ण रसे, ण फासे, इच्चे ताव । आयारो, ५.६. १२३.१४०

२. सिद्धति य बुद्धति य, पारगयति य परंपरगय ति ।

उन्मुक्क—कम्म—कवया, अजरा अमरा असंगा य ।। ओवाइयं, १६५ (२०)

(१) **सिद्ध** : सिद्ध कृतकृत्य का नाम है, अथवा जिस जीव ने अपनी आत्म-साधना पूर्ण रूप से सिद्ध एवं सम्पन्न कर ली है, वह सिद्ध है।

(२) **बुद्ध** : केवलज्ञान के द्वारा समस्त विश्व को जानने वाले सिद्ध बुद्ध कहलाते हैं।

(३) **पारंगत** : जो संसाररूपी समुद्र से पार हो चुके हैं वे सिद्ध पारंगत हैं।

(४) **परम्परागत** : सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति, पुनः सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति, उसके बाद सम्यक् चारित्र्य की प्राप्ति रूप परम्परा से जो मोक्ष को प्राप्त करते हैं, वे ऐसे सिद्ध परम्परागत कहलाते हैं।

(५) **उन्मुक्त कर्मकवच** : सब प्रकार के कर्मरूप कवच से रहित सिद्ध उन्मुक्त कर्मकवच होते हैं।

(६) **अजर** : जरा से यहां अभिप्राय है वृद्धावस्था और जिसे इसका अभाव है वे ही अजर हैं।

(७) **अमर** : जो कभी भी नहीं मरते, वे अमर हैं अथवा जो सदैव विद्यमान रहते हैं, वे अमर कहलाते हैं।

(८) **असंग** : संग से अभिप्राय है आसक्ति अथवा लिप्त होना। जो सब प्रकार के क्लेशों से रहित अथवा निर्लिप्त हैं वे असंग कहलाते हैं।

सिद्ध भगवान् के स्वरूप की दृष्टि से ये सभी पर्यायवाची शब्द सार्थक ही प्रतीत होते हैं।

(ग) **सिद्धगति का स्वरूप** :

भग्य जीव जब सिद्धगति को प्राप्त हो जाता है तब वह अनुपम स्व-स्वरूप को धारण कर लेता है। प्रणिपातसूत्र (नमोत्थुणं) में सिद्धगति का बहुत ही सुन्दर विवेचन किया गया है। यहां सिद्धगति की शिव, अचल, अरुज, अनन्त, अक्षय, अव्याबाध और अपुनरावृत्ति ये सात विशेषताएं बतलाई गई हैं।^१

(१) **शिव** : शिव कल्याण एवं सुख का वाचक है। जो बाधा, पीड़ा और दुःख से रहित है वही शिव कहलाता है। सिद्धगति में केवल सुख ही सुख है। वहां पर किसी भी प्रकार की पीड़ा या बाधा नहीं होती है। सिद्धगति में आनन्दरूपी दिवाकर का प्रकाश सदैव फैला हुआ रहता है। अतः सर्वथा सुखस्वरूप उस सिद्धगति को शिव कहा गया है।

१. शिवमलयमरुयमणन्तमक्खयमव्यावाहमपुणरावत्तयौसिद्धिगइ—नामधेयं ठाणं।
आवस्सयं, ६. ११

(२) **अचल** : चलन दो प्रकार का होता है—एक स्वाभाविक तथा दूसरा प्रायोगिक । जो चलन किसी—किसी की प्रेरणा के बिना स्वभावतः ही होता है वह स्वाभाविक चलन है । जो वायु आदि बाह्य—निमित्तों से उत्पन्न होता है, वह प्रायोगिक चलन माना जाता है । सिद्धगति में न तो स्वाभाविक चलन होता है और न ही प्रायोगिक । इसी से वह अचल गति कहलाती है ।

(३) **अरुज** : रुज अथवा रुजा से अभिप्राय है—पीड़ा, संताप अथवा व्याधि । जिसे इसका अभाव है वह अरुज कहलाता है । सिद्धगति में रहने वाले जीव शरीर—रहित होते हैं । उनको वात, पित्त और कफजन्य शारीरिक रोगों का सर्वथा अभाव होता है । कर्मरहित होने से उनमें भाव अर्थात् रोगरूप, रागद्वेष एवं क्रोध आदि विकार भी नहीं होते । अतः वह सिद्धगति अरुज कहलाती है ।

(४) **अनन्त** : अन्तरहित का नाम ही अनन्त है । सिद्धगति को प्राप्त होने की आदि तो है परन्तु उसका अन्त नहीं क्योंकि सिद्धगति सदैव विद्यमान रहती है । अतः वह अनन्त है ।

(५) **अक्षय** : क्षयरहितता ही अक्षय है । सिद्ध गति सदैव अपने स्वरूप में अवस्थित रहती है, उसका स्वरूप कभी भी क्षीण नहीं होता । सिद्धगति में स्थित जीवों की ज्ञान आदि आत्म—विभूति में किसी भी प्रकार का हास अथवा क्षय नहीं आने पाता । इससे भी यह गति अक्षय कही जाती है ।

(६) **अव्याबाध** : बाधा अथवा पीड़ा से रहित स्थिति का नाम अव्याबाध है । सिद्धगति में मुक्त आत्माओं को किसी भी प्रकार की बाधा या पीड़ा नहीं होती और न ही वे जीव किसी दूसरे को किसी प्रकार की पीड़ा पहुंचाते हैं । अत एव सिद्धगति अव्याबाध कही गई है ।

(७) **अपुनरावृत्ति** : सिद्धगति में जो जीव एक बार चले जाते हैं, वे सदैव वहां ही रहते हैं । वे कभी भी वापिस संसार में नहीं आते । वे वहीं पर अनन्तज्ञान—दर्शन आदि आत्मगुणों में रमण करते रहते हैं । अतः सिद्धगति अपुनरावृत्तिरूप मानी गई है ।

(घ) **सिद्धों के मूल गुण** :

आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व और अगुरुलघुत्व ये आठ (स्वाभाविक) गुण माने गए हैं और ज्ञानावरण आदि आठ कर्म उपर्युक्त गुणों के अवरोधक हैं कारण कि आत्मा पर इन आठ कर्मों का आवरण पड़ जाने से ये गुण प्रकट नहीं होते, परन्तु जब आत्मा अपने पुरुषार्थ

से इन कर्मों का क्षय कर देता है, तब सिद्ध—अवस्था की प्राप्ति होती है। वैसे तो परमात्मा अनन्त गुणों की खान हैं, फिर भी उनमें स्वतः ही उपर्युक्त आठ गुणों का आविर्भाव हो जाता है। इन्हें ही सिद्धों के मूलगुण के रूप में स्वीकार किया गया है। ये विशिष्ट गुण हैं^१—

(१) **अनन्तज्ञान** : ध्यान योग के बल से ज्ञानावरणीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने पर सिद्ध भगवान् में अनन्त (केवल) ज्ञान प्रकट हो जाता है जिससे वे युगपत् सर्व द्रव्य—क्षेत्र—काल—भाव को जानते हैं।

(२) **अनन्तदर्शन** : जब तपोबल से दर्शनावरणीय कर्म का भी सर्वथा क्षय हो जाता है तब भव्यात्मा (सिद्ध) को अनन्तदर्शन गुण की उपलब्धि हो जाती है। अब वह लोक—अलोक के समस्त पदार्थों को देखने में समर्थ हो जाता है।

(३) **अनन्तसुख** : वेदनीय कर्म का सर्वथा क्षय होने से उन्हें अनन्त सुख की प्राप्ति हो जाती है। इसे दूसरे शब्दों में अव्याबाध सुख भी कहते हैं। जो सुख पौद्गलिक संयोग से मिलता है, वह संयोगिक सुख कहलाता है और जिसमें किसी न किसी प्रकार की विघ्न—परम्परा का आना भी हो सकता है, परन्तु जो सुख पौद्गलिक संयोग से रहित होता है उसमें कभी भी किसी प्रकार के विघ्नों का आना सम्भव ही नहीं होता। इसी कारण वह अनन्त अव्याबाध सुख के नाम से जाना जाता है।

(४) **अनन्तवीर्य** : विघ्नस्वरूप अन्तराय कर्म का क्षय होने पर सिद्ध भगवान् अनन्तवीर्य को प्राप्त कर लेते हैं। तब वे अनन्त शक्तिमान् हो जाते हैं।

(५) **सम्यक्त्व** : दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय, जो आत्मा के तत्त्वश्रद्धानरूप गुण और वीतरागत्व की प्राप्ति में विघ्नस्वरूप हैं, उनके क्षय होने पर आत्मा सम्यक्त्व को धारण कर लेता है जिससे आत्मा स्व—स्वरूप में रमण करने लगता है।

(६) **अवगाहनत्व** : आयुष्य कर्म की स्थिति का पूर्ण रूप से क्षय होने पर सिद्ध जीवों को अवगाहनत्व गुण की भी प्राप्ति हो जाती है। तब सिद्ध जीवों को जन्म एवं मरण नहीं होते। वे सदा ही स्वस्थिति में लीन रहते

१. (क) कृत्स्नकर्मक्षयाज्ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं पुनः।

प्रत्यक्षं सुखमात्मोत्थं वीर्यञ्चेति चतुष्टयम्।।

सम्यक्त्वं चैव सूक्ष्मत्वमव्याबाधगुणः स्वतः।

अस्त्यगुरुलघुत्वं च सिद्धे चाष्टगुणाः स्मृताः।। पंचाध्यायी, २.६ १७—१८

(ख) सम्मत पाणं दंसणवीरिय सुहमं तहेव अवगहणं।

अगुरुलहुमव्वावाहं सिद्धाणं वण्णिंया गुणद्वेदे।। वसुनन्दि श्रावकाचार, गा० ५३७

हैं। इसे ही अक्षयस्थिति भी कहा जाता है।

(७) सूक्ष्मत्व : नामकर्म का सर्वथा अन्त होने पर सिद्ध जीव सब प्रकार के स्थूल और सूक्ष्म रूपों से मुक्त होकर सूक्ष्मत्व (अरूपित्व) को प्राप्त हो जाता है। तब उसे इन्द्रियां ग्रहण नहीं कर सकतीं, यही उसकी सूक्ष्मता है।

(८) अगुरुलघुत्व : सिद्धत्व लाभ से गोत्र कर्म का भी क्षय हो जाता है और उन्हें अगुरुलघुत्व गुण की प्राप्ति हो जाती है। जब गोत्रकर्म रहता है तब उच्च गोत्र के कारण नाना प्रकार की गुरुता और नीच गोत्र के कारण नाना प्रकार की लघुता की प्राप्ति होती है, तथा जब गोत्रकर्म ही क्षीण हो गया तब गुरुता—लघुता भी समाप्त हो जाती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सिद्ध भगवान् अगुरुलघुत्व गुण से भी युक्त होते हैं।

(९) सिद्धों के आदिगुण : आदिगुण से अभिप्राय है—मुक्त होने के प्रथम क्षण में होने वाला गुण। इनकी उत्पत्ति में क्रम—भावित्व नहीं होता। वे सभी गुण इन्हें युगपद ही उत्पन्न होते हैं। अतः ये सहभावी गुण भी कहलाते हैं।^१

सिद्धों के ये आदि गुण इकतीस हैं^२—

१—५ सिद्ध भगवान् के पांच प्रकार के अभिनिबोधिक, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान पर आए हुए आवरण का क्षय हो चुका होता है।

६—१४ सिद्ध भगवान् के चार प्रकार के दर्शन सम्बन्धी—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन, तथा पांच प्रकार के निद्रा सम्बन्धी—निद्रा, निद्रा—निद्रा, प्रचला, प्रचला—प्रचला और स्त्यानगृह्य, इस प्रकार नौ प्रकार के दर्शनावरण का भी क्षय हो चुका होता है।

१५—१६ ऐसे सिद्ध भगवान् के वेदनीय कर्म की दोनों प्रकृतियां—सातारूप और असातारूप भी क्षीण हो चुकी होती हैं। अतः वे अक्षय आत्मिक सुख में सदैव मग्न रहते हैं।

१. दे०—समवाओ, टि० ३१.१.

२. एकतीस सिद्धाङ्गुणा पण्णत्ता, तं जहा खीणे अभिणिबोहियणाणावरणे, खीणे सुयणाणावरणे, खीणे ओहिणाणावरणे, खीणे मणपज्जवणाणावरणे, खीणे केवलणाणावरणे, खीणे चक्खुदंसणावरणे, खीणे अधक्खुदंसणावरणे, खीणे ओहिदंसणावरणे, खीणे केवलदंसणावरणे, खीणा निददा, खीणा निददा—निददा, खीणापयला, खीणा पयला—पयला, खीणा धीणागिद्धि, खीणे सायावेयणिज्जे, खीणे असायावेयणिज्जे, खीणे दंसणमोहणिज्जे, खीणे चरित्तमोहणिज्जे, खीणे नेरइयाउए, खीणे तिरियाउए, खीणे मणुस्साउए, खीणे देवाउए, खीणे अच्छागोए, खीणे निच्चागोए, खीणे शुभणामे, खीणे अशुभणामे, खीणे दाणांतराय, खीणे उलाभांतराय, खीणे भोगांतराय, खीणे उवभोगांतराय, खीणे वीरियंतराय। समवाओ, ३१.१

१७-१८ उनके मोहनीय कर्म की दोनों प्रकृतियाँ—दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय, भी समाप्त हो जाती हैं जिससे वे क्षायिक सम्यक्त्व से युक्त हो जाते हैं।

१९-२२ आयुष्यकर्म की चारों प्रकृतियाँ—नरकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु के क्षय हो जाने से वे शाश्वत, नित्य यथास्थिति को प्राप्त हो जाते हैं।

२३-२४ गोत्रकर्म की दोनों प्रकृतियाँ—उच्चगोत्र और नीचगोत्र का भी अभाव हो चुका होता है जिससे वे अगुरुलघुत्व अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं।

२५-२६ इसी प्रकार नामकर्म की दोनों प्रकृतियाँ—शुभनाम और अशुभनाम के भी क्षीण हो जाने से वे सब प्रकार के रूपों से मुक्त होकर अरूपित्व सुक्ष्मत्व को प्राप्त हो जाते हैं।

२७-३१ सिद्ध भगवान् के अन्तराय कर्म की पाँचों प्रकृतियाँ—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने से उक्त पाँचों अनन्त शक्तियाँ भी उनमें प्रादुर्भूत हो जाती हैं जिससे वे अनन्त शक्तिमान् कहे जाते हैं।

उपर्युक्त सिद्धों के ३१ आदिगुणों के विवेचन से यह विदित होता है कि ये गुण पूर्वोक्त उनके आठ मूलगुणों का ही विस्तृत रूप है।

(च) सिद्धों की अवगाहना :

अवगाहना से अभिप्राय है—शरीर का आकार या ऊँचाई।^१ सिद्ध शरीर रहित होते हैं परन्तु उनके भौतिक शरीर एवं रूप आदि के न होने पर सिद्ध जीव का अभाव हो जाता है किन्तु ऐसा नहीं है कारण कि उन्हें घनरूप कहा गया है। मन, वचन, काय योगों का त्याग करते समय अयोगी गुणस्थान में जैसा कि अन्तिम शरीर का आकार रहता है, उस आकाररूप उन जीवों के प्रदेशों का घनरूप सिद्धों का आकार होता है।^२ घनरूप कहने का तात्पर्य यह है कि मोक्ष अभाव रूप नहीं है, अपितु भावात्मक है।

सिद्ध-अवगाहना का आकार :

उत्तराध्ययनसूत्र में बतलाया गया है कि 'मुक्त होने से पूर्व जीव जिस

१. जीवप्रदेशव्यापित्वं तावदवगाहनमुच्यते।

त०वृ०, १०.६, पृ०३२४

२. जं जस्स दु संठाणं चरिमसरिरस्स जोगजहणम्मि

तं संठाणं तस्स दु जीवघणो होइ सिद्धस्स ।। भग० आ० २.२६

शरीर से युक्त होता है, उस शरीर का जितना आकार होता है, उसके तृतीय भाग न्यून (दो तृतीयांश) सिद्धों की अवगाहना होती है^१ क्योंकि शरीर के न होने से सिद्धों में नासिका आदि के छिद्रभाग घनरूप हो जाते हैं।

इस प्रकार सिद्धों की आकृति की कल्पना उनके अन्तिम जन्म के शरीर के आधार पर ही की गई है। यद्यपि वे जीव रूप आदि रहित होते हैं फिर भी जो यह आत्म-प्रदेशों के विस्तार की कल्पना की गई है, वह आकाश प्रदेश में स्थित आत्मा के अदृश्य प्रदेशों की अपेक्षा से है।

यहां पर यह भी ज्ञातव्य है कि अल्पस्थान में अनन्त सिद्ध रहते हैं परन्तु उनमें परस्पर उपरोध नहीं होता क्योंकि उनमें अवगाहन शक्ति विद्यमान है। एक छोटे से स्थान में जब मूर्तिमान नाना दीपकों के प्रकाश में भी परस्पर घात करने वाला विरोध नहीं देखा जाता तब अमूर्तिक सिद्धों में तो उपरोध हो ही कैसे सकता है? ^२ अमूर्त होने से एक आत्मा के प्रदेशों में अन्य आत्मा के प्रदेश भी रह सकते हैं। इस प्रकार एक स्थान पर रहते हुए अनेक सिद्धों में परस्पर किसी भी प्रकार का उपरोध नहीं होता है।

(छ) सिद्धों का अनुपम सुख :

सिद्ध भगवान् मुक्त अवस्था में सुख का अनुभव करते हैं। उनका सुख सांसारिक सुख की तरह नहीं होता। सिद्धों को जो सुख मिलता है, वह तो अनिर्वचनीय है। आचार्य कुन्दकुन्द ने उसे अतिशय, अव्याबाध, अनन्त, अनुपम, इन्द्रियविषयातीत, अप्राप्त और अच्यवन (अचल) कहा है।^३

औपपातिकसूत्र में कहा गया है कि जैसे कोई मलेच्छ नगर की अनेकविध विशेषताओं को देख चुकने पर भी उपमा न मिलने से उनका वर्णन नहीं कर सकता, वैसे ही सिद्धों का सुख अनुपम होता है।^४ वे जन्म, जरा और

१. उस्सेहो जस्स जो होइ भवम्मि चरिमम्मि उ।

तिभागहीणा तत्तो य सिद्धाणोगाहणा भवे ।। उ० ३६.६४

२. अल्पक्षेत्रे तु सिद्धानामनन्तानां प्रसज्यते।

परस्परोपरोधोऽपि नावगाहनशक्तितः ।।

नानादीपप्रकाशेषु मूर्तिमत्स्वपि दृश्यते।

न विरोधः प्रदेशोऽल्पे हन्तामूर्तेषु किं पुनः ।। त०सा० ८.१३-१४

३. अइसयमव्वावाहं सोक्खमणत्तं अणोवमं परमं।

इंदियविसयातीदं अप्पत्तं अच्चवं च ते पत्ता ।। दशभक्ति, पृ० ५६

४. जह णाम कोइ मिच्छो, नगरगुणे बहुविहे वियाणंतो।

न चएइ परिकहेउं, उवमाए तहिं असंतीए ।।

इय सिद्धाणं सोक्खं, अणोवमं णत्थि तस्स ओवम्मं।

किंघि विसेसेणेत्तो, ओवम्ममिणं सुणह वोच्छं ।। ओवाइयं, १६ ५ (१६-१७)

मरण के बन्धन से रहित होते हैं। अतः वे अव्याबाध और शाश्वत सुख का अनुभव करते हैं। वे अतुल सुखसागर और अनुपम अव्याबाध सुख को प्राप्त हुए होते हैं। अनन्तसुख वाले वे अनन्तसुखी, वर्तमान एवं अनागत सभी कालों में पूर्ववत् ही सुखी रहते हैं।^१

आचार्य विमलसूरि भी उक्त मत का समर्थन करते हुए कहते हैं कि 'जो सिद्ध जीव होते हैं उनका सुख अनन्त, अनुपम, अक्षय, अमल एवं किसी भी प्रकार की बाधाओं से सदैव मुक्त होता है'^२

श्री योगीन्दु ने तो उनके सुख को शाश्वत (सुख) बतलाया है।^३ वे कहते हैं कि 'सिद्ध का तो स्वभाव ही परमानन्द स्वरूप है, फिर सुख शाश्वत क्यों नहीं होगा?'

सिद्धों का सुख देवेन्द्र एवं चक्रवर्तियों के सुख से बढकर :

आचार्य शिवार्य कहते हैं कि जो बाधारहित, अनुपम एवं परम सुख सिद्धों का प्राप्त है, वह परम ऋद्धि चक्रवर्तित्व आदि के धारक परमपुरुषों को भी प्राप्त नहीं होता।^४ इस लोक में देवेन्द्र और चक्रवर्ती शब्द, रस, रूप, गन्ध और स्पर्शजन्य जिस उत्तम इन्द्रिय सुख को भोगते हैं, वह सुख सिद्धों के सुख का अनन्तवां भाग भी नहीं है।^५ सब मनुष्यों, तिर्यञ्चों और देवों को तीनों कालों में जितना सुख होता है वह समस्त सुख सिद्धों के एक क्षणमात्र में होने

१. णिच्छिन्न सब्बदुक्खा, जाइजरामरणबधणविमुक्का।

अव्वावाहं सुखं, अणुहोति सासयं सिद्धा ।।

अतुल सुहसागरगया अव्वावाहं अणोवमं पत्ता ।

सब्बमणागयमद्धं चिट्ठति सुही सुहं पत्ता ।। ओवाइयं, १६ ५(२१-२२)

२. जो होन्ति सिद्धजीवा, ताण अणन्तं सुहं अणोवमियं ।

अक्खयमयलमणन्तं, हवह सयाबाहपरिमुक्कं ।। पउम० २.६३

३. अण्णु वि बन्धु वि तिहुयणहं सासय-सुक्ख-सहाउ ।

तित्थु जि सयलु विकालु जिय णिवसइ लद्ध-सहाउ ।। परमात्म० २.२०२

४. णिच्चु णिरंजणु णाणमउ परमाणंद-सहाउ ।

जो एहउ सो संतु सिउ तासु मुणिज्जहि भाउ ।। वही, १.१७

५. परिमिडिदपत्ताणं मणुसाणं णत्थि तं सुहं लोए ।

अव्वाबाधमणोवमं परमसुहं तस्स सिद्धस्स ।। भग० आ०, गा० २१४१

६. देविंदचक्कवट्ठी इंदियसोक्खं च तं अणुहंवति ।,

सहरसरुवगंधप्परिसप्पयमुत्तमं लोए ।।

अव्वाबाधं च सुहं सिद्धा जं अणुहंवति लोगगे ।

तस्स हुं अणंतभागो इंदियसोक्खं तयं होज्ज ।। वही, गा० २१४२-४३

वाले सुख के भी बराबर नहीं हैं ।^१

उपर्युक्त वर्णन से यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि सिद्ध जीव शाश्वत अनन्त, सभी प्रकार की बाधाओं से रहित एवं अनुपम अलौकिक सुख का आनन्द लेते हैं । उनका सुख देवों एवं चक्रवर्तियों आदि के सुख से भी बढ़कर होता है ।

यहां पर आशंका हो सकती है कि जो सिद्ध आठों कर्मों से रहित हैं, सुख की साधनभूत सामग्री जिनके पास है ही नहीं, फिर वे सुखी कैसे हो सकते हैं? इसके समाधान में आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि तपस्वी जो स्वाधीनतापूर्वक कायक्लेश आदि के कष्ट को सहते हैं, वह भी जब उनको सुखकर प्रतीत होता है तब फिर जो सिद्ध स्वाधीन सुख से सम्पन्न हैं वे सुखी क्योंकर न होंगे अर्थात् अवश्य ही होंगे ।^२

पराधीनता का अभाव ही सुख :

पराधीनता का जो अभाव है वही वास्तव में सुख है, और वह सिद्धों में पूर्णतया विद्यमान है । सम्पत्ति आदि के संयोग से जो सुख होता है वह पराधीन (सुख) है क्योंकि तदनु रूप पुण्य के उदय से जब तक उन परपदार्थों की अनुकूलता है तभी तक वह सुख रहता है । इसके पश्चात् वह सुख नष्ट हो जाता है परन्तु जो सिद्धों का स्वाधीन सुख है वह शाश्वत है, सदैव उसी प्रकार बना रहता है ।

आचार्य अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं कि 'इस लोक में विषय, वेदना का अभाव, विपाक और मोक्ष—इन चार अर्थों में सुख शब्द का प्रयोग होता है । जैसे अग्नि सुख रूप है, यहां विषय अर्थ में सुख शब्द प्रयुक्त हुआ है । दुःख का अभाव होने पर व्यक्ति कहता है कि 'मैं सुखी हूं', यहां वेदना के अभाव में सुख शब्द आया है । पुण्यकर्म के उदय से इन्द्रियों के इष्ट पदार्थों से उत्पन्न हुआ सुख होता है, यहां विपाक अर्थ में सुख शब्द का प्रयोग है और कर्मजन्य क्लेशों से छुटकारा मिलने से मोक्ष में उत्कृष्ट सुख होता है, यहां मोक्ष अर्थ में सुख शब्द का प्रयोग है । इस प्रकार मोक्ष को प्राप्त हुए सिद्ध भी सुख का अनुभव करते हैं ।^३

मोक्ष में सिद्धों के यद्यपि शरीर नहीं है और न ही किसी कर्म का उदय है, फिर भी कर्मजन्य क्लेशों से छुटकारा मिल जाने के कारण उन्हें सर्वश्रेष्ठ सुख प्राप्त होता है । सुख आत्मा का स्वाभाविक गुण है परन्तु मोह आदि कर्मों

१. तीसु वि कालेसु सुहाणि जाणि माणुसतिरक्खदेवाणं ।

सव्वाणि ताणि ण समाणि तस्स खणमित्तसोक्खेण ।। वही, गा० २१४५

२. स्वाधीन्याददुःखमप्यासीत्सुखं यदि तपस्विनाम् ।

स्वाधीनसुखसंपन्ना न सिद्धाः सुखिनः कथम् ।। आत्मानुशासनम्, श्लोक २६७

३. दे०—त०सा० ८.४६. ४६

के उदयकाल में उसका स्वाभाविक परिणमन न होकर दुःखरूप अस्वाभाविक परिणमन होता है। सिद्ध जीव के इन मोह आदि कर्मों का सर्वथा अभाव हो जाता है, इसलिए उनके गुणों का स्वाभाविक परिणमन होता है। यही कारण है कि उनके समान सुख संसार में किसी अन्य प्राणी के नहीं होता है।

(ज) सिद्धों की सादिमुक्ताता :

ऐसा कोई भी काल न था, न है और न होगा जब जीव मोक्ष प्राप्त न करते हों। इसके साथ-साथ यह भी निश्चित ही है कि कोई भी जीव अनादिमुक्त नहीं है कारण कि मुक्तावस्था (मोक्ष) से पूर्व संसारावस्था अवश्य स्वीकार की जाती है।

मोक्ष पद व्याकरण में 'मुच्' धातु से कृदन्त में यञ प्रत्यय लगाने पर बनता है जिसका अर्थ है--छुटकारा प्राप्त करना। आध्यात्मिक विषय होने से यहां संसार के बन्धनभूत कर्मों से छुटकारा होना अथवा उनसे पूर्णतः मुक्ति प्राप्त करना ही अभिप्रेत अर्थ है। आचार्य उमास्वाति कहते हैं कि बन्ध के हेतुओं^१ के अभाव और निर्जरा से कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होता है^२ तथा सम्पूर्ण कर्मों का क्षय ही मोक्ष है—कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः।^३

इस प्रकार बन्धन के पश्चात् ही मोक्ष होता है।

(अ) एक जीव की अपेक्षा सिद्ध-सादि अनन्तः

किसी एक मोक्षगत जीव की अपेक्षा से सिद्ध भगवान् को सादि-अनन्त कहा जाता है क्योंकि जिस काल में अमुक जीव मोक्ष में है, उस काल की अपेक्षा से उस जीव की आदि तो है परन्तु अपुनरावृत्ति होने से वह अनन्त है। अत एव सिद्ध भगवान् सादि अनन्त है।

(आ) समुदाय की अपेक्षा सिद्ध अनादि-अनन्त :

समुदाय की अपेक्षा से सिद्ध अनादि तथा अनन्त भी है।^४ यहां पर समुदाय की अपेक्षा से मुक्त जीवों की उत्पत्ति को जो अनादि कहा गया है उसका अभिप्राय यह नहीं है कि कुछ ऐसे भी मुक्त जीव हैं जो कभी बन्धनयुक्त अर्थात् संसारावस्था में नहीं रहे हैं। इसका मात्र यही भाव है कि बहुत से मुक्त जीव ऐसे भी हैं जिनकी उत्पत्ति का आदिकाल नहीं बतलाया जा सकता कारण है कि यह बतलाना मानव की कल्पना-शक्ति से परे है। इसी से उन्हें अनादि कहा गया है।

१. मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ।। त०सू० ८.१

२. बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम् । वही, १०.२

३. त०सू०, १०.३

४. एगत्तेण साईया अपज्जवसिया वि य ।

पुहुत्तेण अणाईया अपज्जवसिया वि य ।। उ० ३६.६५

(झ) सिद्धों का निवास स्थान :

सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होते ही मुक्त जीव तुरन्त लोक के अन्त तक ऊपर जाता है ।^१ कर्मक्षय और ऊर्ध्वगमन में योगपद्य सम्बन्ध बतलाया गया है । जिस प्रकार द्रव्यकर्म की उत्पत्ति का प्रारम्भ और विनाश साथ ही साथ होते हैं, उसी प्रकार सिद्ध भगवान् की मोक्ष विषयक गति संसार के क्षय होते ही साथ ही साथ होती है । जिस प्रकार प्रकाश की उत्पत्ति और अन्धकार का विनाश एक साथ होता है उसी प्रकार निर्वाण की उत्पत्ति और कर्मों का विनाश भी एक साथ होता है ।^२ इस प्रकार कर्मक्षय होते ही मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है ।

ऐसा मान लेने पर यहां यह प्रश्न उठता है कि कर्म या शरीर आदि पौद्गलिक पदार्थों की सहायता के बिना अमूर्त्त जीव गति कैसे करता है? ऊर्ध्वगति ही क्यों करता है? अधोगति अथवा तिर्यक् (तिरछी) गति क्यों नहीं करता?

ऊर्ध्वगति के कारण :

उपर्युक्त प्रश्नों के समाधान में वाचक उमास्वाति ने मूलतः चार बातें बतलायीं हैं वे हैं (१) पूर्व के संस्कार से, (२) कर्म के संग्रहित हो जाने से, (३) बन्ध का नाश हो जाने से और (४) ऊर्ध्वगमन का स्वभाव होने से, मुक्तजीव ऊर्ध्वगमन करता है ।^३

संसारी जीव ने मुक्त होने से पहले कई बार मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया है । इसी से पूर्व का संस्कार रहने से जीव ऊर्ध्वगमन करता है । जीव जब तक कर्मभारसहित रहता है तब तक संसार में बिना किसी नियम के गमन करता है और कर्मभार से रहित हो जाने पर ऊपर की ओर गमन करता है । अन्य जन्म के कारण गति, जाति आदि समस्त कर्मबन्ध के नाश हो जाने से जीव ऊर्ध्वगमन करता है और आगम में जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करने का बतलाया गया है । अतः कर्मों के नष्ट हो जाने पर अपने स्वभाव के अनुसार जीव का ऊर्ध्वगमन ही होता है ।^४

तत्त्वार्थवृत्तिकार ने उपर्युक्त मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन के चार कारणों को चार दृष्टान्तों द्वारा निम्न प्रकार से स्पष्ट किया है—

१. तदन्तरमूर्ध्व गच्छत्यालोकान्तात् ।। त०सू० १०.५
२. द्रव्यस्य कर्मणो यद्वदुत्पत्त्यारम्भवीतयः ।
समं तथैव सिद्धस्य गतिर्मोक्षे भवक्षयात् ।।
उत्पत्तिश्च विनाशश्च प्रकाशतमसोरिह ।
युगपदभवतो यदवतद्वन्निर्वाणकर्मणोः ।। त०सा० ८.३५-३६
३. पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वादबन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च तदगतिः । त०सू०, १०.६
४. दे०—त०वृ०, १०.६, पृ० ३२१.२२
५. दे०—वही, १०.७, पृ० ३२२.२३

(१) पूर्व संस्कार :

जिस प्रकार कुम्हार के हाथ और दण्डे से चाक को एक बार घुमा देने पर वह चाक पूर्व-संस्कार से बराबर घूमता रहता है उसी प्रकार मुक्त जीव पूर्व संस्कार से ऊर्ध्वगमन करता है ।

(२) कर्मसंगरहित हो जाना :

जिस प्रकार मिट्टी के लेप से युक्त तूँबी जल में डूब जाती है और लेप के दूर (नष्ट) होने पर वही ऊपर आ जाती है उसी प्रकार कर्मलेप से रहित जीव स्वभावतः ऊर्ध्वगमन करता है

(३) बन्ध का नाश हो जाना :

जिस प्रकार सरण्ड वृक्ष का सूखा बीज फली के फटने पर ऊपर को जाता है उसी प्रकार मुक्त जीव कर्मबन्ध से मुक्त होते ही ऊर्ध्वगमन करता है ।

(४) ऊर्ध्वगमन का स्वभाव :

जिस प्रकार वायुरहित स्थान में अग्नि की शिखा स्वभाव से ऊपर की ओर जाती है उसी प्रकार मुक्त जीव भी स्वभाव से ही ऊर्ध्वगमन करता है ।

भगवती आराधना में बतलाया गया है कि 'जैसे वेग से पूर्ण व्यक्ति ठहरना चाहते हुए भी नहीं ठहर पाता उसी प्रकार ध्यान के प्रयोग से आत्मा ऊपर की ओर ही जाता है' ।^१

इस प्रकार ऊर्ध्वगमन करता हुआ आत्मा एक समय वाली विग्रहरहित गति से आकाश के प्रदेशों का स्पर्श न करते हुए तीव्रवेग से लोक के शिखर पर विराजमान हो जाता है^२ और वह सदैव के लिए वहीं ठहर जाता है । आगे अलोक में नहीं जाता ।

पुनः यहां प्रश्न उठता है कि मुक्त आत्मा लोक के अग्रभाव से आगे गति क्यों नहीं करता? इस प्रश्न के समाधान स्वरूप कहा गया है कि 'धर्मद्रव्य लोक के अग्रभाग तक ही है' उसके आगे नहीं । अतः मुक्तजीव लोकाग्र से आगे

१. झाणेण य तह अप्पा पओगदो जेण जादि सो उड्ढं ।

वेगेण पूरिदो जह ठाइदुकामो वि य ण ठादि ।।

भग०आ०, गा० २२२३

२. तो सो अविग्गहाए गदीए समए अणंतरे चेव ।

पावदि जयस्स सिहरं खित्तं कालेण य फुसंतो ।। वही, २२.२५

अलोक में गमन नहीं करता क्योंकि धर्मद्रव्य गति करते हुए जीवों और पुद्गलों की गति में उपकार करता है ।^१

(ज) सिद्धशिला :

ऊर्ध्वगमन के पश्चात् सिद्ध भगवान् लोक के उपरितम भाग में निवास करते हैं । यह स्थान लोकाग्रवर्ती सिद्धशिला के नाम से प्रसिद्ध है^२ इसे निर्वाण अव्याबाध, सिद्धि, लोकाग्र, क्षेम, शिव और अनाबाध नाम से भी जाना जाता है । इसे ही महर्षिगण प्राप्त करते हैं ।^३

(अ) सिद्धशिला बैकुण्ठ परमधाम :

जैनेतर जगत् में इसे ही बैकुण्ठ या परमधाम के नाम से पुकारा जाता है । स्वयं प्रकाशमान जिस परम पद को न तो सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा एवं न अग्नि ही प्रकाशित कर सकती है, तथा जिस परम पद को प्राप्त होकर मनुष्य पुनः संसार में नहीं आते वह परमधाम कहा गया है ।^४ उसे ही अव्यक्त, अक्षर एवं परमगति इत्यादि नामों से भी पुकारा गया है ।^५

(आ) सिद्धक्षेत्र की स्थिति :

यहां सहज ही जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि यह सिद्धक्षेत्र अथवा परमधाम विश्व के कौनसे भाग में अवस्थित है ? उसकी क्षेत्र-परिधि क्या है ? इस सम्बन्ध में जैनेतर दर्शन तो प्रायः मौन ही हैं । वहां आत्मा को सर्वव्यापक माना गया है । अतः उनके मत में तो सम्पूर्ण जगत् ही सिद्धों का क्षेत्र कहा जा सकता है परन्तु जैनदर्शन इस विषय में अपना विशिष्ट मन्तव्य प्रस्तुत करता है ।

क्षेत्र की दृष्टि से विश्व को दो भागों में बांटा गया है । इसका वह भाग जहां पर जीव तथा अजीव दोनों ही पदार्थों की सत्ता है वह लोक है तथा दूसरा भाग जहां अजीव का एक देश (भाग) केवल आकाश है, वह अलोक कहा जाता है ।^६ फिर लोक को भी तीन भागों में बांटा गया है—ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक तथा अधोलोक ।^७

१. धम्माभावेण दु लोगगगे पडिहम्मदे अलोगेण ।
गदिमुवकुण्दि हु धम्मो जीवाणं पोग्गलाणं च ।। वही, २२२८
२. सीयाए जोयणे तत्तो लोयन्तो उ वियाहिओ । उ० ३६.६१
३. निव्वाणं ति अबाहं ति सिद्धी लोगगमेव य ।
खेमं सिवं अणाबाहं जं चरन्ति महेसिणो ।। वही, २३.८४
४. न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्दधाम परमं मम ।। गीता, १५.६
५. अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्दधाम परमं मम ।। वही, ८.२१
६. जीवा चैव अजीवा य एस लोए वियाहिए ।
अजौवदेसमागासे अलोए से वियाहिए ।। उ० ३६.२
७. उड्ढं अहे य तिरियं च । वही, ३६.५०

जननिवास के ऊपरी भाग को ऊर्ध्वलोक बतलाया गया है। जहां मुख्य रूप से देव निवास करते हैं उसे देवलोक से जाना जाता है।^१ उसे ही यक्षलोक^२ तथा ब्रह्मलोक^३ भी बतलाया गया है।

ऊर्ध्वलोक में ऊपर-ऊपर देवों के कई विमान हैं। सब प्रकार की अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाले 'सर्वार्थ सिद्ध' नामक अन्तिम विमान से १२ योजन (लगभग ४८००० क्रोश क्षेत्र-प्रमाण) ऊपर ईषत्प्राग्भारा नामक पृथ्वी है जो पैतालीस लाख योजन लम्बी तथा उतनी ही चौड़ी है। इसकी परिधि उससे तिगुनी है।

मध्यभाग में इसकी मोटाई आठ योजन है, जो क्रमशः चारों ओर से पतली होती हुई अन्तिम भाग में मक्खी के पंख से भी पतली रह गई है। इसका आकार खोले हुए छत्र के समान है। शंख, अंक-रत्न (रत्न-विशेष) और कुन्द के पुष्प के समान स्वभावतः सफेद, निर्मल, शुभ एवं सुवर्णमयी होने से इसे 'सीता' नाम से भी कहा गया है।

इस सीता नामक ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी से एक योजन-प्रमाण ऊपर वाले क्षेत्र को लोकान्तभाग कहा गया है क्योंकि इसके बाद लोक की सीमा समाप्त हो जाती है। इसी एक योजन-प्रमाण लोकान्तभाग के ऊपरी क्रोश के छठे भाग में सिद्धों का निवास माना गया है।^४

(ट) विभिन्न अपेक्षाओं से सिद्धों की गणना :

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार मुक्ति का द्वार सभी जीवों के लिए सभी क्षेत्रों में तथा सभी कालों में खुला रहता है। यहां एक समय में एक साथ सिद्ध होने वाले जीवों की जो संख्या बतलाई गई है वह इस प्रकार है^५—

१. देवलोक-द्युओ संतो । वही, १६.८
२. गच्छे जक्खसलोगयं । उ० ५.२४
३. से द्युए बम्भलोगाओ ।। वही, १८.२६
४. विस्तार के लिए दे०—वही, ३६.५७-६२
५. दस घेव नपुंसेसु वीसं इत्थियासु य ।
 पुरिसेसु य अट्ठसयं समएणेगेण सिज्झई ।।
 घत्तारि य गिहिलिंगे अन्नलिंगे दसेव य ।
 सलिंगेण य अट्ठसयं समएणेगेण सिज्झई ।।
 उक्को सोगाहणाए य सिज्झन्ते जुगवं दुवे ।
 घत्तारि जहन्नाए जवमज्झट्ठुत्तरं सयं ।।
 घउरुड्ढलोए य दुवे समुदहे तओ जले वीसमहे तहेव ।
 सयं च अट्ठुत्तर तिरियलोए समएणेगेण उ सिज्झई उ ।।
 उ० ३६.५१-५४

सिद्ध होने वाले जीव	अधिकतम संख्या
पुरुष	१०८
स्त्री	२०
नपुंसक	१०
जैन साधु (स्वलिंगी)	१०८
जैनेतर साधु (अन्य लिंगी)	१०
गृहस्थ	४
शरीर की सर्वाधिक अवगाहना वाले	२
शरीर की सबसे कम अवगाहना वाले	४
शरीर की मध्यम अवगाहना वाले	१०८
ऊर्ध्वलोक से	४
अधोलोक से	२०
मध्यलोक (तिर्यक् लोक) से	१०८
जलाशयों से	३
समुद्र से	२

पुरुषलिंगी जैन साधु में सिद्ध होने की सर्वाधिक योग्यता :

उपर्युक्त आंकड़ों को देखने से यह ज्ञात होता है कि सिद्ध होने की सर्वाधिक योग्यता मध्यलोकवर्ती मध्यम शरीर की अवगाहना वाले पुरुषलिंगी जैन साधुओं में हैं। यहां यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जिस जीव को जिस स्थान में जिस प्रकार के छोटे-बड़े शरीर के वर्तमान रहने पर सिद्ध होने की योग्यता की पूर्णता प्राप्त हो जाए वह उसी स्थान से और उसी शरीर से सिद्ध हो जाता है।

मनुष्य गति में ही मुक्ति-लाभ :

यहां यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि देव, नरक एवं तिर्यञ्च गति से सिद्ध होने वाले जीवों की संख्या का विशेष रूप से उल्लेख न करके सामान्यतः पुरुष, स्त्री व नपुंसकलिंगी जीवों के विषय में ही बतलाया गया है। इससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि मनुष्य गति वाला जीव ही सीधा मुक्ति को प्राप्त कर सकता है, अन्य देव आदि गति वाले जीव मनुष्य-पर्याय में आकर ही मुक्त हो सकते हैं।

ऊर्ध्वलोक एवं अधोलोक से सिद्ध होने वाले जीवों की संख्या का जो उल्लेख किया गया है वह भी वहां पर विद्यमान मनुष्यगति के जीवों की अपेक्षा से ही है जो किसी विशेष कारण से वहां चले गए हैं। अतः यह स्पष्ट ही है कि मात्र मनुष्य ही मोक्ष का अधिकारी है। दिगम्बर परम्परा में तो मनुष्य गति में भी केवल पुरुष को ही मुक्ति का अधिकारी बतलाया गया है, स्त्री एवं नपुंसक को नहीं।^१

यहां पर गृहस्थ एवं जैनतर साधु को जो मुक्ति का अधिकारी बतलाया गया है वह बाह्य उपाधि की अपेक्षा से है क्योंकि भाव की दृष्टि से तो पूर्ण-वीतरागत्व को प्राप्त करना सभी के लिए नितान्त आवश्यक है। गृहस्थ एवं जैनतर साधुओं में बिरले ही जीव इस पद को प्राप्त करते हैं। अतः एक समय में अधिक से अधिक सिद्ध होने वाले ऐसे जीवों की संख्या जैन साधुओं की अपेक्षा कम बतलाई गई है।

एक समय में सिद्ध होने वाले जीवों की संख्या :

यहां पर एक समय में अधिक से अधिक सिद्ध होने वाले जीवों की जो संख्या बतलाई गई है उसका तात्पर्य यही है कि यदि एक ही समय में जीव अधिक से अधिक संख्या में सिद्ध हों तो १०८ ही सिद्ध हो सकते हैं, इससे अधिक नहीं परन्तु एक समय में कम से कम कितने सिद्ध हो सकते हैं इस विषय में यहां कोई संकेत उपलब्ध नहीं होता है। अतः ऐसा भी हो सकता है कि किसी समय में एक भी जीव सिद्ध न हो।

इस विषय में तत्त्वार्थवृत्तिकार का अभिमत है कि संख्या की अपेक्षा जघन्य से एक समय में एक जीव सिद्ध होता है और उत्कृष्ट से एक समय में एक सौ आठ जीव सिद्ध होते हैं।^२

यदि जीव लगातार सिद्ध होते रहें तो जघन्य दो समय और उत्कृष्ट आठ समय का अन्तर होगा अर्थात् इतने समय तक सिद्ध होते रहेंगे^३ और यदि सिद्ध होने में व्यवधान पड़ेगा तो जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह मास का अन्तर होगा।^४ इससे स्पष्ट हो जाता है कि हो सकता है किसी एक समय में सिद्ध होने में व्यवधान आ जाए और एक भी जीव सिद्ध न हो सके।

१. न स्त्रीमोक्षमेति दिगम्बरः।

जिनदत्त सूरि, उद्धत (बलदेव), भारतीय दर्शन, पृ० ६३

२. जघन्येन एकसमये एकः सिद्धयति।

उत्कर्षेण अष्टोत्तरशतसंख्या एकसमये सिद्धयन्ति।

त०वृ० १०.६, पृ० ३२५

३. सिध्यतां पुरुषाणां किमन्तरं भवतीति प्रश्ने निकृष्टत्वेन द्वौ समयौ भवतः उत्कर्षेण अष्टसमया अन्तरं भवति। वही, पृ० ३२५

४. द्वावपि भेदौ जघन्यस्य। जघन्येन एकः समयः।

उत्कर्षेण षणमासा अन्तरं भवति। वही, पृ० ३२५

(व) सिद्धों के प्रकार :

स्थानाङ्गसूत्र में सिद्ध की एकता का प्रतिपादन किया गया है ।^१ आगे चलकर उनके पन्द्रह प्रकार बतलाए गए हैं^२ परन्तु सिद्धों में आत्मा का पूर्ण विकास हो चुका होता है वे सभी सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सकल कर्मों के बन्धन से रहित तथा अनुपम सुख आदि से सम्पन्न होते हैं । अतः आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से उनमें कोई भी भेद नहीं होता । इसी अभेद की दृष्टि से कहा गया है कि सिद्ध एक है ।

सिद्धों में जो भेद का प्रतिपादन किया गया है वह अन्तिम जन्म की उपाधि की अपेक्षा से है । तत्त्वार्थसूत्र^३ में बतलाया गया है कि भूतकाल की अपेक्षा से सिद्ध जीवों में क्षेत्र, काल गति, लिंग इत्यादि की दृष्टि से किञ्चित् भेद सम्भव है । वस्तुतः सिद्ध जीवों के अशरीरी होने से उनमें गति, लिंग इत्यादि सांसारिक भाव नहीं रहते । अतः उनमें किसी भी प्रकार का भेद नहीं पाया जाता है ।

पूर्वजन्म के विविध सम्बन्ध सूत्रों के आधार पर निम्नलिखित पन्द्रह प्रकार के सिद्ध माने गए हैं—^४

(१) तीर्थसिद्ध : तीर्थ की विद्यमानता में जो सिद्ध हुए हैं वे तीर्थसिद्ध हैं ।

(२) अतीर्थसिद्ध : जो तीर्थ की स्थापना से पहले या तीर्थ के विच्छेद के पश्चात् जाति स्मरण आदि के बौध को प्रात कर सिद्ध हुए, वे अतीर्थसिद्ध हैं ।

(३) तीर्थकर सिद्ध : जो तीर्थकर के रूप में सिद्ध होते हैं, वे तीर्थकर सिद्ध हैं ।

(४) अतीर्थकर सिद्ध : जो सामान्य केवली के रूप में सिद्ध होते हैं, वे अतीर्थकर सिद्ध हैं

(५) स्वयंबुद्धसिद्ध : जो गुरु—उपदेश और बाह्य निमित्त के बिना स्वयं

१. 'एगे सिद्धे' । ठाण, १.५२

२. दे० वही, १.२१४—२२८

३. क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधित—

ज्ञानावगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः । त० सू० १०.७

४. अणंतरसिद्धकेवलनाणं पन्नरसविहं पण्णत्तं, तं जहा—(१) तित्थसिद्धा,

(२) अतित्थसिद्धा, (३) तित्थयरसिद्धा, (४) अतित्थयरसिद्धा, (५) सयंबुद्धसिद्धा,

(६) पत्तेयबुद्धसिद्धा, (७) बुद्धबोहियसिद्धा, (८) इत्थिलिङ्गसिद्धा, (९) पुरिसलिंगसिद्धा,

(१०) नपुंसलिंगसिद्धा, (११) सलिंगसिद्धा, (१२) अणलिंगसिद्धा, (१३) गिहीलिंगसिद्धा,

(१४) एगसिद्धा, (१५) अणेगसिद्धा । नन्दीसूत्र, केवलज्ञान प्रकरण ।

बोधि प्राप्त कर सिद्ध बनते हैं, वे स्वयं बुद्ध सिद्ध होते हैं ।

(६) **प्रत्येकबुद्धसिद्ध** : जो गुरु उपदेश के बिना किसी बाह्य निमित्त अनित्य आदि भावना से प्रबुद्ध होकर सिद्ध होते हैं, वे प्रत्येक बुद्ध सिद्ध हैं ।

(७) **बुद्धबोधितसिद्ध** : जो आचार्य आदि के द्वारा बोधि प्राप्त कर सिद्ध होते हैं, वे बुद्ध बोधित सिद्ध हैं ।

(८) **स्त्रीलिंग सिद्ध** : जो स्त्री शरीर में सिद्ध होते हैं वे स्त्रीलिंग सिद्ध हैं ।

(९) **पुरुषलिंग सिद्ध** : जो पुरुष शरीर में सिद्ध होते हैं वे पुरुषलिंग सिद्ध हैं ।

(१०) **नपुंसकलिंग सिद्ध** : जो नपुंसक शरीर से सिद्ध होते हैं वे नपुंसकलिंग सिद्ध हैं ।

(११) **स्वलिंग सिद्ध** : जो जैन सम्प्रदाय का साधुवेश रजोहरण एवं मुखवस्त्रिका आदि धारण करके सिद्ध होते हैं, वे स्वलिंग सिद्ध हैं ।

(१२) **अन्यलिङ्ग सिद्ध** : किसी जैनेतर सम्प्रदाय के वेश में जो सिद्ध होत हैं वे अन्यलिंग सिद्ध हैं ।

(१३) **गृहिलिङ्ग सिद्ध** : गृहस्थ के वेश में ही परिणाम विशुद्धि प्राप्त कर जो सिद्ध होते हैं, वे गृहिलिङ्ग सिद्ध हैं ।

(१४) **एक सिद्ध** : जो अपने सिद्ध होने के समय में अकेले सिद्ध हुए हों वे एक सिद्ध कहलाते हैं ।

(१५) **अनेक सिद्ध** : जो अपने सिद्ध होने के समय में एक साथ दो से लेकर उत्कृष्टतः १०८ तक सिद्ध हैं वे अनेक सिद्ध कहलाते हैं ।

इस प्रकार जैनधर्म की यह स्पष्ट धोषणा है कि संसार का कोई भी मनुष्य भले ही वह किसी भी जाति, धर्म—सम्प्रदाय, देश और रूप का हो, वीतरागता आदि आध्यात्मिक गुणों का विकास करके सिद्ध पद को प्राप्त कर सकता है ।

(६) **सिद्ध-भक्ति** :

आचार्य कुन्दकुन्द सिद्धों के परम भक्त थे । उनका दृढ़ विश्वास है कि सिद्धों की भक्ति से परमशुद्ध सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है ।^१ उनकी भक्ति करने

१. जरमरणजम्मरहिया ते सिद्धा मम सुभत्तिजुत्तस्स ।

दंतु वरणाणलाहं बुहयणपरिपत्थणं परमसुद्धं ।। दशभक्ति, पृ० ५८

वाले को वह सुख मिलता है, जो सिद्धों के अतिरिक्त और किसी को उपलब्ध नहीं है ।^१

(अ) परम ऐश्वर्य-प्राप्ति एवं पाप-मुक्ति :

यहां आचार्य समन्तभद्र का अभिमत है कि मानों भवसागर में डूबे हुए भव्य प्राणियों का उद्धार करने के लिए ही सिद्ध लोकाग्र शिखर पर विराजमान हैं^२ अर्थात् वे संसार रूपी समुद्र में डूबे हुए प्राणियों को पार लगाते हैं तथा बड़े से बड़ा पापी स्वकृत पापों से छूट जाता है ।^३

(आ) रत्नत्रय की प्राप्ति

आचार्य शान्तिसूरि की दृष्टि में सिद्धों को सिर झुकाना सर्वोत्तम भावनमस्कार है ।^४ आचार्य सोमदेव भी कहते हैं कि सिद्धों की भक्ति से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य रूप रत्नत्रय की उपलब्धि होती है ।^५

(इ) अरहन्त और सिद्ध में भेद-अभेद :

(अ) अभिन्नत्व :

१. इन दोनों परमात्माओं के स्वरूप का विवेचन करने पर हम पाते हैं कि अरहन्त एवं सिद्धों में कोई विशेष भिन्नता नहीं है कारण कि दोनों ही देवपद पर अवस्थित हैं । जैनदर्शन में 'देव' शब्द स्वर्ग में रहने वाले देव, देवी, ब्राह्मण या राजा आदि का वाचक नहीं है, अपितु उस परम तत्त्व की ओर संकेत करता है जिसकी उपासना करने से मनुष्य में धर्म का दिव्य तेज प्रकट होता है । इसी आध्यात्मिक दिव्यता से युक्त व्यक्ति को ही यहां देव कहा गया है । परमात्मा इसी का पर्यायवाची है ।

१. अइभत्तिसंपउत्तो जो वंदइ लहुलहइ परमसुहं ।

वही, पृ० ५८

२. सिद्धस्त्वमिह संस्थानं लोकाग्रमगमः सताम् ।

प्रोद्धर्तुमिव सन्तानं शोकाब्धौ मग्नमक्षयताम् ।। स्तुतिविद्या, श्लो० ८०

३. यद्भक्त्या शमिताकृशाघमरुजं तिष्ठेज्जलः स्वालये ।

ये सद्भोगकदायतीव यजते ते मे जिनाः सुश्रिये ।। वही, श्लो० ११६

४. ननु सिद्धमेव भगवओ, एसो सब्बोत्तमो नमोक्कारो ।

आणाणुपालणत्थं, भावनमोक्काररुव ति ।।

चेइयवंदणमहाभासं, श्लोक ७५१

५. कालेषु त्रिषु मुक्तिसंगमनुषस्तुत्यास्त्रिभिर्विष्टपैस्ते रत्नत्रयमंगलानि दधतां भव्येषु रत्नाकराः ।। यशस्तिलक, ८.५४

२. दूसरे, अनन्त ज्ञान—दर्शन—सुख और बल रूप अनन्त—चतुष्टय की अपेक्षा भी अरहन्त और सिद्ध में किञ्चित् भी भेद नहीं है क्योंकि ये सभी दोनों में समानरूप से ही पाए जाते हैं। यह बात भी यहां निर्विवाद सिद्ध है कि 'जो धर्मोपदेश अरहन्त देव ने दिया है, वही धर्मोपदेश सिद्ध भगवान् का भी है,' कारण कि केवलज्ञान की अपेक्षा से अरहन्त एवं सिद्ध परमात्मा में कोई भिन्नता नहीं है।

३. तीसरे, यद्यपि अरहन्त देव को अभी मोक्ष—गमन करना अपेक्षित है फिर भी जब वे मोक्ष—गमन करते हैं तब उनकी 'अरहंत' संज्ञा समाप्त होकर सिद्ध संज्ञा हो जाती है। अतः यह पूर्वोक्त सन्देश एक प्रकार से सिद्ध परमात्मा का ही है। आगम में भी ऐसा बतलाया गया है कि यह कथन सिद्धों का है अर्थात् सिद्ध ऐसा बोलते हैं।^१

इस प्रकार के शास्त्रोक्त वचनों से यह निश्चय हो जाता है कि अरहन्त देवों को ही समान गुण होने से (अपेक्षा दृष्टि से) सिद्ध माना गया है।

(आ) भिन्नत्व :

गुणों आदि के समान होने पर भी इन दोनों में मौलिक भेद यही है कि—

(१) अरहन्त देव शरीरधारी होते हैं जबकि सिद्ध भगवान् अशरीरी। 'केवलज्ञान के द्वारा सब पदार्थों को जान लेने वाले, सशरीरी अरहन्त व सर्वोत्तम सुख को प्राप्त कर लेने वाले तथा ज्ञानमय शरीर वाले सिद्ध परमात्मा हैं।'^२

(२) अरहन्त के चार घातिया कर्म ही नष्ट हुए होते हैं जबकि सिद्ध भगवान् के आठों कर्म क्षीण हो चुके होते हैं। अरहन्तों को अवशिष्ट चार अघातिया कर्मों के नाश होने तक संसार में रुकना होता है और वे विश्व को अपना दिव्य उपदेश देते हैं जबकि सिद्ध भगवान् सदैव निजानन्द में ही लीन रहते हैं।

(३) सिद्ध पूर्णत्व को प्राप्त हुए होते हैं, इसलिए वे वृद्धि और ह्रास दोनों से ऊपर उठ चुके हैं जबकि अरहन्त को अभी मोक्ष में प्रविष्ट

१. सत्थेण सुतिक्खेण वि, छेतुं भेतुं व जं किर न सक्का।
तं परमाणुं सिद्धा, वदन्ति आदि पमाणणं ।। भग० ६.१३४
२. सरीरा अरहन्ता केवल—णाणेणमुणिय—सवलत्था।
णाण—सरीरा सिद्धा सब्बुत्तम—सुक्ख—संपत्ता ।।
कार्तिकेयानुप्रेक्षा, १६८

होने तक की वृद्धि करना शेष है। इसी से उन्हें 'वृद्ध' विशेषण दिया गया है।^१

(ण) अरहन्तों के पूज्य सिद्ध :

सिद्ध अरहन्तों के लिए पूज्य हैं। शिव-सिद्ध का कीर्तन करने के कारण ही अरहन्तों को 'शिवकीर्तन' कहा जाता है, वे दीक्षा के समय सिद्धों को ही नमस्कार करते हैं।^२ यही दोनों में चौथा विशेष अन्तर है।

भगवतीसूत्र में उनके ज्ञान के आधार पर दोनों में भेदाभेद का निरूपण किया गया है। गौतम स्वामी के द्वारा पूछे जाने पर भगवान् महावीर उत्तर देते हैं कि 'जिस प्रकार केवली(अरहन्त) छद्मस्थ को जानते और देखते हैं, उसी प्रकार सिद्ध भी छद्मस्थ को जानते और देखते हैं', तथा 'जिस प्रकार केवली सिद्ध हो जानते और देखते हैं, उसी प्रकार सिद्ध भी सिद्धों को जानते और देखते हैं किन्तु जिस प्रकार केवली बोलते हैं और प्रश्न का उत्तर देते हैं, उस प्रकार सिद्ध नहीं बोलते हैं और न ही प्रश्न का उत्तर देते हैं। इसका कारण यह है कि केवलज्ञानी (अरहन्त) उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पराक्रम से संयुक्त होते हैं जबकि सिद्धों में ये बातें नहीं होती हैं। अतः सिद्ध केवलज्ञानी के समान उत्तर-प्रत्युत्तर नहीं करते।^३

धवला टीका में अरहन्त एवं सिद्ध के विषय में आचार्य वीरसेन ने गहन चिन्तन करते हुए बतलाया है कि सिद्ध आठ कर्मों को नष्ट करते हैं। इस दृष्टि से दोनों में भेद है किन्तु इन दोनों में घातिया कर्मों के नष्ट होने पर आविर्मूत निखिल अपने आत्मगुणों में कोई भेद नहीं है।^४ इसका एकमात्र कारण यह है कि अरहन्त शुक्लध्यान रूप अग्नि से चार घातिया कर्मों को तो पूर्णरूप से नष्ट कर ही देते हैं साथ ही उनके आयुष्य आदि अघातिया कर्म भी उस ध्यानाग्नि से अधजले से हो जाते हैं जिससे वे उनके उदय में नहीं आते अर्थात् आयु आदि कर्म अपने कार्य-फल में असमर्थ से रहते हैं जबकि सिद्धों के शरीर-पतन के साथ ही ये आयुष्य आदि चार अघातिया कर्म भी नष्ट हो जाते

१. दे०—जिनसहस्रनाम, १०.१३१

२. (क) शिवानां सिद्धानां वा कीर्तनं यस्य सः शिवकीर्तनः।

दीक्षावसरे नमः सिद्धेभ्यः' इत्युच्चारणत्वात्।

जिनसहस्रनाम, ७.६५ श्रुतसागरी टीका।

(ख) सिद्धाणं णमोक्कारं करेइ। आचार्यचूला, १५.३२

३. दे०—भग० १४.१३८—१४४

४. सिद्धानामर्हतां च को भेद इति चेन्न, नष्टाष्टकर्मणः सिद्धा नष्टधातिकर्मणोऽर्हन्त इति तयोर्भेदः। नष्टेषु घातिकर्मस्वाविर्भूताशेषात्मगुणत्वान्न गुणकृतस्तयोर्भेद इति। धवला टीका, प्रथम पुस्तक, पृ० ४७

हैं^१ और अनन्त चतुष्टय—अनन्तज्ञानदर्शन—सुख—वीर्य, अरहन्त और सिद्ध दोनों को ही नियम से उपलब्ध होते हैं। अतः दोनों में गुणकृत कोई भेद नहीं है।

दूसरे, आचार्य कहते हैं कि इन अघातिया कर्मों का कार्य चौरासी लाख योनिरूप जन्म, जरा और मरण से युक्त संसार है जो अघातिया कर्मों के रहने पर अरहन्त परमेष्ठी में नहीं पाया जाता तथा अघातिया कर्म आत्मा के गुणों को घात करने में समर्थ भी नहीं है। अत एव अरहन्त और सिद्ध में गुणकृत भेद नहीं है,^२ यदि ऐसा कोई कहता है तब आचार्य उत्तर देते हुए कहते हैं कि वस्तुतः ऐसा है नहीं, दोनों में गुणकृत भेद तो है किन्तु प्रश्न यह उठता है कि गुण तो अनन्त होते हैं, उनमें कौन से गुणों के कारण भेद है, तब आचार्य बतलाते हैं कि जीव के ऊर्ध्वगमन स्वभाव का प्रतिबन्धक आयुष्य कर्म का उदय और सुखगुण का प्रतिबन्धक वेदनीय कर्म का उदय अरहन्तों के ही पाया जाता है सिद्धों को नहीं।^३ यही दोनों में गुणकृत भेद सिद्ध है।

पुनः यहां आचार्य इसी को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ऊर्ध्वगमन आत्मा का गुण नहीं कारण कि यदि वह आत्मा का गुण मान लिया जाए तब उस ऊर्ध्वगमन के अभाव में आत्मा का भी अभाव मानना पड़ेगा। साथ ही उसे सुख गुण का भी अभाव प्राप्त होगा।^४ दूसरे वेदनीय कर्म का उदय केवली में दुःख को उत्पन्न नहीं करता, नहीं तो उसे दुःखोत्पादक मानना पड़ेगा और इससे भगवान् का जो केवलीपना है वह भी नहीं बन सकेगा और ऐसा होने पर केवली हमारी तरह ही पृथक् जन ही होंगे।^५ किन्तु ऐसा है ही नहीं, कारण कि यह अरहन्त और सिद्धों का जो भेदाभेद है वह सलेपत्व और निर्लेपत्व तथा देश—भेद की अपेक्षा होता है।^६

१. अघातिकर्मोदयसत्त्वोपलम्भात् । तानि शुक्लध्यानाग्निनार्धदग्धत्वात्सनत्यपि न स्वकार्यकर्तृणीति चेन्न, पिण्डनिपाताभावान्यथानुपपत्तिः ।
आयुष्यादिशेषकर्मोदयास्तित्वसिद्धेः । वही, पृ० ४७
२. तत्कार्यस्य चतुरशीतिलक्षयोन्यात्मकस्य जातिजरामरणोपलक्षितस्य संसार—स्यासत्त्वात्तेषामात्मगुणघातनसामर्थ्याभावाच्च न तयोर्गुणकृतो भेद इति । वही
३. आयुष्यवेदनीयोदययोर्जीवोर्ध्वगमनसुखप्रतिबन्धकयोः सत्त्वात् । वही
४. नोर्ध्वगमनात्मगुणः, तदभावे चात्मनो विनाशप्रसङ्गात् । सुखमपि न गुणस्ततः एव ।।
वही, पृ० ४८
५. न वेदनीयोदयो दुःखजनकः, केवलिनो केवलित्वान्यथानुपपत्तेरिति चेदस्त्वेवमेव न्यायप्राप्तत्वात् ।
६. किंतु सलेपनिर्लेपत्वाभ्यां देशभेदाच्च तयोर्भेद इति सिद्धम् ।। वही

इस तरह अनुजीवी गुणों की अपेक्षा तो अरहन्त और सिद्ध में कोई भेद है ही नहीं । यदि कोई भेद है तो वह उनके प्रतिजीवी गुणों की अपेक्षा ही माना जा सकता है किन्तु ये प्रति जीवी गुण आत्मा के भावस्वरूप धर्म नहीं होते । अतः इस दृष्टि से उनमें कोई भेद नहीं है, फिर भी इन दोनों में सलेपत्व और निर्लेपत्व तथा देश-भेद की अपेक्षा भेद समझना चाहिए ।

आचार्य परमेष्ठी

श्रुतमविकलं शुद्धा वृत्तिः परप्रतिबोधने

परिणतिरुरुद्योगो मार्गप्रवर्तनसद्विधौ ।।

बुधनुतिरनुत्सेको लोकज्ञता मृदुताऽस्पृहा

यतिपतिगुणा यस्मिन्नन्ये च सोऽस्तु गुरुः सताम् ।।

आत्मानुशासन, श्लो० ६

चतुर्थ परिच्छेद आचार्य - परमेष्ठी

जैनदर्शन में देव, गुरु और शास्त्र (आगम, श्रुत) को महत्त्व दिया गया है। अरहन्त एवं सिद्ध दोनों ही देवत्व में आते हैं और इनके पश्चात् आचार्य ही पूजनीय होते हैं। जैन आचार्य की परमगुरु के रूप में अर्चा की जाती है, उन्हें सम्मान दिया जाता है। आचार्य महाराज ही संसारियों को कल्याण की ओर ले जाते हैं और स्वयं अपना उद्धार करते हैं। आचार्य को गुरु^१, बुद्ध^२, पूज्य^३, धर्माचार्य^४, भन्ते एवं भदन्त^५ आदि शब्दों से सम्बोधित किया गया है।

(क) गुरु-आचार्य भारतीय संस्कृति में :

भारतीय संस्कृति में गुरु पद अत्यधिक महिमापूर्ण रहा है। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र में कहा गया है कि गुरु का सत्कार ईश्वर की भांति करना चाहिए।^६ मनुस्मृति में भी गुरु के प्रति विशेष आदरभाव पर बल दिया है।^७

रामायण में गुरु को प्रज्ञाचक्षु प्रदान करने वाला बतलाकर उसे माता-पिता से भी श्रेष्ठतर कहा है^८। राम ने माता-पिता की ही भांति गुरु को भी अर्चना का पात्र बतलाया है।^९

तीर्थङ्कर तुल्य गुरु :

जैन वाङ्मय में भी गुरु का विशेष महत्त्व उपलब्ध है। अरहन्त अथवा तीर्थङ्कर प्रत्येक काल में विद्यमान नहीं होते। उनकी अनुपस्थिति में उनका प्रतिनिधित्व करने वाला गुरु ही होता है। गच्छायारपयन्ना में उन्हें 'सूरि' बतलाते हुए तीर्थङ्कर की उपमा दी गई है।^{१०}

१. दे०—उ०, १. २, ३, १६, २०; २६. ८

२. वही, १. ८, १७, २७, ४०, ४२, ४६

३. वही १. ४६

४. वही., ३६. २६५

५. वही, ६. ५८; १२. ३०; २०. ११; २३. २२; २६. ६

६. देवमिवाचार्यमुपासीत। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, १. २. ६. १३

७. व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसङ्ग्रहणं गुरोः।

सव्येन सव्यः स्पष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः।। मनुस्मृति, २. ७२

८. बाल्मीकि रामायण, २. १११. ३

९. बाल्मीकि रामायण, २. ३०. ३३

१०. तित्थयरसमो सूरि सम्मं जो जिणमयं पयासेइ। गच्छायार०, गा० २७

धर्मप्रदीप गुरु :

आचार्य प्राणियों के लिए धर्म के मार्ग का प्रदर्शन करते हैं । अन्धकार में भटकते हुए, स्थान-स्थान पर ठोकरें खाते हुए मनुष्य के लिए दीपक का जितना महत्त्व है, उतना ही, बल्कि उससे भी कहीं अधिक बढ़कर जिज्ञासु प्राणी के लिए गुरु का महत्त्व है । अतएव वे जगत् में सत्त्वों के धर्म प्रदीप हैं । एक प्रसिद्ध श्लोक में कहा भी गया है कि अज्ञानरूपी अन्धकार से अन्धे बने हुए मनुष्य के नेत्रों को जो ज्ञान रूपी अञ्जन शलाका से खोल देते हैं, उन श्रीगुरुदेव को नमस्कार है —

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।

चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः ॥ ^१

यथार्थ धर्मगुरु : आचार्य :

स्थानाङ्गसूत्र में आता है कि दो प्रकार से आत्मा को धर्म के स्वरूप की उपलब्धि हो सकती है — (१) सुनकर और (२) विचारकर ।^१ जब तक व्यक्ति धर्मशास्त्रों का श्रवण ही नहीं करता, तब तक धर्मतत्त्व का मनन एवं चिन्तन भी वह नहीं कर सकता । यह शास्त्र श्रवण गुरु से ही हो सकता है । विशुद्ध धर्म के सच्चे सन्देशवाहक गुरु ही होते हैं । अतः धर्मगुरु आचार्य का पद अत्यन्त महनीय, पूजनीय एवं वन्दनीय है ।

(ख) आचार्य पद की व्युत्पत्तिलभ्य व्याख्या :

आङ् पूर्वक चर् धातु से ण्यत् प्रत्यय के जुड़ने पर आचार्य पद बनता है जिसका अर्थ है — अध्यापक या गुरु । वैसे देखा जाए तो चर्, धातु चलने अथवा आचरण करने के अर्थ में प्रयुक्त होती है । इस प्रकार आचार्य एक ऐसा व्यक्ति होता है जो स्वयं उत्तम आचरण करता हुआ अन्य जन समुदाय को भी उसके आचरण की प्रेरणा देता है ।^२ अतः यहां आचार्य शब्द विशेष रूप से धार्मिक गुरु के लिए प्रयुक्त हुआ है ।

मनुस्मृतिकार के अनुसार आचार्य वह ब्राह्मण होता है जो शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार कर उसे कल्प (यज्ञविद्या) तथा रहस्यों (उपनिषदों) सहित वेदों को पढ़ाता है ।^३ अमरकोषकार की दृष्टि में जो मन्त्र की व्याख्या करने वाला, यज्ञ में यजमान को आज्ञा देने वाला और व्रतों का आचरण करने वाला है, वही आचार्य है^४ किन्तु जैन आचार्य के गुणों में महाव्रतों का सर्वोत्तम स्थान

१. उद्धृत—जैन तत्त्व कलिका, पृ० १२३

२. 'सोच्चा अभिसमेच्च' । ठाणं, स्थान २

३. आचर्यतेऽसावाचार्यः । अभिधानराजेन्द्रकोष, भाग-२, पृ० ३२६

४. उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।

सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ मनुस्मृति, २. १४०

५. मन्त्रव्याख्याकृदाचार्य आदेष्टा त्वध्वरे व्रती । अमरकोष, २. ७. ७

है । उसका एक मात्र मुख्य गुण अथवा कार्य सर्वज्ञ की वाणी, 'मन्त्र अथवा सूत्रगत सद्धर्म की व्याख्या करना है ।

भगवतीसूत्र में आचार्य शब्द का निर्वचन करते हुए बतलाया गया है कि आ यहाँ मर्यादा का द्योतक है अर्थात् मर्यादापूर्वक अथवा उचित विनय से जिनशासन धर्मोपदेशक के रूप में मोक्षाभिलाषी व्यक्तियों के द्वारा जिसकी उपासना की जाती है, वह आचार्य है — ' आ-मर्यादया तद्विषयविनयरूपया चर्यन्ते- सेव्यन्ते जिनशासनार्थोपदेशकतया तदाकाङ्क्षिभिरित्याचार्याः ।'^१

यहाँ आगे भी बतलाया गया है कि आ मर्यादा और चार विहार या आचार का द्योतक है । साधु आचार का स्वयं मर्यादापूर्वक पालन करने से, दूसरों को आचार के विषय में बतलाने से और आचार के विषय में मार्ग—प्रदर्शन करने से आचार्य कहलाते हैं । आचार्य पाँच प्रकार के आचार का स्वयं आचरण करते हुए सुशोभित होते हैं और अपने उस आचरित आचरण को दूसरों के लिए भी व्याख्यान करते हैं तथा उन्हें कल्याण मार्ग दिखलाते हैं । इसी कारण वे आचार्य कहलाते हैं ।^३

ध्वला टीका में भी कहा गया है कि जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पाँच आचारों का स्वयं आचरण करते हैं और दूसरे सन्तों व साधुओं से आचरण कराते हैं, उन्हें आचार्य कहते हैं ।

चतुर्दश विद्यापारगामी आचार्य :

वे आचार्य चौदह विद्यास्थानों^४ में पारंगत और ग्यारह अंग के धारक होते हैं । वे आचार्य तत्कालीन स्वसमय और परसमय में निष्णात् मेरु के समान निश्चल और पृथ्वी के समान सहनशील होते हैं । आचार्य समुद्र के समान मलों (= दोषों) को बाहिर फेंक देते हैं और वे सात प्रकार के भय^५ से

१. 'मन्त्रं श्रुतं कृतवान् इति मन्त्रकृत्' से भगवान् जिनेन्द्र मन्त्रकृत् कहलाते हैं । जिनसहस्रनाम, पृ. ६८ स्तोपज्ञवृत्ति

२. भग० वृ० प० ३

३. आ – मर्यादया वा चारो – विहारः आचारस्तत्र साधवः स्वयंकरणात् प्रभाषणात् प्रदर्शनाच्चेत्याचार्याः, आह च— पंचविहं आचारं आयरमाणा तहा पयासंतो । आचारं दंसंता आयरिया तेण वुच्चंति ।। वही

४. चोद्दसदसणवपुब्बी महामदी सायरोब्ब, गंभीरो ।

कप्पववहारधारी होदि हु आधारवं णाम ।। भग० आ०, गा० ४३०

५. इहलोकभय, परलोकभय, अत्राणभय, अकस्मात्भय, अगुप्तिभय, मरणभय तथा वेदनाभय ये सात प्रकार के भय हैं' दे० मूला० २. ५३

रहित होते हैं । इन सभी गुणों के होने से वे आचार्य पद पर प्रतिष्ठा पाते हैं ।^१
साक्षात् जिन बिम्ब आचार्य :

आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि में आचार्य वे हैं 'जो ज्ञानमय हैं, संयम से शुद्ध हैं, अत्यन्त वीराग हैं तथा कर्मों का क्षय करने वाली दीक्षा और शिक्षा देते हैं' । ऐसे आचार्य परमेष्ठी जिनेन्द्र देव के साक्षात् प्रतिबिम्ब होते हैं —

जिणबिम्बं णाणमयं संजमसुद्धं सुवीरयायं च ।

जं देइ दिक्खासिक्खा कम्मक्खयकारणे सुद्धा ॥^२

संग्रहानुग्रही आचार्य :

जैनाचार्य सदैव आचारवेत्ता तो होते ही हैं^३ साथ ही वे संग्रह और अनुग्रह^४ में कुशल, सूत्र के अर्थ में विशारद, कीर्ति से प्रसिद्धि को प्राप्त, चारित्र में तत्पर तथा उपादेय एवं अनुपादेय व्याख्यान में निपुण होते हैं ।^५

वे आचार्य स्वभाव से गम्भीर, दुर्धर्ष, शूरवीर, धर्म की प्रभावना करने वाले तथा भूमि, चन्द्र एवं समुद्र के समान गुणों वाले होते हैं ।^६

दुर्धर्ष एवं अगाधगुण सम्पन्न आचार्य :

वे क्षोभ रहित आचार्य अगाध गुण सम्पन्न होने से गंभीर होते हैं । इन गुणों के होने से वे परवादियों द्वारा पराभूत नहीं किए जा सकते । अतः वे दुर्धर्ष होते हैं ।

शूरवीर एवं धर्म प्रभावक आचार्य :

शौर्य गुण से युक्त होने से शूरवीर और धर्म की प्रभावना करने के

१. णमो आइरियाणं—पञ्चविधमाचारं चरति चारयतीत्याचार्यः ।

चतुर्दश—विद्यास्थानपरागः एकादशाङ्गधरः आचाराङ्गधरो वा तात्कालिक स्वसमयपरसमयपारगो वा मेरुरिव निश्चलः क्षितिरिव सहिष्णुः सागर इव बहिः क्षिप्तमलः सप्तभयविप्रमुक्तः आचार्यः । धवला टीका, प्रथम पुस्तक, पृ० ४६—५०

२. बोधपाहुड, गा० १६

३. सदा आचारविहण्हू सदा आयरियं चरो ।

आचारमाचारवंतो आयरिओ तेण उच्चदे ॥ मूला० ७. ५०६

४. दीक्षा आदि देकर अपना बनाना संग्रह है और फिर ऐसे शिष्यों का शास्त्रादि के द्वारा संस्कार करना अनुग्रह कहलाता है । दे० — मूला० वृ०, ४. १५८

५. संगहणुग्गहकुसलो सुत्तत्थविसारओ पहियाकित्ती ।

किरिआचरणसुजुत्तो गाहुय आदेज्जवयणो य ॥ मूला०, गा० ४. १५८

६. गंभीरो दुद्धरिसो सूरौ धम्मप्पहावणासीलो ।

खिदिससिसायरसरसो कमेण तं सो दु संपत्तो ॥ वही, गा० ४. १५९

स्वभाव वाले होने से धर्मप्रभावक होते हैं ।

क्षमासम्पन्न आचार्य :

वे क्षमा गुण में पृथ्वी के समान, सौम्य गुण से चन्द्रमा के समान और निर्मलता गुण में समुद्र के सदृश होते हैं ।^१

आचार्य निश्चय और व्यवहार^२ रूप में पंचाचार्यों से युक्त शुद्धोपयोग?^३ की भावना से सहित, वीतराग निर्विकल्प समाधि का स्वयं आचरण करते हैं और दूसरों से भी कराते हैं ।^४

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि आचार्य स्वयं उच्च चारित्र का पालन करता है और दूसरों शिष्यों एवं भव्य जीवों को इसके पालन करने की प्रेरणा देता है । वह मुनि—संघ का अग्रणी होता है । मुनिचर्या के संचालन में उसकी आज्ञा अन्तिम और मान्य होती है अतः संघ के संचालक के रूप में एक सुयोग्य आचार्य स्वयं अपना तो कल्याण करता ही है साथ ही समूचे संघ को कल्याण के मार्ग पर अग्रसित करता है ।

आचार्य के पर्यायवाची शब्द :

जैनागम में आचार्य के लिए अनेक शब्द मिलते हैं । उनमें प्राज्ञ, मेधावी, विद्वान्, अभिरूप, विचक्षण, पण्डित, सूरि, आचार्य वाग्मी एवं नैयायिक आदि विशिष्ट हैं ।^५ ये सभी शब्द सार्थक हैं और आचार्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं ।

जो वस्तु को प्रकृष्ट रूप से जानता है, वह प्राज्ञ है और मेधा सम्पन्न को मेधावी कहते हैं । जो ज्ञाता है, वही विद्वान् है, जिसने स्वरूप को प्राप्त कर लिया है वह अभिरूप है और जो वस्तु तत्त्व को अनेक प्रकार से देखता है, उसका प्रत्यवेक्षण करता है, वह विचक्षण है । पण्डा अर्थात् बुद्धि और जिस चरित्रवान् को यह उत्पन्न हो गई है, वह पण्डित, तथा जो बुद्धि को उत्पन्न

१. वही, वृत्ति

२. जो एक वस्तु के धर्मों में कथंचित् भेद का उपचार करता है वह व्यवहार नय है तथा जो उसके विपरीत अर्थात् जो वस्तु को उसके स्वाभाविक रूप में ग्रहण करता है वह निश्चयनय है नय चक्र, गा० २६४

३. जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो ।
सुदेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसम्भावो ।। प्रवचनसार, गा० १.६

४. विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठान
बहिर्द्रव्येच्छा—निर्वृतिरूपं तपश्चरणं स्वशक्तयनवगूहनवीर्यरू
पाभेदपञ्चाचाररूपात्मकं शुद्धोपयोगभावानन्तर्भूतं वीतरागनिर्विकल्पसमाधिं
स्वयमाचरन्त्यन्यानाचरयन्तीति भवन्त्याचार्यास्तानहं वन्दे । परमात्म० १.७ वृत्ति

५. प्राज्ञमेधाविनौ विद्वनभिरूपो विचक्षणः ।।
पण्डितः सूरिराचार्यो वाग्मी नैयायिकः स्मृतः ।। नाममाला, श्लो० १११

करता है, वह ही सूरि है । जिसका अनुकरण किया जाता है वह आचार्य, तथा जिसकी वाणी प्रशंसा के योग्य होती है, वह वाग्मी एवं जो न्याय तथा विचार में नियुक्त हो वह नैयायिक होता है ।^१ इस प्रकार आचार्य इन सभी गुणों से सम्पन्न होते हैं ।

(ग) आचार्य के छत्तीस गुण :

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में आचार्य के छत्तीस गुण स्वीकार किए गए हैं किन्तु संख्या में एकरूपता होते हुए भी भेदों में वैषम्य दृष्टिगोचर होता है

श्वेताम्बर परम्परानुसार :

जो पांचों इन्द्रियों को वश में करता है, नौ प्रकार की ब्रह्मचर्य की गुप्तियों को धारण करता है, चार प्रकार की कषायों से मुक्त है, पाँच महाव्रतों तथा पांच आचार्यों के पालन में समर्थ है और जो पाँच समिति और तीन गुप्ति का धारक है, वही आचार्य होता है ।^२

(अ) पंचेन्द्रियनिग्रही आचार्य :

निग्रह का अर्थ है— पूर्ण रूप से अपने वंश में करना, उन्हें स्वयं प्रवृत्त न होने देना । श्रोत्र, चक्षु, त्वक्, जिह्वा एवं घ्राण ये पाँच इन्द्रियां हैं । इन पर नियन्त्रण रखना, इन्द्रियों को उनके विषयों में प्रवृत्त न होने देना । इसका अर्थ यह नहीं है कि इन्द्रियों से देखना, सुनना आदि बन्द कर दिया जाए, इसका भाव यही है इन्द्रियों का उनके अच्छे—बुरे विषयों के प्रति किसी प्रकार का राग—द्वेष न रहे, समभाव से प्रवृत्ति हो । अतः आचार्य इन्द्रियों के शब्द—रूप आदि मनोज्ञ विषयों में रागभाव नहीं करते और इन्द्रियों के अमनोज्ञ विषयों में तनिक भी द्वेषभाव नहीं रखते ।^३ अतएव वे पंचेन्द्रियनिग्रही कहलाते हैं ।

(आ) ब्रह्मचर्य की नवविध गुप्तियों के धारक आचार्य :

जिस प्रकार एक किसान अपने बोए हुए खेत की रक्षा के लिए उसके चारों ओर बाड़ लगाता है, उसी प्रकार आचार्य धर्म के बीज रूप ब्रह्मचर्य की

१. प्रजानातीति प्राज्ञः, मेधास्त्यस्य मेधावी, वेत्ति जानाति इति विद्वान्, अभिगतं रूपं (विद्या) येन अभिरूपः विविधं चष्टे विचक्षणः, पण्डा (बुद्धिः) सज्जातास्येति पंडितः, सूते बुद्धिं सूरिः, आचर्यते आचार्यः, प्रशस्ता वागस्त्यस्य वाग्मी, न्याये विचारे नियुक्तो नैयायिकः ।। नाममाला, भाष्य, श्लो० १११
२. पंचिदियसंवरणो, तह नवविहबम्भचेरगुत्तिधरो ।
चउविह कसाय मुक्को इअ अट्ठारस गुणेहिं संजुत्तो ।।
पंचमहव्वयजुत्तो, पंचविहायारपालणसमत्थो ।
पंचसमिओ तिगुत्तो, इइ छत्तीसगुणेहिं गुरु मज्झं ।।
दे० — जैन तत्व कलिका, पृ० १३०, पा० टि०
३. जे इन्द्रियाणं विसया मणुन्ना न तेसु भावं निसिरे कयाइ ।
न यामणुन्नेसुमणं पि कुज्जा समाहिकामे समणे तवस्सी ।। उ० ३२. २१

रक्षा के लिए नौ प्रकार की बाड़ लगाते हैं, वे नौ प्रकार की ब्रह्मचर्य की गुप्तियों से अपने ब्रह्मचर्य को सुरक्षित रखते हैं ।

उत्तराध्ययनसूत्र में ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए दस आवश्यक बातों का त्याग अनिवार्य बतलाया गया है । चित्त को एकाग्र करने में इनका विशेष महत्व होने के कारण इन्हें समाधि-स्थान भी कहा गया है ।^१ ये समाधि स्थान निम्न प्रकार हैं —

(१) स्त्री आदि से संकीर्ण स्थान के सेवन का वर्जन :

जिस स्थान में बिल्ली रहती हो, वहां चूहा रहे तो उसकी खैर नहीं, उसी प्रकार स्त्रियों के निवास—स्थान के पास ब्रह्मचारी का रहना भी प्रशस्त नहीं है ।^२ इसलिए वह स्त्री, पशु और नपुंसक से संसक्त शयन और आसन का सेवन नहीं करता ।^३

(२) कामरागयुक्त स्त्री-कथा का वर्जन :

कामराग को बढ़ाने वाली स्त्री कथा कहने व सुनने से ब्रह्मचर्य स्थिर नहीं हो सकता । जैसे नींबू, इमली आदि खट्टे पदार्थों का नाम लेते ही मुँह में पानी भर आता है, वैसे ही स्त्री के सौन्दर्य एवं हाव—भावों का वर्णन करने से मन में विकार उत्पन्न होता है । इसलिए ब्रह्मचारी मन में आह्लाद पैदा करने वाली तथा कामराग को बढ़ाने वाली स्त्री—कथा का त्याग करे ।^४

(३) स्त्रियों का अतिसंगवर्जन :

स्त्रियों के साथ एक आसन पर बैठ कर वार्तालाप करने से कामपीड़ा उत्पन्न हो सकती है । अतः ब्रह्मचारी उसके साथ एक आसन पर न बैठे,^५ उसके साथ परिचय इत्यादि न बढ़ाते हुए बार—बार वार्तालाप का सदैव त्याग करे ।

(४) स्त्रियों के अंगोपांग निरीक्षण वर्जन :

स्त्रियों के अंग (मस्तक आदि), प्रत्यंग (कुच, कुक्षि आदि), संस्थान

१. इह खलु धेरेहिं भगवन्तेहिं दस बम्भचेर समाहिठाणा पन्नत्ता, जो भिक्खू सोच्चा, निसम्म, संजमबहुले, संवरबहुले, समाहिबहुले, गुत्ते, गुत्तिन्दिए, गुत्तबंभयारी सया अम्मत्ते बिहरेज्जा ।। वही, १६. १ (गद्य)
२. जहा विरालावसहस्स मूले न मूसगाणं वसही पसत्था । एमेव इत्थीनिलयस्स मज्जे न बम्भययारिस्स खमो निवासो ।। उ० ३२. १३
३. नो इत्थी—पसुपण्डगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेविता हवइ, से निग्गन्धे । वही, १६. ३ (गद्य) ।
४. मण पलहायजणणिं कामरागविवड्ढणिं । बंभचेररओ भिक्खू थीकहं तु विवज्जए ।। वही, १६. २
५. समं च संथवं थीहिं संकहं च अभिक्खणं । बंभचेररओ भिक्खू निच्चसो परिवज्जए ।। वही, १६. ३

(कटिप्रदेश आदि) एवं अनेक प्रकार की मनोहर मुद्राओं को देखने से चक्षुराग उत्पन्न होता है । अतः ब्रह्मचारी को चक्षुरिन्द्रिय के विषय भूत स्त्रियों के रूप आदि का दर्शन नहीं करना चाहिए ।^१ यदि कभी नजर पड़ भी जाए तो वीतरागतापूर्वक शुभ ध्यान करना चाहिए ।^२

(5) स्त्रियों के विविध शब्द श्रवण-वर्जन :

जिस प्रकार मेघ की गर्जन सुनकर मोर प्रमुदित हो जाता है, उसी प्रकार पर्दे अथवा दीवार आदि के पीछे से दाम्पत्यसहचार तथा अन्य कामवर्धक गीत, शब्द एवं हास्यपूर्ण बातें सुनने से काम-विकार उत्पन्न होता है । अतः ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह स्त्रियों के कूजन, रोदन, गीत एवं हास्य आदि को न सुने ।^३

(6) पूर्वभुक्त कामभोगों का स्मरण वर्जन :

ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य-व्रत लेने से पहले अनुभव की गई कामक्रीड़ा इत्यादि का स्मरण नहीं करना चाहिए ।^४ ऐसा करने से मन विचलित हो सकता है एवं ब्रह्मचर्य-व्रत खण्डित हो सकता है ।

(7) कामोत्तेजक सरस भोजन-पानवर्जन :

घी, दूध आदि रसयुक्त पौष्टिक भोजन-पान करने से कामवासना भड़क सकती है । अतः ब्रह्मचारी के लिए सदैव सरस, स्वादिष्ट एवं कामवासना को बढ़ाने वाले भोजन का त्याग आवश्यक है ।^५

(8) अत्यधिक भोजन-पानवर्जन :

जो ब्रह्मचारी प्रमाण से अधिक खाता-पीता है, उसके ब्रह्मचर्य के खण्डित होने की संभावना बनी रहती है कारण कि प्रमाण से अधिक भोजन करने वाले की कामाग्नि शान्त नहीं होती है । अतः उसे दित्त की स्थिरता के लिए एवं ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए धर्म की मर्यादानुसार प्राप्त परिमित भोजन ही करना चाहिए ।^६

१. अंगपच्चंग-संठाणं चारुल्लविय-पेहियं ।

बम्भचेररओ थीणं चक्षुगिज्झं विवज्जए ॥ उ० १६. ४

२. इत्थीजणस्सारियझाणजोग्गं । वही, ३२. १५

३. कुइयं रुइयं गीथं हसियं थणिय-कन्दियं ।

बम्भचेररओ थीणं सोयागिज्झं विवज्जए ॥ वही, १६. ५

४. हासं किड्डं रइं दप्पं सहसावत्तासियाणिय ।

बम्भचेररओ थीणं नाणुचिन्ते कयाइ वि ॥ वही, १६. ६

५. पणीयं भत्तपाणं तु खिप्पं मयविवड्डणं ।

बम्भचेररओ भिक्खू निच्चसो परिवज्जए ॥ वही, १६. ७

६. धम्मलद्धं मियं काले जत्तत्थं पणिहाणवं ।

नाइमत्तं तु भुंजेज्जा बम्भचेररओ सया ॥ वही, १६. ८

(9) स्नानशृंगार-आदिवर्जन :

जो ब्रह्मचारी स्नान एवं वेशभूषा आदि से शरीर को सजाता है, उसके प्रति स्त्रियां आकर्षित होती हैं जिससे उसके ब्रह्मचर्य पालन में बाधा आ सकती है । अतः वह अलंकृत वेशभूषा का परित्याग करे और शृंगार के लिए शरीर का मण्डन न करे ।^१

(10) पंचेन्द्रियविषयासक्तिवर्जन :

जो ब्रह्मचारी पाँचों इन्द्रियों के विषय शब्द, रूप, रस गन्ध और स्पर्श में आसक्त रहता है, उसका ब्रह्मचर्य कभी भी स्थाई नहीं हो सकता । विषयों के भोगोपभोग से मानसिक चंचलता उत्पन्न हो जाती है और ब्रह्मचर्यव्रत भ्रष्ट हो जाता है । अतः वह ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य की स्थिरता के लिए इन समस्त कामगुणों से सदैव दूर रहे ।^२

आचार्य के लिए ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए ब्रह्मचर्य से डिगाने वाले इन सभी शंका—स्थलों का त्याग करना आवश्यक है । इन समाधि—स्थानों का ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए विशेष महत्त्व होने के कारण इन्हें ब्रह्मचर्य की गुप्तियों भी कहा गया है ।^३ दसवां समाधि स्थान अन्य नौ समाधिस्थानों का संग्रहरूप होने से उसे पृथक् न मानकर नौ ही ब्रह्मचर्य की गुप्तियाँ बतलाई गई हैं ।^४

(३) चतुर्विधकषायविजयी आचार्य :

जो आत्मा को कसे अर्थात् दुःख दे, वह कषाय है ।^५ क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं जो कि मनुष्य के हृदय में रहने वाली अग्नि के समान हैं । जब यह कषाय रूपी अग्नि भड़कती है तो साधक के क्षमा, दया, शील एवं संयम आदि सभी गुणों को नष्ट कर डालती है । इन कषायों पर विजय पाकर ही व्यक्ति आध्यात्मिक विकास की ओर अग्रसर हो सकता है । दशवैकालिक सूत्र में बतलाया गया है कि 'क्रोध आदि चारों कषायों से पाप की वृद्धि होती है,' इसलिए आत्महितैषी व्यक्ति को चाहिए कि वह इन चारों को छोड़ दे ।^६ आचार्य कुन्दकुन्द ने भी कहा है कि 'जो जीव मान, माया और क्रोध से रहित है, लोभ से वर्जित है तथा निर्मल स्वभाव से युक्त है, वही उत्तम सुख को प्राप्त करता है' ।^७

१. बिभूषं परिवज्जेज्जा सरीरपरिमण्डणं ।

बम्भचेररओ भिक्खू सिंगारत्थं न धारए ।। वही, १६. ६

२. सदे रुवे य गन्धे य रसे फासे तहेव य ।

पंचविहे कामगुणे निच्चसो परिवज्जए ।। उ० १६. १०

३. दे०—वही, ३१. १०

४. दे०—समवाओ, ६. १

५. कषति हिनस्त्यात्मानं दुर्गतिं प्रापयतीति कषायः । त० वृ० ६. ४, पृ० २१३

६. कोहं माणं च मायं च लोभं च पाववड्ढणं ।

वमे चतारि दोसे उ इच्छंतो हियमप्पणो ।। दश० ८. ३६

७. मयमायकोहरहिओ लोहेण विवज्जिओ य जो जीवो ।

निम्मलसहावजुत्तो सो पावइ उत्तमं सोक्खं ।। मोक्षपाहुड, गा० ४५

(1) क्रोध कषाय :

क्रोध प्रथम कषाय है, जो मनुष्य के स्वभाव को क्रूर बना देता है । क्रोधावेश में आकर व्यक्ति अपने प्रियजनों की हत्या करने से भी नहीं चूकता और कई बार आत्म हत्या भी कर बैठता है । गीता में बतलाया है कि क्रोध से अविवेक उत्पन्न होता है, अविवेक से स्मरण शक्ति भ्रमित हो जाती है । स्मृति के भ्रमित हो जाने से बुद्धि नष्ट हो जाती है, और बुद्धि के नष्ट होने से व्यक्ति का सब कुछ ही नष्ट हो जाता है ।^१ इस कारण आचार्य सदैव क्रोध रहित रहते हैं और यदि कभी कारणवश क्रोध आ भी जाए तो क्षमाभाव धारण कर लेते हैं ऐसे हैं 'जैन श्रमण आचार्य' ।

(2) मान कषाय :

मान का अर्थ है — अभिमान, जो व्यक्ति के स्वभाव को कठोर बना देता है । जिस व्यक्ति में मान की भावना आ जाती है उसका विनय गुण सदा-सदा के लिए जाता रहता है^२ अर्थात् विनय गुण नष्ट हो जाता है । विनयशीलता के बिना ज्ञानार्जन नहीं हो सकता । ज्ञान के अभाव में तत्त्वचिन्तन भी नहीं किया जा सकता और तात्त्विक ज्ञान के अभाव में धर्माचरण भी नहीं हो सकता तथा उसके फलस्वरूप मोक्ष प्राप्ति भी नहीं हो सकती । मान कषाय की प्रबलता देखिए कि शरीर से स्नेह छोड़ देने पर भी बाहुबली मान कषाय से बहुत समय तक कलुषित रहे^३ ।

मान की उत्पत्ति के स्रोत आठ मद हैं । वे हैं — १ — जातिमद, २ — कुलमद, ३ — बलमद, ४ — रूपमद, ५ — लाभमद, ६ — तपोमद, ७ — श्रुतमद और ८ — ऐश्वर्यमद ।^४ किन्तु तत्त्वज्ञ आचार्य इनमें से कोई निमित्त मिल जाने पर अहंकार न करके सदैव विनम्र रहते हैं ।

(३) माया कषाय :

कपट, कुटिलता, वक्रता, छल, वंचना आदि ये सब माया के ही रूप हैं । माया भोले मनुष्य के स्वभाव में कुटिलता उत्पन्न कर देती है । माया शल्य रूप होती है ।^५ जिस प्रकार शरीर में चुभा हुआ कांटा निरन्तर पीड़ित करता रहता

१. क्रोधादभवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।

स्मृतिभ्रंशादबुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ गीता, २. ६३

२. माणो विणयनासणो ॥ दश० ८.३७

३. देहादिघतसङ्गो माणकसाएण कलुसिओ धीर ।

अत्तावणेण जादो बाहुबली कित्ति य कालं ॥ भावपाहुड, गा० ४४

४. समवाओ, ८. १ तथा मिलाइए—रत्नकरण्डश्रावकाचार, १. २५

५. पडिक्कमामि तिहिं सल्लेहिं — मायासल्लेणं निआणसल्लेणं मिच्छादंसणसल्लेणं ।

आवस्सयं, ४. ८

है, उसी प्रकार माया रूपी भावशाल्य आत्मा को संतप्त करता है। माया मित्रता को नष्ट कर डालती है।^१ माया को तिर्यञ्च आयु के बन्ध का कारण कहा गया है।^२

सच्चा व्रतधारी वही है, जो मायाशाल्य से रहित हो।^३ अतः आचार्य कहीं भी माया का सेवन नहीं करते और यदि कभी कारण वश इस प्रकार के भाव उत्पन्न हो भी जाएं तो ऋजु भाव से उन्हें तुरन्त निष्फल कर देते हैं।

(4) लोभ कषाय :

लालच, प्रलोभन, लालसा, तृष्णा आदि सब लोभ के पर्याय हैं। लोभ मनुष्य के समस्त गुणों का विनाशक है।^४ इसलिए लोभ को पाप का बाप कहा गया है 'लोभ पाप को बाप बखाना'।^५ लोभ के जाल में फँसकर प्राणी क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, अपमान एवं मारपीट आदि अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करते हैं। लोभ के ही वश में हो कर मनुष्य मायाजाल रचता है तथा उसके हृदय से सन्तोष, परोपकार, दया एवं क्षमा आदि सभी मानवीय गुण समाप्त हो जाते हैं। लोभी व्यक्ति प्राणियों की हिंसा से भी नहीं चूकता और अन्त में वह दुर्गति को ही प्राप्त करता है। अतः आचार्य अपनी साधना की सफलता के लिए सदा लोभरहित रहते हैं।

(ई) पञ्च महाव्रतधारक आचार्य :

आचार्य अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह^६, इन पाँच महाव्रतों का, प्रत्येक की पाँच—पाँच भावनाओं सहित, तीन करण (कृत, कारित, अनुमोदित) एवं तीन योग (मन, वचन, काया) से दृढ़तापूर्वक स्वयं पालन करते हैं और संघ के साधुओं एवं साध्वियों को भी इनका पालन करने के लिए प्रेरणा देते हैं।

अहिंसा आदि को महाव्रत क्यों कहा गया है? महाव्रत नाम की सार्थकता बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि महापुरुष अर्थात् गुरुओं के भी गुरु इनकी साधना करते हैं। पूर्ववर्ती महापुरुष अर्थात् ऋषभ से लेकर महावीर स्वामी पर्यन्त समस्त तीर्थकरों, गौतम आदि गणधरों एवं श्रुतकेवलियों ने इनका आचरण किया है तथा ये स्वयं भी महान् हैं, श्रेष्ठ हैं। अतः इन्हें महाव्रत कहा गया है।^७

१. माया मित्राणि नासेइ । दश० ट. ३७

२. माया तैर्यग्योनस्य । त० सू० ६. १७

३. निशल्यो व्रती, । त० सू० ७. १३

४. लोहो सब्बविणासणो । दश० ट. ३७

५. जैन पूजन पाठ प्रदीप, पृ० १६३

६. अहिंस सच्च च अतेणगं च ततो य बम्भं अपरिग्रहं च ।

पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विऊ ।। उ० २१. १२

७. साहंति जं महल्ला आयरियं जं महल्लपुव्वेहिं

जं च महल्लाणि तदो महल्लया इतहे ताई ।। चारिपाहुड, गा० ३०

प्रथम महाव्रत : अहिंसा

मन-वचन-काय-तथा कृत- कारित- अनुमोदना से किसी भी परिस्थिति में त्रस एवं स्थावर जीवों को पीड़ित न करना अहिंसा है ।^१ मन में किसी दूसरे को पीड़ित करने पर उसका समर्थन करना भी हिंसा है । अतः कहा गया है कि 'जो हिंसा का अनुमोदन करता है, वह भी उसके फल को भोगता है ।'^२ सब सुखी रहना चाहते हैं तथा सभी प्राणियों को अपना जीवन प्रिय है, अतः किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए' ।^३

अहिंसा का पालन करने वाला साधु यहाँ तक कि वह अपना अहित करने वाले के प्रति भी क्षमाभाव रखता है, वह अभयदान देकर सदा विश्वमैत्री की भावना रखता है तथा वध करने के लिए तत्पर हुए प्राणी के प्रति भी वह तनिक भी क्रोध नहीं करता ।^४ वैदिक संस्कृति में भी अहिंसा को समस्त प्राणियों के धार्मिक कार्यों का कल्याणकारी अनुशासन माना गया है ।^५ अतः अहिंसा व्रत का मन-वचन-काय पूर्वक पालन करना श्रेयस्कर है ।

अहिंसा महाव्रत की पांच भावनाएं :

जैन दर्शन में अहिंसा व्रत के सम्यग् प्रकार से परिपालन के लिए पांच भावनाओं के पालन पर बल दिया गया है । ये भावनाएं हैं — **वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकित पान-भोजन** ।^६

‘(१) **वचनगुप्ति भावना** : वचनगुप्ति से अभिप्राय है अपनी वाणी पर नियन्त्रण रखना । वाणी से किसी भी प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट अथवा पीड़ा न पहुंचे, यही **वचनगुप्ति भावना** है ।

(२) **मनोगुप्ति भावना** : धर्मी-अधर्मी के प्रति समत्व भाव रखना अथवा मन को अशुभ ध्यान से हटाकर शुभ ध्यान में लगाना, मन में किसी भी प्राणी के प्रति हानिकारक विचार न रखना — यही मनोगुप्ति है ।

(३) **ईर्या समिति** : चलते-फिरते समय इस प्रकार देख भाल कर

१. जगनिस्सिएहिं भूएहिं तसनामेहिं थावरेहिं च ।
नो तेसिमारभे दंडं मणसा वयसा कायसा चेव ॥ उ० ८. १०
२. न हु पाणवहं अणुजाणे मुच्चेज्ज कयाइ सव्वदुक्खाणं ॥ वही, ८. ८
३. अज्झत्थं सव्वओ सव्वं दिस्स पाणे पियायए ।
न हणे पाणिणो पाणे भयवेराओ उवरए ॥ वही, ६. ७
४. हओ न संजले भिक्खू मणं पि न पओसए ।
तितिकखं परमं नच्चा भिक्खू-धम्मं विचिंतए ॥ वही, २. २६
५. अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् । मनुस्मृति, २. १५६
६. वयगुत्ती मणगुत्ती इरियासमिदी सुदाननिकखेवो ।
अवलोयभोयणाए हिंसाए भावणा होंति ॥ चारित पाहुड, गा० ३१

चला जाए कि त्रस—स्थावर किसी भी प्रकार के जीवों को कष्ट न हो, उनकी हिंसा न हो—यही ईर्यासमिति है ।

(४) आदाननिक्षेपण समिति : वस्त्र, पात्र, आहार, पानी आदि किसी भी वस्तु भूमि को देखकर और शोधकर रखना या उठाना — यही आदाननिक्षेपणसमिति है ।

(५) आलोकित पान-भोजन भावना : इस भावना से अभिप्राय है कि खाने—पीने सम्बन्धी सभी वस्तुओं को भली—भाँति देखकर ग्रहण करना ।^१

द्वितीय महाव्रत-सत्य :

क्रोध, लोभ, हास्य एवं भय आदि झूठ बोलने के कारणों के विद्यमान रहने पर भी मन—वचन—काय तथा कृत—कारित—अनुमोदना से कभी झूठ न बोलना, सदैव सावधानीपूर्वक हितकारी एवं प्रिय वचनों को ही बोलना सत्य महाव्रत है ।^२ अतः अहितकर और अप्रिय वचन सत्य होने पर भी त्याज्य हैं । इसी प्रकार साधु के द्वारा असभ्य वचन भी नहीं बोले जाने चाहिए ।^३

इसके अतिरिक्त 'अच्छा भोजन बना है' अथवा 'अच्छी तरह पकाया गया है' इस प्रकार की सावद्य वाणी तथा 'यह अवश्य ही ऐसा होगा' इस प्रकार की निश्चयात्मक वाणी का भी साधु परिहार करे ।^४ कारण कि सावद्य वाणी बोलने से हिंसा की एवं निश्चयात्मक वाणी बोलने से मिथ्या होने की आशंका बनी रहती है ।

सत्य महाव्रत की पांच भावनाएं :

क्रोध, भय, हास्य, लोभ और मोह का त्याग, होने से सत्य महाव्रत की पाँच भावनाएं बनती है ।^५

(1) क्रोध-त्याग : कई बार क्रोधवश झूठ बोला जाता है । अतः सर्वप्रथम तो क्रोध में न आएँ और यदि कभी क्रोधावेश आ भी जाए

१. दे०—त० वृ० ७. ४

२. कोहा वा जइ वा हासा लोहा वा जइवा मया ।

मूसं न वयई जो उ तं वयं बूम माहणं ।। उ० २५. २४

निच्चकालप्पमत्तेणं मुसावायविवज्जणं ।

भासिच्चं हियं सच्चं निच्चा उत्तेण दुक्करं ।। वही, १६. २७

३. वयजोग सुच्चा न असम्ममाहु । वही, २१. १४

४. मुसं परिहरे भिक्खू न य ओहारिणीं वए ।

भासा—दोसं परिहरे मायं च वज्जए सया ।। वही, १. २४

सुकडे ति सुपक्के ति सुच्छिन्ने सुहडे मडे ।

सुणिट्ठए सुलट्ठे ति सावज्जं वज्जए मुणी ।। वही, १. ३६

५. कोहभय हासलोहा मोहा विवरीयभावणा चेव ।

विदियस्स भावणाए उ पंचेव य तहा होति ।। चारित्तपाहुड, गा० ३२

तो भाषण न करें, मौन एवं क्षमाभाव ही रखें ।

(2) **भय-त्याग** : कई बार भय के वंश में होकर असत्य बोला जाता है । अतः सर्वप्रथम तो भयभीत ही न हो । यदि कभी ऐसी अवस्था उत्पन्न हो भी जाए तो सत्य की रक्षा के लिए भाषण न करें, धैर्य रखें ।

(3) **हास्य-त्याग** : हंसी मजाक में ही अधिक झूठ बोला जाता है । हास्य का उदय होने पर सत्य की रक्षा के लिए वचन का प्रयोग न किया जाना अर्थात् मौन रहने में ही हास्य-त्याग की पूर्णता है ।

(4) **लोभ-त्याग** : लोभवश भी झूठ बोला जाता है जिससे सत्य की हानि होती है । अतः जब लोभ का उदय हो तब सत्य की रक्षा के लिए न बोलें और लोभ का परिहार करते हुए सन्तोष धारण करें ।

(5) **मोह-त्याग** : यहाँ मोह-त्याग से अभिप्राय है — अनुवीचिभाषण । वीची पूर्वाचार्यों की 'वचन रूप तरंग को कहते हैं, उसका अनुसरण करते हुए बोलना अनुवीचि भाषण है । इस प्रकार अनुवीचि भाषण का स्पष्ट अर्थ यह है कि जिनागम के अनुसार वचन बोलना' । अतः महाव्रतधारी सदैव शास्त्र परम्परा का उल्लंघन करते हुए ही बोलें ।^१

तृतीय महाव्रत-अचौर्य :

तुच्छ से भी तुच्छ वस्तु को स्वामी की आज्ञा के बिना ग्रहण न करना और केवल निर्दोष वस्तु को ही लेना अचौर्य महाव्रत है ।^२ साधु के लिए सचित्त वस्तुओं के ग्रहण करने का निषेध है । यदि किसी सचित्त वस्तु को साधु स्वामी के दिए जाने पर भी ग्रहण करता है तो वह भी चोरी ही है । अतः साधु को सदोष वस्तु के ग्रहण का भी त्याग करना चाहिए ।

अचौर्य महाव्रत की पांच भावनाएं :

शून्यागार निवास, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, एषणा—शुद्धि सहितत्व और सधर्माविसंवाद ये पाँच अचौर्य महाव्रत की भावनाएं हैं ।^३

१. दे० — चारित्त पाहुड, गा० टी०, ३२

२. दन्त—सोहणमाइस्स अदत्तस्स विवज्जणं ।

अणवज्जेसणिज्जस्स गेण्हणा अवि दुक्करं ।। उ० १६. २८

चित्तमन्तमचित्तं वा अप्पं वा जइ वा बहु ।

न गेण्हइ अदत्तं जे तं वयं बूम माहणं ।। वही, २५. २५

३. सुण्णायारनिवासो विमोचितावास जं परोधं च ।

एसणसुद्धिसउत्तं साहम्मी संविसंवाद ।। चारित्तपाहुड, गा० ३३

(1) शून्यागार निवास : वृक्षों की कोटर तथा पर्वतों की गुफा आदि निर्जन स्थानों में रहना शून्यागार निवास है ।

(2) विमोचितावास : जो गाँव राजाओं के आक्रमण आदि से उजड़ जाते हैं, वहाँ के निवासी उन्हें छोड़कर अन्यत्र चले जाते हैं । इस प्रकार के दूसरों के द्वारा छोड़े हुए स्थानों में रहना ही विमोचितावास है ।

(3) परोपरोधाकरण : दूसरों का उपरोध नहीं करना अर्थात् अपने स्थान में ठहरने से नहीं रोकना परोपरोधाकरण है ।

(4) एषणाशुद्धि सहितत्व : किसी उपकारण इत्यादि को लेकर सहधार्मियों के साथ विवाद न करना अर्थात् 'यह वस्तु हमारी है' अथवा 'यह तुम्हारी है' इस प्रकार परस्पर विवाद न करना सधर्माविसंवाद है ।^१

इनमें से प्रथम तीन भावनाओं के पालन से स्थान सम्बन्धी चोरी टल जाती है । चौथी भावना के पालन से भिक्षा सम्बन्धी दोष जिनकों भिक्षा की चोरी कहा जाता है, उनसे बचा जा सकता है और पाँचवी भावना से उपकरण सम्बन्धी चोरी का दोष नहीं आता है ।

चौथा महाव्रत-ब्रह्मचर्य :

मन—वचन—काय तथा कृत कारित—अनुमोदना से मनुष्य, तिर्यञ्च एवं देव शरीर सम्बन्धी सब प्रकार के मैथुन सेवन का त्याग करना, ब्रह्मचर्य महाव्रत है ।^२ भगवती आराधना में अब्रह्म के दस प्रकार बतलाए गए हैं —

(1) स्त्री सम्बन्धी विषयों की अभिलाषा, (2) लिङ्ग के विकार को न रोकना, (3) वीर्यवृद्धिकारक आहार और रस का सेवन करना, (4) स्त्री से संसक्त शय्या आदि का सेवन करना, (5) उनके गुप्तांग को देखना, (6) अनुराग—वश उनका सम्मान करना, (7) वस्त्र आदि से उन्हें सजाना, (8) अतीतकाल में की गई रति का स्मरण, (9) आगामी रति की अभिलाषा और (10) इष्ट विषयों का सेवन ।^३ इन दस प्रकार के अब्रह्म से बचने के लिए पूर्वोक्त दस प्रकार के समाधि स्थानों का पालन करना आवश्यक है ।

१. विस्तार के लिए दे० — त० वृ० ७. ६

२. दिव्य—माणुस—तेरिच्छं जो न सेवइ मेहुणं ।

मणसा काय वक्केणं तं वयं बूम माहणं ।। उ० २५. २६

३. इत्थिविसयाभिलासो वत्थिविमोक्खो य पणिदरससेवा ।

संसत्तदब्बसेवा तदिदियालोयणं चेव ।।

सक्कारो संकारो अदीदसुमरणमणागदभिलासे ।

इट्ठविसयसेवा वि य अब्भं दसविहं एदं ।। भग० आ०, गा० ८७३-७४

ब्रह्मचर्य महाव्रत की पाँच भावनाएं :

महिला आलोकनविरति, पूर्वरतिस्मरण विरति, संसक्तवसति—विरति, विकथाविरति और पुष्टिरससेवनविरति ये पाँच ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावनाएं हैं ।^१ इन पाँचों भावनाओं का ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों में ही अन्तर्भाव हो जाता है ।

पाँचवा महाव्रत-अपरिग्रह :

मूर्च्छा अर्थात् (दृढ़) आसक्ति ही परिग्रह है^२ धन—धान्य, दास—दासी आदि जितने भी निर्जीव एवं सजीवद्रव्य हैं, उन सब में कृत—कारित—अनुमोदना तथा मन—वचन—काय से मोहरहित होकर त्याग करना, उनमें दृढ़ आसक्ति का न होना अपरिग्रह महाव्रत है ।^३ अतः सर्वविरत साधु के लिए यह आवश्यक है कि वह भूख प्यास आदि शान्त करने के लिए भी खाद्य पदार्थों का संग्रह न करें । जो वस्त्र, पात्र एवं मयूरपिच्छिका आदि उपकरण संयम का पालन करने के लिए अपने पास रखे हैं, उनके प्रति भी ममत्व (मोह) नहीं होना चाहिए ।

अपरिग्रह महाव्रत की पाँच भावनाएं :

रागोत्पादक मनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध पर राग न करना तथा द्वेषोत्पादक अमनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध पर द्वेष न करना, ये ही अपरिग्रह महाव्रत की पाँच भावनाएं हैं ।^४ इन पाँच भावनाओं से तात्पर्य यही है कि मनोज्ञामनोज्ञ विषयों में समान भाव, समताभाव धारण करना चाहिए । इस तरह अपरिग्रह से अभिप्राय है— पूर्ण वीतरागता ।

उपर्युक्त पाँच महाव्रतों के वर्णन को ध्यान से देखने पर यह ज्ञात होता है कि इन सभी के मूल में अहिंसा की भावना है । अतः जैनधर्म में अहिंसा के पालन पर विशेष बल दिया गया है और उसे महाव्रतों में प्रथम स्थान दिया गया है ।

(उ) पंचविध आचारपालन समर्थ आचार्य :

आचार्य ज्ञानादि पाँच प्रकार के आचार का प्रत्येक स्थिति में पालन करने में समर्थ होते हैं । चाहे कैसी भी विकट परिस्थिति उत्पन्न क्यों न हो जाए, वे आचार—मर्यादाओं का सर्वात्मना पालन करते हैं क्योंकि आचार का

- महिलालोयणपुष्करइ सरणसंसत्तवसहि विकहाहि ।
पुदिठय रसेहि विरओ भावण पंचावि तुरियम्भि ।। चारित पाहुड, गा० ३४
- मूर्च्छा परिग्रहः । त० सू० ७. १२
- धण— धन्न — पेसवगोसु परिग्गहविवज्जणं ।
सव्वारम्भपरिच्चाओ निम्भत्तं सुदुक्करं ।। उ० १६. ३०
- अपरिग्गह समणुण्णोसु सदपरिसरसरूपगंधेसु ।
रायदोसाईणं परिहारो भावणा होंति ।। चारितपाहुड, गा० ३५

पालन करना अर्थात् धर्माचरण ही परम धर्म है — ‘आचारः परमो धर्मः ।’^१ ये पाँच आचार पालन किए जाते हैं^२ —

(१) ज्ञानाचार : वस्तु के यथार्थ स्वरूप को ग्रहण करने वाले ज्ञान में लगाना ज्ञानाचार है ।

(२) दर्शनाचार : तत्त्वश्रद्धानरूप परिणाम अर्थात् सम्यक्त्व की शुभ आराधना करना दर्शनाचार है ।

(३) चारित्राचार : ज्ञान एवं श्रद्धापूर्वक सावद्य योगों का त्याग करना ही चारित्राचार है ।

(४) तपाचार : इच्छानिरोधरूप अनशन आदि तप का सेवन करना तपाचार है ।

(५) वीर्याचार : अपनी शक्ति को न छिपाते हुए धर्म—कार्यों में यथाशक्ति मन—वचन एवं काया द्वारा प्रवृत्ति करना वीर्याचार है ।

(ऊ) पाँच समिति और त्रिगुप्ति सम्पन्न आचार्य :

‘सम्’ और ‘इति’ के मेल से समिति शब्द बनता है । सम् अर्थात् सम्यक् और ‘इति’ गति अथवा प्रवृत्ति का द्योतक है । इस प्रकार आगम में कहे हुए सम्यग् क्रम के अनुसार गमनादि करना समिति है ।^३ शास्त्रोक्त विधि से सावधानीपूर्वक क्रियाओं में प्रवृत्ति करने से प्रमादवश होने वाली हिंसा टल जाती है । साधु को जीवनयात्रा के लिए ईर्या, भाषा, एषणा, आदान—निक्षेपण एवं उत्सर्ग — ये पाँच आवश्यक क्रियाएं करनी पड़ती हैं । अतः ये पाँच ही समितियाँ कही गई हैं ।^४

ईर्यासमिति :

साधु प्रयोजनवश युगप्रमाण (चार हाथ) भूमि को देखकर, प्राणियों के संरक्षण में सावधान होता हुआ दिन में ऋजु एवं प्रासुक मार्ग से गमन करता है, वह ईर्या समिति है । प्रयोजन से यहाँ शास्त्रश्रवण, तीर्थयात्रा, गुरु—वन्दना और भिक्षा ग्रहण आदि अभिप्रेत हैं । प्रासुक का अर्थ है — जन्तुओं से रहित मार्ग । जिस मार्ग पर हाथी, घोड़ा व गाय आदि का आवागमन आरम्भ हो चुका

१. मनुस्मृति, १. १०८

२. तस्मिन्नवस्तुयाथात्यग्राहिज्ञाने परिणतिर्ज्ञानाचारः । तत्त्वश्रद्धानपरिणामो दर्शनाचारः । पापक्रियानिवृत्तिपरिणतिश्चारित्राचारः । अनशनादिक्रियासु वृत्तिस्तपाचारः । स्वशक्त्यनिगूहनरूपावृत्तिर्ज्ञानादौ वीर्याचारः । एतेषु पञ्चस्वाचारेषु ये वर्तन्ते परांश्च प्रवर्तयन्ति ते आचार्याः । भग० आ०, गा० टी०, ४५, पृ० ८६

३. सम्यक्श्रुतनिरूपितक्रमेणैतिर्गतिर्वृत्तिः समितिः । — धर्मा०, गा० टी०, ४. १६६

४. ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ।। — त० सू० ६. ५

हो, वह प्रासुक माना जाता है । इस प्रासुक मार्ग से भी दिन में पर्याप्त प्रकाश के हो जाने पर ही गमन करना अभिप्रेत है ।^१

(२) **भाषा समिति** : इसका सामान्य अर्थ है—सावधानीपूर्वक बोलना । पिशुनता, हास्य, कठोरता, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा और निकृष्ट स्त्रीकथा आदि रूप—वचन को छोड़कर ऐसा निर्दोष वचन बोलना, जो अपने लिए व अन्य जनों के लिए भी हितकर हो ।^२ इससे सत्य महाव्रत के पालन में सहायता मिलती है ।

(३) **एषणा समिति** : छयालीस दोषों^३ से रहित, बुभुक्षा आदि कारणों सहित मन—वचन—काय व कृत—कारित अनुमोदन रूप नौ कोटियों से विशुद्ध तथा शीत उष्ण आदि रूप होने पर राग—द्वेष रहित होकर जो भोजन आदि को ग्रहण किया जाता है, उसे एषणा समिति कहा गया है ।^४

(४) **आदाननिक्षेपण समिति** : ज्ञान के उपकरणभूत पुस्तक आदि, संयम के उपकरण रूप पीछी आदि और शौच के उपकरणभूत कमण्डलु तथा संस्तर आदि को भी प्रयत्न—पूर्वक ग्रहण करना व रखना, आदाननिक्षेपणसमिति कहलाती है ।^५

(५) **उत्सर्ग समिति** : उत्सर्ग समिति का अपरनाम प्रतिष्ठापना समिति भी है । जनसमुदाय के आवागमन से रहित एकान्तरूप,

१. पासुगमगेण दिवा अवलोगतो जुगप्पमाणं हि ।

गच्छइ पुरदो समणो इरियासमिदी हवे तस्स ।। — नियम०, गा० ६१ तथा दे०, मूला० वृ० १. ११

२. पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदप्पय्यसंसियं वयणं ।

परिचता सपरहिदं भासासमिदी वदंतस्स ।। — नियम० गा० ६२ तथा दे० — मूला० वृ० १. १२

३. भोजन के छयालीस दोष इस प्रकार हैं — **सोलह उद्गम दोष** — अधःकर्म महादोष है ।

औद्देशिक, अध्यधि, पूति, मिश्र, स्थापित, बलि, प्रावर्तित, प्रादुष्कार, क्रीत, प्रामृष्य, परिवर्तक, अभिघट, उदमिन्न, मालारोह, अच्छेद्य और अनिसृष्ट ये सोलह उद्गम दोष हैं । **सोलह उत्पादन दोष** — धात्री, दूत, निमित्त, आजीव, वनीपक, चिकित्सा, क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, पूर्व स्तुति, पश्चात् स्तुति, विद्या, मन्त्र, चूर्णयोग और मूलकर्म । **दश अशन दोष** — शंकित, प्रक्षित, निक्षिप्त, पिहित, संव्यवहरण, दायक, उन्मिश्र, अपरिणत, लिप्त और व्यक्त ।

उपर्युक्त आहार के ४२ दोषों में संयोजन, प्रमाण, अंगार और धूम दोष को मिलाकर ४६ दोष हो जाते हैं । तथा अधःकर्म नामक महादोष को अलग से गिन कर ४७ दोष हो जाते हैं । —विस्तार के लिए दे० मूलाचार, पिण्डशुद्धि—अधिकार

४. कदकारिदाणुमोदणरहिदं तहपासुगं पसत्थं च ।

दिण्णं परेणभतं समभुत्ती एसणासमिदी ।। नियम०, गा० ६३ तथा दे० मूला० वृ० १. १३

५. पोत्थइकमंडलाइं गहणविसगोसु पयतपरिणामो ।

आदावणणिकखेवणसमिदी होदि ति णिदिट्ठा ।। नियम०, गा० ६४, तथा दे०—मूला० वृ० १. १४

जन्तुरहित, दूसरों की दृष्टि के अगोचर, विस्तृत (बलि आदि से रहित) और जहाँ किसी को विरोध न हो, ऐसी विशुद्ध भूति में मल—मूत्र आदि का त्याग करना प्रतिष्ठापना समिति कहलाती है ।^१

गुप्तित्रय :

मन, वचन और काय सम्बन्धी सभी अशुभात्मक प्रवृत्तियों को रोकना गुप्ति है ।^२ तत्त्वार्थसूत्र में इसे योगों का भली—भांति निग्रह करना बतलाया है ।^३ कायिक, वाचिक और मानसिक क्रिया अर्थात् योग का सभी प्रकार से निग्रह करना मात्र गुप्ति नहीं है, बल्कि उनका प्रशस्त निग्रह करना ही गुप्ति है । प्रशस्तनिग्रह का अर्थ है — सोच समझकर तथा श्रद्धापूर्वक स्वीकार करना इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि बुद्धि और श्रद्धापूर्वक मन, वचन और काय को उन्मार्ग से रोकना और सन्मार्ग में लगाना ही प्रशस्त निग्रह है । योग के संक्षेप में उपर्युक्त तीन ही भेद हैं । अतः निग्रहरूपगुप्ति के भी तीन ही भेद किए गए हैं — मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति^४ ।

(१) मनोगुप्ति :

संरम्भ, समारम्भ एवं आरम्भ में प्रवृत्त हुए मन के व्यापार को रोकना मनोगुप्ति है ।^५ प्राणों के घात आदि में प्रमादयुक्त व्यक्ति जो प्रयत्न करता है वह संरम्भ है । साध्य हिंसा आदि क्रिया के साधनों को एकत्र करना समारम्भ है । हिंसा आदि के उपकरणों का संचय हो जाने पर हिंसा का आरम्भ करना आरम्भ है ।^६ अहिंसा के निर्दुष्ट पालन करने के लिए मन के इन तीनों व्यापारों को रोकना अत्यन्त आवश्यक है ।

मन के विचारों की प्रवृत्ति सत्य, मृषा, मिश्र (सत्यमृषा) और अनुभय (असत्यमृषा) इन चार विषयों में सम्भव होने से मनोगुप्ति के चार प्रकार बतलाए गए हैं^७ —

१. पासुगभूमिपदेसे गूढे रहिए परोपरोहेण ।
उच्चारदिच्चागो पड्ढासमिदी हवे तस्स ॥ वही, गा० ६५ तथा दे०— वही, वृ० १. १५
२. गुत्ती नियत्तणे वुत्ता असुभत्थेसु, सब्बसो । उ० २४. २६
३. सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः । त० सू० ६. ४
४. मणगुत्तो वयगुत्तो कायगुत्तो जिइन्दिओ ॥ उ० १२. ३
५. संरम्भ— समारम्भे आरम्भे य तहेव य ।
मणं पवत्तमाणं तु नियतेज्ज जयं जई ॥ उ० २४. २१
६. प्राणव्यपरोपणादौ प्रमादवतः संरम्भः ।
साध्यायाः हिंसादिक्रियायाः साधनानां समाहारः समारम्भः ।
संचितहिंसाद्व्यपकरणस्य आद्यः प्रक्रम आरम्भः । भग० आ०, गा० टी०, ८०५
७. सच्च तहेव मोसा य सच्चा मोसा तहेव य ।
चउत्थी असच्चमोसा मणुगुत्ती चउत्थिहा ॥ उ० २४. २०

(क) **सत्यमनोगुप्ति** : सदभूत पदार्थों में प्रवृत्तमान मन को रोकना सत्यमनोगुप्ति है ।

(ख) **मृषामनोगुप्ति** : मिथ्या अर्थात् असत्य व झूठे पदार्थों में प्रवृत्तमान मन को रोकना मृषा-मनोगुप्ति है ।

(ग) **सत्यमृषामनोगुप्ति** : सत्य एवं असत्य से मिश्रित मन के व्यापार को रोकना असत्य-मृषा-मनोगुप्ति है ।

(घ) **असत्यमृषामनोगुप्ति** : सत्य, असत्य एवं सत्यासत्य से रहित मन के व्यापार को रोकना ही असत्यमृषामनोगुप्ति है ।

मनोगुप्ति से जीव एकाग्रता को प्राप्त होता है । एकाग्रचित्त जीव अशुभ संयम का आराधक होता है ।^१

२- वचनगुप्ति :

संरम्भ, समारम्भ एवं आरम्भ में प्रवृत्त हुए वचन के व्यापार को रोकना वचनगुप्ति है ।^२ वचन के भी सत्य आदि चार प्रकार होने से मनोगुप्ति की तरह इसके भी क्रमशः चार भेद माने गए हैं । वे हैं— (१) सत्यवाग्गुप्ति, (२) मृषावाग्गुप्ति, (३) सत्यमृषावाग्गुप्ति और (४) असत्यमृषा-वाग्गुप्ति ।^३

वचनगुप्ति से जीव निर्विकार भाव को प्राप्त होता है । निर्विकारी जीव सर्वथा वाग्गुप्ति तथा अध्यात्मयोग के साधनभूत ध्यान से युक्त होता है ।^४

३- कायगुप्ति :

खड़े होने में, बैठने में, लेटने में, गर्त आदि के लांघने में, सामान्यतः चलने-फिरने में तथा इन्द्रियों का विषय के साथ संयोग करने आदि में जो शरीर की संरम्भ, समारम्भ एवं आरम्भ रूप प्रवृत्ति होती है, उसे रोकना कायगुप्ति है ।^५ कायगुप्ति से जीव संवर^६ को प्राप्त होता है । संवर से कायगुप्त होकर

१. मणगुत्तयाए ण जीवे एगग्गे जणयइ ।

एगग्गचित्ते णं जीवे मणुगुत्ते संजमाराहए भवइ । उ० २६. ५४

२. संरम्भ-समारम्भे आरम्भे य तहेव य ।

वयं पवत्तमाणं तु नियतेज्ज जयं जई ।। वही, २४. २३

३. सच्चा तहेव मोसा य सच्चा मोसा तहेव य ।

चउत्थी असच्चमोसा वइगुत्ती चउव्विहा ।। वही, २४. २२

४. वयगुत्तयाए णं निव्वियारं जणयइ ।

निव्वियारे णं जीवे वइगुत्ते अज्झप्पजोगज्झाणगुत्ते यावि भवइ । वही, २६. ५५

५. ठाणे निसीयणे चेव तहेव य तुयट्टणे ।

उल्लंघणे-पल्लंघणे इन्दियाण य जुंजणे ।।

संरम्भ-समारम्भे आरम्भे तहेव य ।

कायं प्रवत्तमाणं तु नियतेज्ज जयं जइ ।। उ० २४. २४-२५

६. आस्रवनिरोधः संवरः ।। त० सू० ६. १

आगे होने वाले पापाश्रव का भी निरोध करता है ।^१

इस प्रकार गुप्ति और समितियों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि गुप्ति में असत्क्रिया के निषेध की मुख्यता है और समिति में सत्क्रिया प्रवर्तन की मुख्यता है ।

इन पाँच समिति और तीन गुप्तियों को आठ प्रवचनमाताओं के नाम से भी जाना जाता है । 'प्रवचन' शब्द का अर्थ है — जिनदेव—प्रणीत सिद्धान्त और माता का अर्थ है — माता की तरह संरक्षक । जिनदेव—प्रणीत सिद्धान्त १२ अंग ग्रन्थों में समाविष्ट हैं जो कि हमारे जीवन की रक्षा करने वाले हैं अर्थात् भवसागर से पार लगाने वाले हैं । इन समितियों एवं गुप्तियों में वह जिनेन्द्र—कथित द्वादशांगरूप समग्र प्रवचन अर्न्तभूत है । अतः इन्हें प्रवचन माता कहना उचित ही जान पड़ता है ।^२ ये गुप्ति और समिति रूप आठ प्रवचन—माताएं महाव्रतों के रक्षण में सहायक हैं । अतः आचार्य उनको सदैव सावधानीपूर्वक धारण करते हैं ।

दिगम्बर परम्परा में मान्य आचार्य के छत्तीस गुण :

बोधपाहुड़ की टीका में आचार्य के निम्न छत्तीस गुण बतलाए गए हैं—

आचारवान्, श्रुताधारी, प्रायश्चित्तदाता, आसनादिद, आयापायकथी, दोषाभाषक, अस्रावक, संतोषकारी, दिगम्बर, अनुद्दिष्टभोजी, अशययाशनी, अराजभुक्, क्रियायुक्त, व्रतवान्, ज्येष्ठसद्गुण, प्रतिक्रमी, षण्मासयोगी, तद्विनिषद्यक, बारह प्रकार का तप और षडावश्यक ।^३

इन्हीं छत्तीस गुणों को आचार्यों ने चार भागों में विभाजित कर अध्ययन किया है । वे हैं — (अ) आचार विषयक आठ गुण, (आ) दस स्थितिकल्प, (इ) बारह तप, (उ) षडावश्यक ।

१. कायगुत्तयाए णं संवरं जणयइ ।
संवरेणं कायगुत्ते पुणो पावासवनिरोहं करेइ । उ० २६. ५६
२. अट्ठ पवयणमायाओ समिई गुत्ती तहेव य ।
पंचेव य समिईओ तओ गुत्तीओ आहिया ।।
इरियामासेसणादाणे उच्चारं समिई इय ।
मणगुत्तीवयगुत्ती कायगुत्ती य अट्ठमा ।।
एयाओ अट्ठ समिईओ समासेण वियाहिया ।
दुवालसंगं जिणक्खायं मायं जत्थ उ पवयणं ।। उ० २४. १-३
३. आचारवान् श्रुताधारः प्रायश्चित्तासनादिदः ।
आयापायकथीदोषाभाषको श्रावकोऽपि च ।।
सन्तोषकारी साधूनां निर्यापक इमेऽष्ट च ।
दिगम्बरवेष्यनुद्दिष्टभोजी शययाशनीति च ।।
अराजभुक् क्रियायुक्तो व्रतवान् ज्येष्ठसद्गुणः ।
प्रतिक्रमी च षण्मासयोगी तद्विनिषद्यकः ।।
द्दिःषट्पास्तथा षट् चावश्यकानि गुणा गुरोः ।। बोधपाहुड़, गा० टी० १-२ तथा
मिलाइये—भग० आ०, गा० ५२८

(अ) आचार विषयक आठ गुण :

उक्त छत्तीस गुणों में से प्रारम्भिक आठ गुण आचार्य के धर्माचरण से सम्बन्धित हैं यथा

(१) **आचारवान् आचार्य** : दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पाँच आचारों का आचार्य स्वयं पालन करते हैं तथा संघ के दूसरे साधु एवं साध्वियों को भी उनके पालन के लिए प्रेरित करते हैं ।

(२) **श्रुताधारी आचार्य** : जिसकी श्रुतज्ञानरूपी सम्पत्ति की कोई तुलना न कर सके उसे श्रुताधारी अथवा **श्रुतज्ञानी** कहते हैं । आचार्य चौदह पूर्व तक के श्रुतज्ञान को धारण करने वाले होते हैं ।

(३) **प्रायश्चित्तदाता आचार्य** : प्रायश्चित्त विषयक ज्ञान का धारक प्रायश्चित्तदाता कहलाता है । इस तरह जिसने अनेक बार प्रायश्चित्त को देते हुए देखा हो और जिसने स्वयं भी उसका अनेक बार प्रयोग किया हो, स्वयं प्रायश्चित्त ग्रहण किया हो अथवा दूसरे को दिलवाया हो, वह प्रायश्चित्त आचार्य है इन्हें **व्यवहारपटु** भी कहा गया है ।^१

(४) **आसनादिद आचार्य** : समाधिमरण में प्रवृत्त हुए तपस्वी साधुओं को जो आसन आदि देकर उनकी परिचर्या करता है, वह, आसनादिद आचार्य कहलाता है । उसे **परिचारी** अथवा **प्रकारी** आचार्य भी कहा जाता है ।^२

(५) **आयापायकथी आचार्य** : आलोचना करने के लिए उद्यत क्षपक साधु के गुण और दोषों को प्रकाशित करने वाला सन्त आयापायकथी आचार्य होता है । अभिप्राय यह है कि जो साधु किसी प्रकार का अतिचार न लगाकर सरल परिणामों से अपने दोषों की आलोचना करता है, ऐसे उसके गुण की जो प्रशंसा करता है और आलोचना में दोष^३ लगाने वाले के जो दोष बतलाता है, वह आय (= लाभ) और अपाय (= हानि) को बतलाने वाला **आयापायकथी** आचार्य होता है ।^४

१. व्यवहारपटुस्तद्वान् परिचारी प्रकारकः । धर्मा० ६. ७८

२. वही,

३. (१) आकम्पित, (२) अनुमापित, (३) यददृष्ट, (४) बादर, (५) सूक्ष्म, (६) छन्न, (७) शब्दाकुल, (८) बहुजन, (९) अव्यक्त और (१०) तत्सेवित । ये आलोचना के दस दोष हैं ।

— दंसणपाहुड, गा० टी० ६

४. दे० — भग० आ०, गा० ४६१-६३

(६) दोषाभाषक आचार्य : दोष छिपाने वाले शिष्य के दोष उगलवाने की सामर्थ्य रखने वाला आचार्य दोषाभाषक कहलाता है । जिस प्रकार चतुर चिकित्सक व्रण (घाव) के भीतर छिपे हुए विकार को पीड़ित कर बाहर निकाल देता है उसी प्रकार आचार्य भी शिष्य के छिपे हुए दोष को अपनी कुशलता के प्रकट करा लेता है । इसी कारण इसे उत्पीड़क आचार्य भी कहा जाता है ।^१

(७) अस्मावक आचार्य : जो आचार्य किसी के गोपनीय दोष को कभी प्रकट नहीं करता वह अस्मावक है । जिस प्रकार संतप्त तवे पर पड़ी जल की बूंद वहीं शुष्क हो जाती है उसी प्रकार शिष्य द्वारा कहे हुए दोष जिसमें शुष्क हो जाते हैं अर्थात् जो किसी दूसरे को नहीं बतलाते हैं, वे अस्मावक आचार्य हैं ।^२

(८) सन्तोषकारी आचार्य : जो साधुओं को सन्तोष उत्पन्न करने वाले होते हैं, क्षुधा-तृषा आदि की वेदना के समय साधुओं को हितकारी उपदेश देकर सन्तुष्ट करते हैं और प्रतिपल जो सुख व आनन्द देने वाले हैं, वे सन्तोषकारी आचार्य हैं । इन्हें ही सुखावह भी कहा जाता है ।^३

ये आचार्य के आचरण विषयक आठ गुण होते हैं ।^४

(आ) आचार्य के स्थितिकल्परूप दस गुण :

स्थितिकल्पों का आचार्य के आचार गुण से सम्बन्ध नहीं है । शास्त्रोक्त साधु समाचार को कल्प कहते हैं और उसमें स्थिति को कल्पस्थिति कहते हैं ।^५ ये स्थिति कल्प गुण सर्व साधारण होते हैं । दस स्थितिकल्प निम्न प्रकार हैं —

(९) दिगम्बर : जो आचेलक्य अथवा नग्न मुद्रा को धारण करने वाले होते हैं वे दिगम्बर हैं । इससे उनका अपरिग्रहत्व और निर्विकारता सिद्ध होती है ।^६

१०-अनुदिष्टभोजी : साधुओं के उद्देश्य से बनाए गए भोजन-पान को

१. वही, गा० ४८०-८२

२. वही, गा० ४८८

३. दे० - धर्मा० ६. ७७

४. विस्तार के लिए दे० - वही, गा० टी०, ६. ७८. ७९

५. दे० - वही, हिन्दी टीका, पृ० ६८४

६. विस्तार के लिए दे० - भग० आ०, गा० टी०, ४२३, पृ० ३२१-२७

७. वही, पृ० ३२७

जो ग्रहण नहीं करता, वह अनुदिष्टभोजी है ।^१

११-अशय्याशनी : शय्या से अभिप्राय है — वसति अर्थात् भवन आदि । उनको बनाने वाला, उनका संस्कार करने वाला तथा वहाँ पर व्यवस्था आदि करने वाला शय्याधर कहलाता है । जो ऐसे शय्याधर के अशन—भोजन—पान को ग्रहण नहीं करता, वह अशय्याशनी कहलाता है ।

शय्याधर का भोजनादि ग्रहण करने पर वह धर्मफल के लोभ से छिपाकर भी आहार आदि की व्यवस्था कर सकता है, साथ ही इससे मुनि का उस पर विशेष स्नेह भी हो सकता है कि यह हमें वसति के साथ—साथ भोजन भी देता है किन्तु उसका भोजन ग्रहण न करने पर उक्त दोष नहीं आते ।^२

१२- अराजभुक् : जो राजाओं के घर में भोजन ग्रहण नहीं करता अथवा जो राजपिण्ड का त्यागी है, वह अराजभुक् है । राजपिण्ड के ग्रहण करने में अनेक दोष आते हैं । जैसे —

(१) राजभवन में मन्त्री, श्रेष्ठी, कार्यवाहक आदि बराबर आते—जाते रहते हैं । अतः भिक्षा के लिए राजभवन में प्रविष्ट साधु को उनके आने—जाने से रुकावट हो सकती है ।

(२) हांथी—घोड़ों के आने जाने से वह भूमि शोधकर नहीं चल सकता ।

(३) नंगे साधु को देखकर और उसे अमंगल मानकर कोई बुरा व्यवहार कर सकता है ।

(४) राजकुल में चोरी आदि हो जाने पर साधु को भी दोषी ठहराया जा सकता है ।

(५) राजा से प्राप्त सुस्वादु भोजन के लोभ से अनेषणीय भोजन भी ग्रहण किया जा सकता है ।^३ इस कारण आचार्य अराजभुक् होते हैं ।

१३- क्रियायुक्त : जो कृतिकर्म से युक्त हो उसे क्रियायुक्त कहते हैं । षडावश्यक का पालन करना अथवा गुरुजनों का विनय करना कृतिकर्म कहलाता है ।^३

१४- व्रतवान् : जो व्रतधारण करने की योग्यता रखता हो उसे व्रतवान् कहते हैं । जो नग्न मुद्रा को धारण करने वाला हो, औदेशिक आदि दोषों को दूर करने वाला हो, गुरुभक्त हो तथा अत्यन्त विनम्र हो

१. भग० आ०, गा० टी०, ४३२, पृ० ३२७—२८

२. दे० — धर्मा०, गा० टी०, ६. ८०— ८१, पृ० ६८६—८७

३. कृतिकर्म— षडावश्यकानुष्ठानं गुरुणां विनयकरणं वा । वही, पृ० ६८७

वही साधु व्रतारोपण के योग्य माना गया है ।^१

१५- ज्येष्ठ सदगुण : जिनमें उत्कृष्ट सदगुणों का निवास हो उन्हें ज्येष्ठ—सदगुण कहते हैं । जो जाति और कुल की अपेक्षा महान् हों, जो वैभव, प्रताप और कीर्ति की अपेक्षा गृहस्थों में भी महान् रहे हों, जो ज्ञान और चर्या में उपाध्याय आदि से भी महान् हैं, वे ज्येष्ठता गुण से युक्त होते हैं ।

१६-प्रतिक्रमी : जो विधि पूर्वक दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमण करते—कराते हों, वे प्रतिक्रमी कहलाते हैं ।

१७- षण्मासयोगी : जो बसन्त आदि छह ऋतुओं में एक—एक मास तक एक स्थान पर योग साधना धारण करते हैं, अन्य समय विहार करते हैं, वे षण्मासयोगी कहलाते हैं । इसका दूसरा नाम मासिकवासिता भी है ।^२

१८-तद्द्विनिषद्यक : तद्द्विनिषद्यक का अभिप्राय है— वर्षा ऋतु के चार मास में एक स्थान पर चतुर्मास योग धारण करना । इसका दूसरा नाम 'पञ्जोसवणा' (पर्युषणाकल्प) भी है । इसका कारण है कि उस समय पृथ्वी स्थावर एवं जंगम जीवों से भरी होती है, जिससे भ्रमण करने में साधुओं को महान् असंयम होता है और कीचड़ आदि के कारण चलने में भी कठिनाई होती है । इसलिए जैन धर्म के सभी सम्प्रदायों में साधु—मुनियों को वर्षा ऋतु में चौमासा करने का विधान किया गया है । दूसरे साधु सन्तों के एक स्थान पर रहने से उतने दिनों तक श्रावक गण उनके पास बैठकर धर्म लाभ करते हैं, यही चौमासे का उद्देश्य है ।

इस तरह उपर्युक्त दश स्थितिकल्प हैं ।^३

(इ) १६-३० बारह प्रकार का तप :

आचार्य अनशन आदि बारह प्रकार का तप करते हैं । इन तपों का विशेष अध्ययन आगे किया जाएगा ।

(उ) ३१-३६ षडावश्यक :

जो रागद्वेषादि के वश में नहीं होता उसका नाम 'अवश' और उसके अनुष्ठान का नाम आवश्यक है । वे आवश्यक छह हैं — सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ।^४

१. आचेलकके य ठिदो उद्देसादीय परिहरदि दोसे ।

गुरुमत्तिमं विणीदो होदि वदाणं स अरिहो दु ।। धर्मा०, गा० टी०, ६.८०-८१, पृ० ६८७

२. मासैकवासिता स्थितिकल्पो योगश्च वार्षिको दशमः । वही, ६. ८१

३. विस्तार के लिए दे० — धर्मा०, गा० टी०, ६. ८०-८१

४. मूला० १. २२

(१) सामायिक : सामायिक का समानार्थक शब्द 'समता' है । जीवन—मरण, लाभ—अलाभ, संयोग—वियोग, मित्र—शत्रु और सुख—दुःख आदि में समभाव रखना ही सामायिक कहलाती है ।^१

(२) चतुर्विंशतिस्तव : भगवान् ऋषभनाथ से लेकर महावीर स्वामी पर्यन्त २४ तीर्थंकरों का नामोच्चारण, उनका गुणानुवाद, पूजन तथा मन—वचन—काय की शुद्धिपूर्वक जो उन्हें प्रणाम किया जाता है, उसे चतुर्विंशतिस्तव कहते हैं ।^२

(३) वन्दना : अरहन्त एवं सिद्ध तथा तप, श्रुत एवं ज्ञान आदि गुणों में जो श्रेष्ठ हैं उन्हें और विद्या एवं दीक्षागुरु, इन सभी का कायोत्सर्गपूर्वक अथवा इनकी भक्तिपूर्वक जो प्रणाम किया जाता है, वह वन्दना कहलाती है ।^३

(४) प्रतिक्रमण : आहार आदि द्रव्य, शयनासन आदि क्षेत्र पूर्वाह्न—अपराह्न आदि काल और मन की प्रवृत्तिरूप भाव, इनके विषय में जो अपराध किया गया है उसके प्रति निन्दा^४ व गर्हापूर्वक^५ मन—वचन—काय से प्रतिक्रिया अभिव्यक्त कर शुद्ध करने का नाम प्रतिक्रमण है ।^६

सामायिक और प्रतिक्रमण :

सावद्ययोग से निवृत्ति सामायिक है और अशुभ मन, वचन, काय से निवृत्ति प्रतिक्रमण है ।^७ यही इन दोनों में विशेष भिन्नता है ।

५. प्रत्याख्यान : तीनों कालों के आश्रित नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इन छः से सम्बद्ध जो सेवन के योग्य न हो उसका मन—वचन—काय व कृत—कारित—अनुमोदन इन नौ प्रकारों से परित्याग करना, प्रत्याख्यान कहलाता है ।^८

प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान :

मूलाधारवृत्ति में कहा गया है कि जो अतीतकाल में उत्पन्न दोषों का

१. वही, २३

२. मूला० १. २४

३. वही, १. २५

४. स्वयं के द्वारा दोषों को अभिव्यक्त किया जाना निन्दा है ।

५. गुरु अथवा आचार्य के सामने अपने दोषों का प्रकट किया जाना गर्हा है ।

६. मूला०, वृ० १. २६

७. सावद्ययोगनिवृत्तिः सामायिकं । प्रतिक्रमणमपि अशुभमनोवाक्कायानिवृत्तिरेव । भग० आ०, गा० टी०, ११८, पृ० १५६

८. मूला० १. २७

प्रतिकार करना है वह **प्रतिक्रमण** कहलाता है, तथा जो आगे भविष्यत् और वर्तमान में उत्पन्न होने वाले द्रव्यादिविषयक दोषों का परिहार किया जाना है, वह **प्रत्याख्यान** कहलाता है। इसके अतिरिक्त प्रत्याख्यान में निर्दोष द्रव्य आदि का भी त्याग किया जाता है, यही दोनों में विशेष अन्तर है।^१

६. **कायोत्सर्ग** : दैवसिक और रात्रिक आदि नियमों में आगमविहित काल प्रमाण से जिनेन्द्र के गुणों के चिन्तन से सहित होते हुए शरीर के प्रति जो ममत्व का त्याग किया जाता है उसे कायोत्सर्ग या व्युत्सर्ग कहते हैं।^२

आचार्य उपर्युक्त षडावश्यक का स्वयं भी पालन करते हैं एवं अन्य साधुओं से भी पालन कराते हैं।

(घ) **आचार्य-पद-प्रतिष्ठा** :

आचार्य—धर्म—संघ का केन्द्र बिन्दु होता है। संघ की सम्पूर्ण व्यवस्था आचार्य द्वारा ही की जाती है। संघ का समुचित विकास आचार्य पर ही निर्भर करता है। अतः इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण पद के लिए किसी योग्य व्यक्ति का होना नितान्त आवश्यक है। जैन परम्परा में आचार्य पद की प्राप्ति के लिए एक निश्चित मानदण्ड का निर्धारण किया गया है।

जिसको श्रमण दीक्षा लिए पाँच वर्ष हो गए हैं, जो शुद्ध आचरण में तत्पर है, प्रवचन में प्रवीण है, नवदीक्षित हित सम्पादन (संग्रह) और आज्ञाधीन अणगारों पर उपकार करने (अपग्रह) में कुशल है। जो परिपूर्ण (अक्षत), अखण्डित (अभिन्न) तथा शबल दोषों^३ से रहित (अशबल) चारित्र वाला है और जो असंक्लिष्ट चित्तवाला, बहुश्रुत एवं बहुआगमज्ञ है, कम से कम जो दशश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहारकल्प का ज्ञाता है, वह आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने के योग्य है।^४

आगे यहाँ ही बतलाया गया है कि जो आठ वर्ष की दीक्षा वाला श्रमण है, वह यदि उपर्युक्त गुणों के साथ-साथ कल्प के स्थान पर **स्थानांग** एवं

१. वही, वृ० १. २७

२. वही, १. २८.

३. शबल दोष इक्कीस है। दे०—समवाओ, २१.१

४. पंचवास परियाए समणे णिगंग्थे—

आयारकुसले, संजमकुसले, पवयणकुसले,
पण्णत्तिकुसले, संग्गहकुसले, उवग्गहकुसले,
अक्खयायारे, अभिन्नायारे, असबलायारे,
असंक्किलिट्ठायारचित्ते, बहुस्सुए, बव्यागमे जहण्णेणं

दस—कप्प—ववहारधरे कप्पइ आयरिय—उवज्झायत्ताए उदिसित्तए। व्यवहारसूत्र, ३.५

समवायांग का ज्ञाता है तो वह भी आचार्य पद के योग्य है अथवा उसे उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणी और गणावच्छेदक बनाया जा सकता है ।¹

परन्तु उपर्युक्त नियमों में अपवाद भी देखा जाता है । निरुद्ध पर्याय वाले अर्थात् किसी विशेष कारणवश संयम से भ्रष्ट हुए और पुनः संयम धारण करने वाले एक ही दिन की दीक्षापर्याय वाले साधु को भी आचार्य अथवा उपाध्याय पद पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है कारण कि उसने गणरूप में रहने वाले कुलों को हितसम्पादन से उपकृत, विनय आदि से प्रीतियुक्त, सरलता से विश्वस्त, वैयावृत्य आदि से स्थिर, इष्ट प्रयोजनार्थ सम्मत, दान आदि के लिए प्रमुदित, गणहित के सम्पादन से अनुमत और बाल—वृद्ध—ग्लान के लिए अत्यधिक इष्ट होने से बहुमत किया है ।²

निरुद्ध वर्ष पर्याय वाला श्रमण यदि आचार प्रकल्प (निशीथ सूत्र) का एक देश (एक विभाग) पढ़ चुका हो और शेष आचार प्रकल्प को पढ़ने का संकल्प रखता हो तो उसे भी आचार्य या उपाध्याय पद दिया जा सकता है³ ।

आचार्य आदि के चयन अथवा प्रदान करने के लिए स्थविरों की सम्मति लेना अनिवार्य है क्योंकि वे दीर्घदर्शी होते हैं एवं उनका ज्ञान तथा उनके अनुभव परिपक्व ही नहीं होते बल्कि सर्वाधिक महत्त्व रखते हैं ।

यदि स्थविर अमुक के लिए अमुक पद की अनुज्ञा प्रदान करते हैं, तो उस साधु के लिए गणधारण करना उचित होता है । यदि इसमें स्थविरों की अनुज्ञा—नहीं मिलती है, तब उसे गण धारण नहीं करना चाहिए । यदि कोई उसकी अनुज्ञा प्राप्त किए बिना ही गणधारण करना है तब वह उतने ही दिन की दीक्षा का छेद या परिहारतपरूप प्रायश्चित्त का पात्र होता है ।⁴

यहाँ यह भी बतलाया गया है कि तीस वर्ष की श्रमण—पर्याय वाली निर्ग्रन्थी के लिए तीन वर्ष की श्रमण—पर्याय वाले निर्ग्रन्थ को उपाध्याय पद पर⁵ तथा साठ वर्ष की दीक्षा—पर्याय वाली निर्ग्रन्थी के लिए पाँच वर्ष की

१. वही, ३.७

२. दे० व्यवहार सूत्र, ३.६

३. निरुद्धवासपरियाए समणे णिगंग्थे कप्पह आयरिय
उवज्झायत्ताए उद्दिसित्ताए समुच्छेयकप्पसि ।
तस्स णं आयार—पकप्पस देसे अबदिठए,
से य 'अहिज्जिस्सामि' ति अहिज्जेज्जा,
एवं से कप्पइ आयरिय—उवज्झायत्ताए उद्दिसित्ताए ॥ वही, ३.१०

४. दे० वही, ३.२

५. तिवासपरियाए समणे निगंग्थे
तीसं वासपरियाए समणीए निगंग्थीए
कप्पइ उवज्झाएत्ताए उद्दिसित्ताए ॥ व्यवहार सूत्र ७.१६

श्रमण—पर्याय वाले निर्ग्रन्थ को उपाध्याय अथवा आचार्य दोनों ही पदों पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है ।^१

तात्पर्य यह है कि यदि अधिक दीक्षा—पर्याय वाली साध्वियों के आचार्य अथवा उपाध्याय यदि दिवंगत हो जाएं तो उन्हें यह नहीं सोचना चाहिए कि हम अधिक दीक्षा पर्यायवाली है । अतः हमारे से कम दीक्षापर्याय वाले साधु के अनुशासन में हम क्यों रहें? कारण कि उनके लिए आचार्य अथवा उपाध्याय के बिना रहना नियमविरुद्ध है ।^२ इसी प्रकार का विधान साधुओं के लिए भी है ।^३ अतः उन्हें अपने से कम दीक्षापर्याय वाले श्रमण को भी आचार्य अथवा उपाध्याय के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए, यदि वह उक्त योग्यता रखता हो ।

(ड) द्विविध आचार्य :

आगम में आचार्यों के भी भेद पाए जाते हैं कहीं तीन तो कहीं चार भेद किए गए हैं स्थानांगसूत्र में ये ही आचार्य दो प्रकार से बतलाकर चार तरह के स्वीकार किए गए हैं वे हैं—

- (क) १. कोई प्रव्राजनाचार्य होते हैं, पर वे उपस्थापनाचार्य नहीं होते ।
 २. कोई उपस्थापनाचार्य होते हैं, तो प्रव्राजनाचार्य नहीं होते ।
 ३. कोई प्रव्राजनाचार्य भी होते हैं और उपस्थापनाचार्य भी होते हैं ।
 ४. कोई न प्रव्राजनाचार्य ही होते हैं और न उपस्थापनाचार्य ही होते हैं ।^४

- (ख) १. कोई उद्देशनाचार्य होते हैं, पर वाचनाचार्य नहीं होते ।
 २. कोई वाचनाचार्य होते हैं, पर उद्देशनाचार्य नहीं होते ।
 ३. कोई उद्देशनाचार्य भी होते हैं और वाचनाचार्य भी होते हैं ।
 ४. कोई न उद्देशनाचार्य ही होते हैं और न वाचनाचार्य ही होते हैं ।

१. पंचवासपरियाए समणे निग्गंथे
 सट्ठिवासपरियाए समणीए निग्गंथीए
 कप्पइ आयरिय—उवज्झायत्ताए उद्दिसित्ताए । वही, ७.२०

२. वही, ३.१२

३. वही, ३.११

४. ठाण, ४.२२

जो केवल प्रव्रज्जा देता है, वह प्रव्राजनाचार्य होता है और जो केवल उपस्थापना (महाव्रतों में आरोपित करना) करता है, वह उपस्थापना आचार्य होता है। कुछ प्रव्रज्जा एवं उपस्थापना रूप दोनों ही प्रकार का कार्य करते हैं और कुछ दोनों ही प्रकार का कार्य नहीं भी करते हैं।

इसी प्रकार जो केवल उद्देशन (पढ़ने का आदेश) देता है, वह उद्देशनाचार्य होता है और जो केवल वाचना देता है, वह वाचनाचार्य होता है। कुछ उद्देशन एवं वाचना रूप दोनों ही प्रकार का कार्य करते हैं तथा कुछ ऐसे भी होते हैं जो दोनों ही प्रकार का कार्य नहीं भी करते हैं।

यह आवश्यक नहीं कि ये सब अलग-अलग व्यक्ति ही हों। व्यवहारभाष्य में बतलाया गया है कि आचार्य तीन प्रकार के होते हैं—(१) धर्माचार्य, (२) प्रव्रजनाचार्य और (३) उपस्थापनाचार्य। एक ही व्यक्ति धर्माचार्य, प्रव्रजनाचार्य और उपस्थापनाचार्य भी हो सकता है।^१ इसी प्रकार एक ही व्यक्ति धर्माचार्य, उद्देशनाचार्य और वाचनाचार्य भी हो सकता है।

(च) आचार्य सम्पदा-अष्टविध :

गृहस्थ के पास धन-धान्य आदि द्रव्य-सम्पत् होती है जिससे वह शोभा पाता है, किन्तु उसकी यह द्रव्य सम्पत् चिरस्थायी नहीं, वह समय आने पर नष्ट हो जाती है परन्तु एक सम्पत्ति ऐसी भी है जो कभी नष्ट नहीं होती और वह है भाव-सम्पत्। भाव-सम्पत् सदैव आत्मा के साथ रहती है, वह आत्मा के समान ही अनश्वर है। अतः एव आचार्य इसी भाव-सम्पत् से हमेशा सुशोभित होते रहते हैं।

आचार्य की यह भाव-सम्पत् भी आठ प्रकार की बतलायी गई है। इसे गणिसम्पदा भी कहते हैं जो इस प्रकार है^३—

(१) आचार-सम्पदा	—संयम की समृद्धि
(२) श्रुत-सम्पदा	—श्रुत की समृद्धि
(३) शरीर-सम्पदा	—शरीर-सौन्दर्य

१. धम्मयारि पव्वायण, तहय उठावणा गुरु तइओ।

कोइ तिहि संपन्नो, दोहि वि एक्केक्कएण वा।।

व्यवहारभाष्य, १०.४१

२. अट्ठविहा गणिसम्पया पण्णत्ता, तं जहा—

आयारसंपया, सुयसंपया, सरीरसंपया, वयणसंपया,

वायणा संपया, मइ संपया, प्रयोग संपया,

संगाहपरिणावा अट्ठमा। ठाणं, ८.१५ तथा दशा० ४.२

(४) वचन—सम्पदा	—वचन—कौशल
(५) वाचना—सम्पदा	—अध्यापन—पटुता
(६) मति—सम्पदा	—बुद्धि—कौशल
(७) प्रयोग—सम्पदा	—वाद—कौशल
(८) संग्रह—परिज्ञा	—संघ—व्यवस्था में निपुणता ।

१. आचारसम्पदा :

पूर्वोक्त ज्ञान आदि पाँच आचारों का पालन करना आचार सम्पदा है । यह भी चतुर्विध स्वीकार की गई है^१—

(क) संयमध्रुवयोगयुक्तता :

अपने ग्रहण किए हुए संयम के भावों में योगों को सदैव स्थिर रखना अथवा चारित्र में सदा समाधियुक्त होना संयम ध्रुवयोगयुक्तता आचार—सम्पत् है ।

(ख) असंप्रगृहीतात्मा :

जिसकी आत्मा असंप्रगृहीत अर्थात् अहंकाररहित है, वह असंप्रगृहीतात्मा आचार सम्पत् से सम्पन्न होते हैं ।

(ग) अनियतवृत्तिता :

अनियतवृत्तिता का अर्थ है—निरन्तर विहार करना । आचार्य एक स्थान पर अधिक समय न रहते हुए देश—प्रदेश में परोपकार की दृष्टि से अप्रतिबद्ध होकर विचरण करते हैं । इसीलिए आचार्य अनियतवृत्तितासम्पत् से युक्त होते हैं ।

(घ) वृद्धशीलता :

जो वृद्ध हैं—दीक्षा में बड़े हैं, उनके समान शील, संयम, नियम, चारित्र आदि वाला होना तथा विकाररहित स्वभाव धारण करना, यही आचार्य की वृद्धशीलता सम्पत् है ।

२. श्रुतसम्पदा :

शास्त्रों के अर्थ का ज्ञान होना आचार्य की श्रुत—सम्पदा है । यह भी चार प्रकार की होती है ।^२

१. आयारसंपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. संजम—ध्रुव—जोगजुत्तयावि भवइ, २. असंपगगहियअप्पया, ३. अणियतवित्तिया,

४. बुद्ध—शीलयावि भवइ । से तं आयारसंपया । दशा० ४.३

२. सुयसंपया चउव्विहा पण्णत्तं तं जहा—

बहुस्सुययावि भवइ, परिचियसुययावि भवइ, विचित्तसुययावि भवइ,

घोसविसुद्धिकारययावि भवइ । से तं सुयसंपया । दशा० ४.४

(क) बहुश्रुतता :

जिस काल में जितने भी शास्त्र उपलब्ध हो, उन सबको हेतु और दृष्टान्त से जानने वाला होना बहुश्रुतता सम्पत् है।

(ख) परिचितश्रुतता :

शास्त्रीय ज्ञान की बार-बार आवृत्ति करके, अस्खलित रूप से शास्त्रों का परिचित होना अर्थात् शास्त्रों का सदैव स्मृतिपटल पर रहना परिचितश्रुतता है।

(ग) विचित्रश्रुतता :

स्व और पर दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों में निपुणता का होना विचित्रश्रुतता है। व्यवहारभाष्यकार ने इसके अतिवृत्ति विचित्रश्रुतता का अर्थ उत्सर्ग और अपवाद^१ को जानना भी किया है।^२

(घ) घोषविशुद्धिकारकता :

आचार्य शास्त्रों का उदात्त, अनुदात्त और स्वरित—इन तीन घोषों से युक्त शुद्ध उच्चारण करने वाला होता है। यही उसकी घोषविशुद्धि—कारकता है।

(३) शरीर सम्पदा :

सुन्दर आकृति, सुदृढ़ संस्थान तथा तेजस्वी शरीर का धारक होना शरीर—सम्पदा है। यह चार प्रकार की बतलायी गई है^३

(क) आरोहपरिणाहसम्पन्नता :

आरोह लम्बाई को कहते हैं और परिणाह का अर्थ है—चौड़ाई। इस प्रकार आचार्य के शरीर का उचित लम्बाई और चौड़ाई वाला होना ही उनकी आरोहपरिणाह सम्पत् से सम्पन्न होना है।

(ख) अनवत्राप्यशरीरता :

आचार्य के शरीर का अंगहीन, घृणाजनक और हास्यकारक न होना अनवत्राप्यशरीरता है।

(ग) स्थिरसंहननता :

संहनन से अभिप्राय है—दृढ़ता। आचार्य का शरीर इतना सुदृढ़ एवं

१. सामान्य नियम को उत्सर्ग कहते हैं जैसे हिंसा न करना, परन्तु मूल नियम की रक्षा हेतु आपत्ति आने पर अन्य मार्ग ग्रहण करना अपवाद है जैसे साधु का नदी पार करना आदि। जैन सिद्धान्त बाल संग्रह भाग-१, बोल नं० ४०

२. ससमयपरसमर्पिणि य उत्सर्गोववायतो चित्तं। व्यवहारभाष्य, १०. २६१

३. शरीरसंपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—आरोह—परिणाहसम्पन्नयावि भवइ, अणोत्तप्पशरीरया, थिरसंघयणया, बहुपडिपुणिंदिययावि भवइ। से तं सरीसंपया। दशा० ४.३

स्थिर होता है कि वह तप, संयम, विहार एवं उपकार इत्यादि कार्यों में नहीं थकता है। यही उनकी स्थिर संहननता सम्पत् है।

(घ) बहुप्रतिपूर्णेन्द्रियता :

आचार्य का पाँचों इन्द्रियों से पूर्ण एवं स्वस्थ होना ही बहु-प्रतिपूर्णेन्द्रियता है। पूर्ण इन्द्रियों वाला ही परमार्थ का साधक हो सकता है।

४. वचनसम्पदा :

वचन—कौशल ही वचनसम्पदा है। यह भी चार प्रकार की बतलाई गई है।^१—

(क) आदेयवचनता :

जिसके वचन को श्रद्धायुक्त होने से सभी (वादी, प्रतिवादी) ग्रहण करते हों वह आदेयवचन कहा जाता है। आचार्य प्रशस्त वक्ता होने से उनके वचन सभी के द्वारा ग्रहण किए जाते हैं, यही उनकी आदेयवचनतासम्पत् है।

(ख) मधुरवचनता :

आचार्य के वचनों में किसी प्रकार की कटुता, तुच्छता आदि नहीं होती। वे गम्भीरता एवं मधुरता से युक्त वाणी बोलते हैं जिससे सभी को प्रसन्नता मिलती है।

(ग) अनिश्रितवचनता :

आचार्य के वचन समभाव एवं माध्यस्थ्य भाव से युक्त होते हैं। व्यवहारभाष्य में इसके दो अर्थ किए गए हैं—(१) जो वचन क्रोधादि से उत्पन्न न हों और (२) जो वचन रागद्वेष युक्त न हों।^२ इस प्रकार के गुण वाला होना ही अनिश्रितवचनता है।

(घ) असंदिग्धवचनता :

आचार्य के वचन संदेहरहित होते हैं। व्यवहारभाष्य में सन्दिग्ध वचन के तीन अर्थ किए गए हैं—(१) अव्यक्तवचन, (२) अस्पष्ट अर्थ वाला वचन और (३) अनेक अर्थोंवाला वचन।^३ आचार्य के वचन इन सभी दोषों से रहित होते हैं। यही उनकी असंदिग्धवचनता है।

१. — वयनसंपया चउविहा पण्णत्ता, तं जहा— आदेयवयणयावि भवइ, मधुरवयणयावि भवइ,

अणिस्सवयणयावि भवइ, असंदिद्धवयणयावि भवइ। से तं वयणसंपया। दशा० ४.४

२. निस्सिय कोहाईहिं अहवावीरागदोसेहिं। व्यवहारभाष्य १०.२६८

३. अव्वत्तं अफुडत्थं अत्थ बहुत्ता व होति संदिद्धं। वही, १०.२६६

५. वाचना सम्पदा :

शास्त्रों की वाचना देने की कुशलता अर्थात् अध्यापन—कौशल ही वाचना सम्पदा है। यही भी चार प्रकार की है ^१—

(क) विदित्वोद्देशन :

उद्देशन से अभिप्राय है—पढ़ने का आदेश देना। आचार्य शिष्य की योग्यता को देखकर ही किसी शास्त्र के पढ़ने का आदेश देता है।

(ख) विदित्वा वाचना :

आचार्य शिष्य की योग्यता को देखकर ही वाचना देते हैं। बिना समझा और अरुचिकर ज्ञान लाभप्रद नहीं होता है, ऐसा समझकर आचार्य आगे उसी शिष्य को वाचना देते हैं जिसने पहले दी गई वाचना को ठीक से समझ लिया है।

(ग) परिनिर्वाप्य वाचना :

परि का अर्थ है—सर्वप्रकार से और निर्वाप्य का अर्थ है—सन्देहरहित। आचार्य पहले दी गई वाचना को सर्वप्रकार से सन्देहरहित जानकर एवं पूर्णतः हृदयंगम कराकर ही आगे की वाचना देते हैं।

(घ) अर्थनिर्यापकता :

आचार्य शिष्य को अर्थवाचना इस प्रकार देते हैं कि शब्द थोड़े होने पर भी अर्थ गम्भीर एवं व्यापक हों। यह आचार्य का अर्थनिर्यापकता नामक गुण है।

६. मति सम्पदा :

मति सम्पदा से अभिप्राय है—आचार्य की बुद्धि का तीक्ष्ण, प्रखर और तत्कालग्रहणशील होना। यह भी चार प्रकार की बतलायी गई है^२

(क) अवग्रहमतिसम्पदा :

देखी, सुनी, सूंघी, चखी और स्पर्श की हुई वस्तु के गुणों को सामान्य रूप से ग्रहण कर लेना अवग्रहमति सम्पदा है।

(ख) ईहामतिसम्पदा :

ईहा से अभिप्राय है—निश्चय विशेष की जिज्ञासा अथवा सामान्य रूप से ग्रहण की हुई वस्तु के विषय में पुनः तर्क—वितर्क उत्पन्न करना। जैसे

१. वायणासंपया चउब्बिहा पण्णत्ता, तं जहा— १-विइय उद्दिसइ,

२.विइय वाएइ, ३. परिनिब्बाविय वाएइ, ४. अत्थनिज्जावययावि भवइ।

से तं वायणासंपया। दशा० ४.५

२. मइसंपया चउब्बिहा पण्णत्ता, तं जहा— १.उग्गहमइसंपया, २. ईहमइसंपया ३. अवायमइसंपया, ४. धारणामइसंपया। दशा० ४.६

अत्यन्त गहन अन्धकार में स्पर्शन इन्द्रिय से स्पर्श सामान्य का ज्ञान होने पर भी 'यह स्पर्श कैसा है ?— 'किसका है' ? इस प्रकार की जिज्ञासा होना ही ईहामति सम्पदा है ।

(ग) अवायमतिसम्पदा :

सामान्य ज्ञान के अनन्तर उस पदार्थ के गुण और दोष की विचारणा कर उसके निश्चय का निर्धारण करना ही अवायमति सम्पदा है । अभिप्राय यह है कि ईहा से ग्रहण की हुई वस्तु के विषय में तत्काल एक निर्णय पर आ जाना जैसे यह सौंप का स्पर्श है अथवा कमलनाल का ? ऐसी विचारणा में शीतलता आदि गुणों के कारण यह 'कमलनाल का ही स्पर्श है' इस प्रकार तुरन्त निश्चय कर लेना ही अवायमतिसम्पदा है ।

(घ) धारणामतिसम्पदा :

निश्चित किए हुए वस्तु बोध के पश्चात् उसे ऐसी दृढ़ता के साथ धारण करना कि दीर्घकाल तक उसका विस्मरण न हो तथा समयानुसार उसका तत्काल स्मरण हो जाए, यह धारणामति सम्पदा है ।

इस प्रकार उक्त चार प्रकार की मतिसम्पदा से आचार्य को उत्तरोत्तर विशिष्ट बोध—लाभ होता है ।

७. प्रयोगसम्पदा :

प्रयोग से अभिप्राय है आत्म—सामर्थ्य अथवा कुशलता । द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को जानकर वाद आदि के करने वाली सम्पदा ही प्रयोग—सम्पदा है । यह भी चार प्रकार की बतलायी गई है^१

(क) आत्मशक्तिज्ञान पूर्वकवादप्रयोग :

मेरी वाद—विवाद की कितनी शक्ति है, मैं अमुक विषय में वाद—विवाद करने पर जीत सकता हूँ अथवा नहीं ? इस प्रकार जानकर वाद का प्रयोग करना आत्मशक्तिज्ञानपूर्वक वाद प्रयोग है ।

(ख) परिषद्ज्ञानपूर्वकवादप्रयोग :

यह परिषद् जानकार है, अजानकार है अथवा दुर्विदग्ध है, तथा यह सभा बौद्ध है, सांख्य है अथवा चार्वाक—मतानुयायी है, ऐसा जानकर वाद करना, यह परिषद् ज्ञानपूर्वक वादप्रयोग है ।

(ग) क्षेत्रज्ञानपूर्वकवाद प्रयोग :

इस क्षेत्र में आर्य लोग रहते हैं या अनार्य लोग ? अथवा इस क्षेत्र में रहने

१. पओगसंपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—१.आर्य विदाय वार्य पउंजित्ता भवइ, २. परिसं विदाय वार्य पउंजित्ता भवइ, ३. खेतं विदाय वार्य पउंजित्ता भवइ, ४.वत्थु विदाय वार्य पउंजित्ता भवइ । से तं पओगसंपया । दशा० ४.७

वाले मनुष्य सुलभबोधि हैं या दुर्लभबोधि? ऐसा जानकर वाद का प्रयोग करना क्षेत्रज्ञानपूर्वक वादप्रयोग है।

(घ) वस्तुज्ञानपूर्वक

वाद का विषय सरल है या कठिन है, इस प्रकार जानकर वाद का प्रयोग करना वस्तुज्ञान पूर्वक वाद प्रयोग कहलाता है। वस्तु हेय, उपादेश और उपेक्षणीय के भेद से तीन प्रकार की बतलायी गई है। क्रोध आदि हेय है, क्षान्ति आदि उपादेश है और परदोष आदि उपेक्षणीय है ऐसा जानकर वाद का प्रयोग करना भी वस्तुज्ञान पूर्वक वाद प्रयोग है।

८. संग्रह परिज्ञा सम्पदा :

संग्रह से अभिप्राय है—एकत्रित करना। यह दो प्रकार से होता है—द्रव्य से और भाव से। आवश्यक एवं कल्पनीय वस्त्र, पात्र आदि का एकत्रीकरण द्रव्यतः संग्रह है, और अनेक शास्त्र तथा आप्तजनों से पदार्थ के एकत्रीकरण को भावतः संग्रह कहा जाता है। इनमें विचक्षणता को परिज्ञा कहते हैं। यही आचार्य की आठवीं सम्पदा है। यह भी चार प्रकार की बतलाई गई है^१

(क) वर्षावासयोग्य क्षेत्र-प्रतिलेखना :

वर्षावास में निवास के लिए साधु—साध्वियों के योग्य ग्राम अथवा नगर आदि की शास्त्रमर्यादानुसार गवेषणा करना वर्षावासयोग्य क्षेत्र प्रतिलेखना है। व्यवहारभाष्य में इसी आशय को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि आचार्य को वर्षा ऋतु के लिए ऐसे क्षेत्र का निर्वाचन करना चाहिए जो समूचे संघ के लिए उपयुक्त हो।^२

(ख) बहुजनार्थ प्रातिहारिक पीठफलकादि ग्रहण

स्थानीय तथा बाहर बहुत से साधुवर्ग के लिए प्रातिहारिक पीठ, फलक, शय्या तथा संस्तारक आदि की व्यवस्था करना बहुजनार्थ प्रातिहारिक पीठादि ग्रहण सम्पत् कही जाती है। व्यवहारभाष्य में भी आता है कि 'वर्षाकाल में मुनि अन्यत्र विहार नहीं करते तथा उस समय वस्त्र आदि भी नहीं लेते। वर्षाकाल में पीठ—फलक के बिना वस्त्र, संस्तारक आदि मैले हो जाते हैं तथा भूमि की शीतलता से कुन्थु आदि जीवों की उत्पत्ति भी हो जाती है। इसलिए आचार्य साधुवर्ग के लिए वर्षाकालीन निवास के लिए पीठ—फलक आदि की समुचित व्यवस्था करते हैं।'^३

१. संग्रहपरिन्नानामं संपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—१. बहुजनपाउग्गयाए वासावासेसु खेतं पडिलेहिता भवइ, २. बहुजनपाउग्गयाए पाडिहारिय—पीठफलग—सेज्जा—संथारयं उग्गिण्हिता भवइ, ३. कालेण कालं संमाणइत्ता भवइ, ४. अहागूरु संपूएत्ता भवइ। से तं संग्रहपरिन्नानामं संपया। दशा० ४.८

२. वासे बहुजनजोग्गं विच्छिन्नं जंतु गच्छपाओग्गं।

अहवा वि बालदुब्बलगिलाण आदेसमादीणं ।। व्यवहारभाष्य, १०. २६०

३. न उ मइल्लेति निसेज्जा पीठफलगाण गहणंमि।

वियेरे न तु वासासु अन्नकाले उ गम्मते णत्थ ।

पाणासीयल कुंथादिया ततो गहण वासासु ।। व्यवहारभाष्य, १०/२६१-२६२

(ग) कालोचित क्रियासामग्री समानयन :

जिस—जिस काल में जो—जो क्रिया करनी हो उस—उस काल में उस क्रिया के योग्य सामग्री जुटाना कालोचित क्रियासामग्री समानयन सम्पदा है। इसके विषय में व्यवहारभाष्य में कहा गया है कि आचार्य को यथासमय स्वाध्याय, उपकरणों की प्रत्युपेक्षा, उपाधि का संग्रह और भिक्षा आदि की व्यवस्था करनी चाहिए।^१

(घ) यथागुरु पूजा-सत्कारकरण :

यथागुरुपूजासत्कारकरण से अभिप्राय है कि संघ में यथोचित विनय की व्यवस्था बनाए रखना। व्यवहारभाष्य में गुरु के तीन प्रकार बतलाए गए हैं—(१) प्रव्रज्या देने वाला गुरु, (२) अध्यापन कराने वाला गुरु और (३) दीक्षा पर्याय में बड़े मुनि।

इन तीनों प्रकार के गुरुओं की पूजा—सत्कार करना अर्थात् उनके आने पर खड़े होना, उनके दंड को ग्रहण करना, उनके योग्य आहार का सम्पादन करना, विहार आदि के समय उनके उपकरणों का भार ढोना तथा उनका मर्दन आदि करना ही यथागुरु पूजासत्कारकरण हैं।^२ इससे संघ में विनय का समुचित पालन होता है और संघ में व्यवस्था भी बनी रहती है जिससे संघ विकास की ओर अग्रसर होता है।

ये आठ सम्पदाएं आचार्य की आध्यात्मिक सम्पत्तिवर्द्धक हैं तथा संघ में तथा संघ से बाहर भी मान—सम्मान बढ़ाने वाली है। अतः आचार्य में इन आठों सम्पदाओं का होना आवश्यक है।

(छ) आचार्य के कर्तव्य :

संघ का मुखिया होने के नाते संघ की व्यवस्था बनाए रखने का कर्तव्य आचार्य का ही होता है। यदि किञ्चित् भी कमी रह जाए तो सारी व्यवस्था बिगड़ सकती है। अतः संघ में समुचित व्यवस्था को बनाए रखने के लिए आचार्य को निम्न छह बातों का ध्यान रखना चाहिए^३—

(१) सूत्रार्थस्थिरीकरण :

सूत्र के विवाद ग्रस्त अर्थ का निश्चय करना अथवा सूत्र और अर्थ में चतुर्विध संघ को स्थिर करना, यह आचार्य का ही कर्तव्य है।

१. जं जांमि होइ काले कायव्वं तं समाणए तंमि।

सज्जाया पह उवहि उप्पायण भिक्खमादी य ॥ व्यवहारभाष्य, १०.२६३

२. अह गुरु जेणं पव्वावितो उ जस्स व अहीति पांसमि।

अहवा अहा गरु खलु हवति रायणियतरागा उ ॥

तेसिं अब्भुट्ठाणं दंडग्गह तह य होइ आहारे।

उवही वहणं विस्सामणं य संपूयणा एसा ॥ वही, १०. २६४—६५

३. सुत्तत्थिरीकरणं, विणओ गुरुपूय सेहबहुमाणो।

दाणवति—सद्धवुड्डी, बुद्धिबलवद्धणं चेव ॥ ओधनिर्युक्ति, गा० ६२८

(२) विनय का व्यवहार :

आचार्य को सबके साथ विनयपूर्वक व्यवहार करना चाहिए । विनय चार प्रकार की बतलायी गई है^१

(क) आचारविनय :

मुनियों का मोक्ष के लिए जो ज्ञानाचार आदि अनुष्ठान है, उसका सिखलाना आचार विनय है ।

(ख) श्रुतविनय :

मुनियों को आगम का सिखलाना श्रुतविनय है ।

(ग) विक्षेपणाविनय :

जीवों को मिथ्यात्व आदि दुर्गुणों से हटाकर सम्यक्त्व आदि धर्म में स्थापन करना विक्षेपणाविनय है ।

(घ) दोषनिर्घातनविनय : जिससे क्रोध आदि दोषों का निर्घातन—निवारण हो वह दोषनिर्घातन विनय हैं । आचार्य उक्त चार प्रकार की विनय प्रतिपत्ति द्वारा शिष्य को विनयशील बनाकर ऋणमुक्त हो जाते हैं ।^२

३. गुरुपूजा :

आचार्य को उन सभी मुनियों का पूजा—सत्कार करना चाहिए जो दीक्षा में बड़े हों या अध्ययन कराने वाले गुरु हैं ।

४. शैक्षबहुमान :

शिक्षा ग्रहण करने वाले और नवदीक्षित साधुओं का भी उचित सम्मान करना चाहिए ।

५. दानप्रतिश्रद्धावृद्धि :

आचार्य को चाहिए कि वह दान के प्रति दाता की श्रद्धा को बढ़ावे ।

६. बुद्धिबलवर्द्धन :

आचार्य का यह भी कर्तव्य है कि वह अपने शिष्यों की बुद्धि तथा आध्यात्मिक शक्ति को बढ़ावे ।

(ज) आचार्य की चतुर्विध विशिष्ट क्रिया :

पूर्वोक्त छह कर्तव्यों के अतिरिक्त आचार्य की चार विशिष्ट क्रियाएं और भी हैं । इन्हें आचार्य की चतुर्विध शक्तियाँ समझना चाहिए । ये निम्नोक्त हैं ।—

१. आयरियों अन्तेवासी इमाएचउव्विहाए विणयपडिबत्तीए विणइता भवइ निरणत्तं गच्छइ, त जहाँ—

(१) आयावरिणएणं, (२) सुयविणएणं, (३) विक्खेवणाविणएणं, (४) दोसनिग्घायणविणएणं ।

दशा० ४.६

२. विस्तार के लिए दे०— दशा० ४.६—१३

१. सारणा :

आचार्य संघ के साधु—साध्वियों को तथा श्रावक—श्राविकाओं को दैनिक क्रियाओं तथा नैतिक कर्तव्यों का स्मरण दिलाता रहे । यह सारणा (स्मारणा) है । एक आचार्य जो अपने शिष्यों की सारणा नहीं करता अर्थात् उनको ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र सम्बन्धी आचरण की स्मृति नहीं कराता, वह हितकारी नहीं है चाहे फिर वह जिह्वा—चुम्बन भी क्यों न करे । तथा जो आचार्य अपने शिष्यों की सारणा कराता है, वह दण्ड से प्रताड़ित करता हुआ भी श्रेष्ठ है ।^१

(२) वारणा :

कोई साधु—साध्वी या श्रावक—श्राविका अपने व्रत, नियम, सिद्धान्त या धर्म से भ्रष्ट हो रहा हो, अतिचार या अनाचार के मार्ग पर चल रहा हो, तो आचार्य उसे सम्यक् शिक्षा देकर उस दोष से उसे हटाए, यही वारणा है ।

जो आचार्य आगमोक्त विधिपूर्वक संग्रह और उपग्रह नहीं करता तथा श्रमण और श्रमणियों को दीक्षा देकर उनको सामाचारी की शिक्षा नहीं देता तथा बाल शिष्यों को सम्यग् मार्ग पर नहीं लाता फिर चाहे वह जिह्वा—चुम्बन भी क्यों न करे, वस्तुतः वह आचार्य शत्रुस्वरूप है ।^२

३. चोयणा :

‘चोयणा’ से अभिप्राय है—प्रेरणा देना । आचार्य साधुओं को प्रमाद से हटाने के लिए प्रेरणा देता रहे । ज्ञान, दर्शन, चारित्र जो कि आत्मा के सार हैं, इन तीनों में जो स्वयं को और गण को भी ले जाता है, स्थित करता है, वही आचार्य है ।^३ जो आचार्य प्रमादयुक्त अथवा आलस्य के वशीभूत हुए शिष्यवर्ग को मोक्ष मार्ग की प्रेरणा नहीं देता है, वह आचार्य आज्ञा का अतिक्रमण करता है, मर्यादा का उल्लंघन करता है ।^४

४. पडिचोयणा :

पुनः पुनः प्रेरणा देना ही ‘पडिचोयणा’ हैं, यदि कोई साधक मृदु वाक्यों

-
१. जीहाए विलिहंतो न भदओ सारणा जहि नत्थि ।
डंडेण वि ताडंतो स भदओ सारणा जत्थ ॥ गच्छायार०, गा०१७
 २. संगहोवग्गहं विहिणा न करेइ य जो गणी ।
समणं समणिं तु दिक्खित्ता सामायारिं न गाहए ॥
बालाणं जो उ सीसाणं जीहाए उवल्लिपए ।
न सम्मग्गं गाहेइ सा सूरी जाण वेरिओ ॥ वही, गा० १५—१६
 ३. नाणम्मि दंसणम्मि य चरणम्मि य तिसु वि समयसारेसु ।
चोएइ जो ठवेउं गणमप्पाणं च सो य गणी ॥ गच्छायार०, गा०२०
 ४. जो उप्पमायदोसेणं, आलस्सेणं तहेव य ।
सीसवग्गं न चोएइ, तेण आणा विराहिया ॥ वही, गा०३६

से दी गई शिक्षा को नहीं मानता है, तब आचार्य उसे कठोर वाक्यों से शिक्षा दे तथा उसे बार-बार प्रेरित करे। जो आचार्य विधिपूर्वक प्रेरणा देता रहता है, वह आचार्य धन्य है, पुण्यवान् है, वही मोक्ष-प्रदान कराने वाला बन्धु है।^१

वस्तुतः आचार्य की इच्छा आत्मशुद्धि करने की होती है। आचार्य उपयुक्त चारों क्रियाएं रागद्वेष-रहित होकर ही करते हैं।

(झ) आचार्य तथा उपाध्याय के पाँच अतिशेष :

जैन शासन में व्यवस्था की दृष्टि से आचार्य एवं उपाध्याय दो अलग-अलग पद हैं परन्तु कभी-कभी इन दोनों का कार्य एक ही व्यक्ति करते हैं। गण में आचार्य एवं उपाध्याय के पाँच अतिशेष (विशेष विधि) बतलाए गए हैं जो निम्न प्रकार हैं—^२

(१) आचार्य उपाध्याय में पैरों की धूलि को यतनापूर्वक (जिससे कि दूसरों पर न गिरे) झाड़ते हुए एवं प्रमार्जित करते हुए आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते।

(२) आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय के अन्दर मल-मूत्र का त्याग तथा विशोधन करते हुए आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करते।

(३) आचार्य और उपाध्याय की इच्छा पर निर्भर है कि वे किसी साधु की सेवा करें या न करें।

(४) आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय में एक या दो रात अकेले रहते हुए आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करते।

(५) आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय से बाहर एक या दो रात अकेले रहते हुए आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करते।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ये अतिशेष अपवाद रूप हैं। व्यवहार भाष्य में इनका विस्तार से वर्णन करते हुए प्रत्येक अतिशेष के उपायों का निर्देश भी किया है—

(१) पहला अतिशेष है—बाहर से आकर उपाश्रय में पैरों की धूलि को यतना-पूर्वक झाड़ना। धूलि को यतनापूर्वक न झाड़ने से होने वाले दोष इस प्रकार हैं—

(क) प्रमार्जन के समय चरणधूलि तपस्वी आदि पर गिरने से वह कुपित होकर दूसरे गच्छ में जा सकता है।

१. विहिणा जो उ चोएइ, सुत्त अत्थं च गाहए।

सो धण्णो, सो य पुण्णो य, स बंधू मोक्खदायगो।। वही, गा० २५

२. दे०-ठाणं, ५. १६६

(ख) कोई राजा आदि विशेष व्यक्ति प्रव्रजित है तो उस पर धूलि गिरने से वह आचार्य को बुरा—भला कह सकता है ।

(ग) शैक्ष भी धूलि से स्पृष्ट होकर गण से अलग हो सकता है ।^१

(२) दूसरा अतिशेष है—उपाश्रय में मल—मूत्र का व्युत्सर्जन विशोधन करना ।
आचार्य—उपाध्याय शौच कर्म के लिए एक बार बाहर जाएं क्योंकि बार—बार जाने से अनेक दोष उत्पन्न हो सकते हैं—

(क) जिस रास्ते से आचार्य आदि जाते हैं, उस रास्ते में स्थित व्यापारी आदि लोग आचार्य को देखकर खड़े होते हैं—सत्कार करते हैं, परन्तु बार—बार बाहर जाने से वे सत्कार करना छोड़ देते हैं ।

(ख) लोक में विशेष रूप से पूजित होते देख कोई द्वेषी व्यक्ति उनको विजन (एकान्त) में प्राप्त कर मार सकता है ।

(ग) अज्ञानवश घने जंगल में चले जाने से कई प्रकार की कठिनाइयां उत्पन्न हो सकती हैं ।

(घ) कोई वादी ऐसा प्रचार कर सकता है कि बाद के भय से आचार्य शौच के लिए चले गए हैं ।

(ङ) राजा आदि के बुलाने पर समय पर उपस्थित न होने के कारण राजा आदि की प्रव्रज्या या श्रावकत्व के ग्रहण में प्रतिरोध हो सकता है ।

(च) सूत्र और अर्थ की परिहानि हो सकती है ।^२

(३) तीसरा अतिशेष है—सेवा करने की ऐच्छिकता

आचार्य का कार्य है कि वे सूत्र, अर्थ, मन्त्र, विद्या, योगशास्त्र का परावर्तन करें तथा उसका गण में प्रवर्तन करें । सेवा आदि में प्रवृत्त होने पर इन कार्यों में बाधा आ सकती है ।

व्यवहारभाष्यकार ने सेवा के अन्तर्गत भिक्षा प्राप्ति के लिए आचार्य के गोचरी जाने न जाने के सन्दर्भ में बहुत विस्तृत चर्चा की है ।^३

(४) चौथा अतिशेष—एक दो रात उपाश्रय में अकेले रहना ।

सामान्यतः आचार्य—उपाध्याय अकेले नहीं रहते । उनके साथ अन्य

१. व्यवहारभाष्य, ६.८२—८३ आदि

२. व्यवहारभाष्य, ६.६६—१०५ आदि

३. वही ६.१२३—२२७

साधु रहते ही हैं। प्राचीन काल में आचार्य पर्व-दिनों^१ में विद्याओं का परावर्तन करते थे, इसलिए उन्हें एक दिन—रात अकेले रहना पड़ता था अथवा कृष्णा चतुर्दशी अमुक विद्या साधने का दिन है और शुक्ला प्रतिपदा अमुक विद्या साधने का दिन है तब आचार्य तीन दिन—रात तक अकेले अज्ञात में रहते हैं। फिर भी इस प्रकार अकेले रहते हुए उन्हें मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता।

(५) पांचवा अतिशेष है— एक—दो रात उपाश्रय से बाहर अकेले रहना।

मन्त्र, विद्या आदि की साधना करते समय जब आचार्य वसति के अन्दर अकेले रहते हैं—तब सारा गण बाहर रहता है और जब गण अन्दर रहता है तब आचार्य बाहर रहते हैं क्योंकि विद्या आदि की साधना में व्याक्षेप न हो तथा अयोग्य व्यक्ति मन्त्र आदि को सुनकर उसका दुरुपयोग न करें, इसलिए ऐसा करना होता है।^२

(ज) आचार्य तथा उपाध्याय में संग्रहस्थान :

यहाँ पर संग्रहस्थान से अभिप्राय उन बातों से है जिनका ध्यान रखने से आचार्य ज्ञान अथवा शिष्यों का संग्रह कर सकते हैं—संघ में व्यवस्था कायम रख सकते हैं। आचार्य तथा उपाध्याय के सात संग्रहस्थान बतलाए गए हैं^३

(१) आचार्य को आज्ञा और धारणा का सम्यक् प्रयोग करना चाहिए। किसी कार्य के लिए विधान करने को आज्ञा कहते हैं, तथा किसी बात से रोकने को धारणा कहते हैं। आज्ञा और धारणा का समुचित प्रयोग न होने पर साधु आपस में या आचार्य के साथ कलह करते हैं जिससे कि संघ में व्यवस्था बिगड़ जाती है।

(२) आचार्य और उपाध्याय को रत्नाधिक की वन्दना इत्यादि का सम्यक् प्रयोग करना चाहिए। यदि कोई छोटा साधु रत्नाधिक^४ की वन्दना न करे तो आचार्य और उपाध्याय का यह कर्त्तव्य है कि वे उसे वन्दना के लिए प्रवृत्त करें, नहीं तो व्यवस्था बिगड़ सकती है।

(३) शिष्यों में जिस समय जिस सूत्र को पढ़ने की योग्यता हो अथवा जितनी दीक्षा के बाद जो सूत्र पढ़ना चाहिए उसका आचार्य हमेशा ध्यान रखें।^५ ऐसा न करने पर नवदीक्षित साधु तंग होकर

१. पक्खस्स अठमी खलु मासस्स य पक्खिअं मुणैयव्वं।

अण्णापि होइ पव्वं उवरागो चंदसूराणं।। वही, ६.२५२

२. वा अंतो गणी व गणो विक्खेवो मा हु होज्ज अगगहणं।

वसतेहि परिखत्तो उ अत्थते कारणे तेहि।। व्यवहारभाष्य, ६.२५८

३. ठाणं, ७.६

४. जो साधु दीक्षा में बड़ा हो वह रत्नाधिक कहलाता है।

५. कितने वर्ष की दीक्षा के बाद कौन सा शास्त्र पढ़ाया जाए, इसकी विस्तृत जानकारी के लिए दे०—व्यवहार सूत्र, १०. २४—३८

गण को छोड़ सकते हैं ।

(४) आचार्य और उपाध्याय को बीमार, तपस्वी तथा विद्याध्ययन करने वाले साधुओं की वैयावृत्त्य का ठीक प्रबन्ध करना चाहिए । इसके अभाव में भी संघ में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है ।

(५) आचार्य और उपाध्याय को दूसरों की सम्मति से कार्य करना चाहिए अथवा शिष्यों से दैनिक कृत्यों के विषय में पूछते रहना चाहिए । इससे संघ में स्थिति ठीक बनी रहती है ।

(६) आचार्य तथा उपाध्याय को अप्राप्त आवश्यक उपकरणों की प्राप्ति के लिए सम्यक् व्यवस्था करनी चाहिए अर्थात् जो वस्तुएं आवश्यक हैं और साधुओं के पास नहीं हैं उनकी निर्दोष प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए ।

(७) आचार्य तथा उपाध्याय को पूर्व-प्राप्त उपकरणों की यथाविधि रक्षा का ध्यान रखना चाहिए । उन्हें ऐसे स्थान पर न रखने दिया जाए जहाँ वे खराब हो जाएं अथवा चुरा ली जाएं ।

इस प्रकार किए जाने पर संघ की व्यवस्था में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं आती, व्यवस्था सुचारु रूप से चलती रहती है और संघ में वृद्धि होती रहती है ।

(ट) आचार्य तथा उपाध्याय का गण से अपक्रमण :

गण-अपक्रमण से अभिप्राय है—गण का त्याग कर देना, गण से बाहर निकल जाना । सामान्यतः ऐसी स्थिति नहीं आती है परन्तु कुछ एक ऐसे कारण होते हैं जब आचार्य तथा उपाध्याय विवश होकर गण को छोड़ जाते हैं । स्थानाङ्गसूत्र में ऐसे पाँच कारण बतलाए गए हैं जो निम्न प्रकार हैं^१—

(१) आज्ञा और धारणा का सम्यक् प्रयोग न होना :

गण में व्यवस्था को बनाए रखने के लिए आज्ञा एवं धारणा का सम्यक् प्रयोग होना आवश्यक है । यदि आचार्य तथा उपाध्याय आज्ञा या धारणा का सम्यक् प्रयोग न कर सकें तो गण से अपक्रमण कर देते हैं ।

(२) वन्दन और विनय का सम्यक् प्रयोग न होना :

जैन परम्परा की गण व्यवस्था में आचार्य का स्थान सर्वोपरि है परन्तु ऐसा कोई नियम नहीं है कि वे वय, श्रुत और दीक्षापर्याय में सबसे बड़े ही हों । उनका यह कर्तव्य है कि जो श्रुतस्थविर तथा पर्यायस्थविर हैं, उनका वे वन्दन आदि से उचित सम्मान करें । यदि वे पद के अभिमान से ऐसा न कर सकें तो गण को छोड़ देते हैं ।

(३) श्रुत की सम्यक् वाचना न होना :

आचार्य तथा उपाध्याय का यह कर्त्तव्य है कि वे जिन श्रुतपर्यायों को धारण करते हैं, समय-समय पर उनकी गण को सम्यक् वाचना देते रहें परन्तु यदि वे प्रमाद आदि कारणों से सूत्रार्थ की सम्यग् वाचना न कर सकें तब वह गण का त्याग कर देते हैं ।

(४) अपने अथवा दूसरे गण की साध्वियों में आसक्ति :

आचार्य तथा उपाध्याय अपने गण की या दूसरे गण की साध्वियों में आसक्ति हो जाएं तो गण से बाहर निकल जाते हैं परन्तु देखा जाता है कि साधारणतया ऐसी स्थिति नहीं आती है किन्तु कभी-कभी दृढ़ता से बंधे हुए कर्मों के उदय से ऐसा हो जाता है, उस स्थिति में आचार्य गण को छोड़कर चले जाते हैं ।

(५) मित्र या स्वजनों का गण से निकल जाना :

आचार्य तथा उपाध्याय के मित्र अथवा स्वजन गण से निकल जाएं तो उन्हें पुनः गण में सम्मिलित करने के लिए तथा उनका सहयोग प्राप्त करने के लिए वे अपने गण से अपक्रमण कर देते हैं । जब उनका अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध हो जाए, तब वे पुनः गण में सम्मिलित हो जाते हैं ।

(ठ) आचार्य-भक्ति :

शुद्ध भाव से आचार्य में अनुराग करना ही आचार्य भक्ति है ।^१ अनुराग से प्रेरित होकर ही भक्त, कभी आचार्या को नए-नए उपकरणों का दान देता है, कभी विनयपूर्वक उनके सामने जाता है, कभी उनके प्रति आदर प्रकट करता है और कभी शुद्ध मन से उनके पैरों का पूजन करता है ।^२

आचार्य में अनुराग से तात्पर्य है—आचार्य के गुणों में अनुराग आचार्य कुन्दकुन्द ने उन्हीं आचार्यों को प्रणाम किया है जो उत्तम क्षमा, प्रसन्नभाव, वीतरागता और तेजस्विता से युक्त हैं^३ तथा जो गगन की भाँति निर्लिप्त और सागर की भाँति गम्भीर हैं ।^४

१. अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः ।

सर्वार्थसिद्धि, ६, २४ भाष्य

२. आचार्याणामपूर्वोपकरणदानं सन्मुखगमनं, सम्भ्रमविधानं पादपूजनं दानसम्मानादि-विधानं मनःशुद्धियुक्तोऽनुरागश्चाचार्यभक्तिरुच्यते ।।

त०वृ० ६, २४, पृ० २२८-२२९

३. उत्तमखमाए पुढवी पसण्णभावेण अच्छजलसरिसा ।

कम्मिंघणदहणादो अगणी वाऊ असंगादो ।। दशभक्ति, पृ २१०

४. गयणमिव गिरुवलेवा अक्खोहा सायरुव्वमुणिवसहा ।

एरिस गुणणिलयाणं पायं पणमामि सुद्धमणो ।। वही

तिलोपपण्णत्ति के लेखक यतिवृषभ ने भी आचार्यों के गुणों का वर्णन करते हुए उनकी प्रसन्नता प्राप्त करने की अभिलाषा की है ।^१

आचार्यों की भक्ति से सम्यग् ज्ञान प्राप्त होता है । कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि "मुझ अज्ञानी के द्वारा आपके गुणों के समूह को जो स्तुति की गई है, वह गुरुभक्ति से युक्त मुझे बोधिलाभ करावे" ।^२ उन्होंने एक दूसरे स्थान पर कहा है कि 'आचार्य की भक्ति करने वाला, अष्टकर्मों का नाश करके संसार—सागर से पार हो जाता है' ।^३

आचार्य उमास्वाति ने आचार्य—भक्ति को तीर्थकर नामकर्म के आस्रव का कारण माना है ।^४ अभिधानराजेन्द्रकोष में आचार्य को नमस्कार करने से विद्या और मन्त्र की सिद्धि स्वीकार की गई है ।^५

अनागारधर्मामृत में आचार्य की उपासना के माहात्म्य की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि 'जिनके चरणों का आश्रय तत्काल ही संसार मार्ग की थकान को दूर करके निर्वृत्तिरूपी अमृत की बार—बार वर्षा करता है, उस आचार्य की सेवा कौन नहीं करेगा अर्थात् वे सभी मुमुक्षुओं के द्वारा सेवनीय हैं' ।^६

इस प्रकार आचार्य का पद महान् एवं गौरवमय है । समस्त जैन—वाङ्मय में उनकी गुणगरिमा उपलब्ध होती है । वे समस्त संघ के अग्रणी होते हैं । वे मुमुक्षुओं को ज्ञान के मार्ग पर लाकर तथा उन्हें सांसारिक विषय—भोगों से दूर हटाकर भवसागर से पार लगा देते हैं । अतएव हमें शुद्धभाव से आचार्य के गुणों में अनुराग रखते हुए उनकी वैय्यावृत्ति(शुश्रूषा) करनी चाहिए ।

१. पंचमहव्ययतुंगा तत्कालियसपरसमयसुदधारा ।
णाणागुणभरिया आइरिया मम पसीदंतु ।। तिलोय० १.३
२. तुम्हं गुणगणसंशुदि अजाणमाणेण जो मया वुत्तो ।
देउ मम बोहिलाहं गुरुभत्तिजुदत्थओ णिच्चं ।। दशभक्ति, पृ० २१३
३. गुरुभक्तिसंयमाभ्यां च तरन्ति संसारसागरं घोरम् ।
छिन्दन्ति अष्टकर्माणि जन्म—मरणे न प्राप्नुवन्ति ।।
वही, आचार्य भक्ति, क्षेपक श्लोक, पृ० २१४
४. दे० — त० सू० ६. २३
५. भत्तीइ जिणवराणां खिज्जंती पुव्व संचिआ कम्मा ।
आयरिअ नमुक्कारेण विज्जमंता य सिज्झंति ।।
अभिधानराजेन्द्रकोष, भाग—५, पृ० १३६५
६. यत्पादच्छायमुच्छिद्य स द्यो जन्मपथक्लमम् ।
वर्षष्टि निवृत्तिसुधां सूरिः सेव्यो न केनचित् ।। धर्मा ६.३२

उपाध्याय परमेष्ठी

सूतं यतीनति-०पटु-स्फुट-युक्तियुक्त

युक्तिप्रमाण – नयभंगगमैर्गभीरम् ।

ये पाठयन्ति वरसूरिपदस्य योग्यास्

ते वाचकाश्चतुरचारु – गिरो जयन्ति ।।

मंगल-वाणी, पु०२७६

पञ्चम परिच्छेद

उपाध्याय परमेष्ठी

आराध्य एवं पूज्य चतुर्थ परमेष्ठी उपाध्याय हैं। उपाध्याय परमेष्ठी भी आचार्य परमेष्ठी ही की तरह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं गौरवशाली हैं। जिस प्रकार संघ में चारित्र की साधना के लिए आचार्य को प्रथम स्थान दिया गया है, उसी प्रकार ज्ञान की साधना के लिए संघ में उपाध्याय का द्वितीय स्थान है। जैन आगमों एवं उनके उत्तरवर्ती वाङ्मय में उपाध्याय के विषय में अत्यधिक मूल्यवान् सन्दर्भ प्राप्त होते हैं जिससे यह स्पष्ट होता है कि उपाध्याय भी जैन परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

(क) उपाध्याय की गरिमा :

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्ष के साधन हैं।^१ यहाँ चारित्र के समान ही ज्ञान की साधना का भी मोक्ष की उपलब्धि में प्रामुख्य है। यदि साधक के जीवन में ज्ञान का प्रकाश नहीं है तो वह चारित्र का पालन भी सम्यक् रूप से नहीं कर सकता कारण कि अन्धकार से घिरे हुए साधक को न तो हेयोपादेय का विवेक ही रहता है और न ही उसे संसार और मोक्षमार्ग के पृथक्करण का ज्ञान ही होता है। इसके साथ ही वह धर्म—अधर्म, पुण्य—पाप, उत्थान—पतन तथा साधन एवं साध्य इत्यादि का भी तीक से विश्लेषण नहीं कर सकता। अतः मुमुक्षु साधक को ज्ञान का प्रकाश पाना अत्यन्त आवश्यक है। यथार्थज्ञान का प्रकाश होने पर ही वह स्व एवं पर कल्याण में तत्पर हो सकता है।

प्रकृष्ट ज्ञानी :

परमगुरु उपाध्याय धर्म—संघ के साधु—साध्वी तथा श्रावक—श्राविका वर्ग में ज्ञान का प्रकाश करते हैं। वे अपने निर्मल ज्ञान से अज्ञानान्ध व्यक्तियों को ज्ञानरूपी नेत्र प्रदान करते हैं। स्वयं शास्त्रों को पढ़ना और संघ के ज्ञान—पिपासु साधु वर्ग को पढ़ना उपाध्याय का ही कर्तव्य है।

बुद्धिबल सम्पन्न :

उपाध्याय अति प्रकृष्ट प्रज्ञा वाले होते हैं। वे ही जीवन की रहस्यपूर्ण

ग्रन्थियों को नय और प्रमाण,^१ निश्चय और व्यवहार^२ तथा उत्सर्ग एव अपवाद की शान पर चढ़ाकर अपने बुद्धिबल से सुलझाने में समर्थ होते हैं।

श्रुतगुरु :

वे ही संघ में आध्यात्मिक, दार्शनिक एवं धार्मिक शिक्षा के सर्वोच्च प्रतिनिधि होते हैं। वे ही मोक्ष के साधनों का महत्त्वपूर्ण विवेचन करते हैं और वे ही श्रुतगुरु हैं। वे ज्ञान रूपी दिव्य-दीप को संघ में प्रज्वलित रखकर श्रुत-परम्परा को आगे ही आगे बढ़ाते हैं। इस प्रकार उपाध्याय का पद अत्यधिक प्रतिष्ठापूर्ण है।

(ख) उपाध्याय पद की व्युत्पत्तिलभ्य व्याख्या :

उपाध्याय शब्द उप+अधि इ + घञ् से बनता है।

‘उपेत्य अस्मात् अधीयते इति उपाध्यायः’ अर्थात् जिसके पास में जाकर अध्ययन किया जाता है, वह उपाध्याय होता है। इस प्रकार उपाध्याय से शिक्षक, गुरु, अध्यापक आदि अर्थ लिया जाता है।^३

जैन दर्शन में उपाध्याय पद की विशिष्ट परिभाषाएं मिलती हैं। जैसे—

(क) भगवतीसूत्र में उपाध्याय का निर्वचन करते हुए बतलाया गया है कि ‘उप’ अर्थात् समीप तथा ‘इङ्’ धातु अध्ययन करने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। इस प्रकार उपाध्याय वह है जिसके समीप में जाकर अध्ययन किया जाता है, आत्मज्ञान प्राप्त किया जाता है।^४

(ख) कुछ एक विद्वानों के अनुसार ‘इण्’ धातु गति अर्थ में आती है तथा ‘अधि’ से अभिप्राय है—अधिक अर्थात् बार—बार। अतः जिनके पास बार—बार ज्ञान प्राप्ति के लिए जाया जाता है, वे उपाध्याय हैं।^५

(ग) अन्य कुछ विद्वान् मानते हैं कि ‘इक्’ धातु स्मरण अर्थ में होती है और जिनके पास सूत्र क्रमानुसार जिन प्रवचन का स्मरण किया जाता है, वे उपाध्याय हैं।^६

१. तेन सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीनः।

त०वृ० १.६, पृ० ८-९

२. व्यवहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।

समयसार, जीवाजीवाधिकार, गा० ११

३. दे०—संस्कृत—शब्दार्थ कौस्तुभ।

४. उप—समीपमागत्याधीयते ‘इङ्’अध्ययने’ इति वचनात् पठ्यते।

भग०वृ० प० ४

५. ‘इण्’ गता’ वितिवचनाद्वा अधि—आधिक्येन गम्यते। वही

६. इक् स्मरणे’ इति वचनाद्वा स्मर्यते सूत्रतो जिनप्रवचनं येभ्यस्ते उपाध्यायाः। वही।

(घ) जिनेश्वर भगवान् द्वारा प्ररूपित द्वादशांग को पंडित पुरुष स्वाध्याय कहते हैं। उस द्वादशांग का वे उपदेश देते हैं, इसलिए वे स्वयं में ही उपाध्याय हैं।^१

(ङ) उपाध्याय का मुख्य कार्य है—पढ़ना। इसलिए आचार्य शीलाङ्क ने उपाध्याय को अध्यापक बतलाया है।^२ उपाध्याय श्रमणों को सूत्र—वाचना देते हैं। इसी से आचार्य अभयदेवसूरि ने उसको सूत्रदाता कहा है।^३

(च) प्राकृत शैली के अनुसार उपाध्याय को उवज्झाय अथवा उज्झा कहा जाता है। आवयश्यकनिर्युक्ति में इन दोनों की निर्युक्ति बड़े ही सुन्दर ढंग से की गई है—

‘उ’ से उपयोग और ‘ज्झ’ से ध्यान अर्थ लिया गया है। अतः जो उपयोगपूर्वक ध्यान करता है वह उपाध्याय (उज्झा) कहलाता है। दूसरे, ‘उवज्झाय’ शब्द में ‘उ’ से उपयोग, ‘व’ से पाप का वर्जन, ‘ज्झ’ से ध्यान और ‘उ’ से कर्मों की उदीरणा अर्थ ग्रहण किया गया है। अतः जो उपयोग पूर्वक पाप को छोड़कर ध्यान के द्वारा कर्मों का नाश करता है, वह उपाध्याय (उवज्झाय) कहलाता है।^४ कालान्तर में यही उवज्झाय शब्द ओज्झा, ओझा अथवा झा के रूप में भी प्रयुक्त हुआ मिलता है।

(छ) धवला टीका में चौदह विद्यास्थानों^५ के व्याख्यान करने वालों को उपाध्याय कहा गया है कारण कि उपाध्याय तत्कालीन परमागम के व्याख्यान करने वाले होते हैं और ये ही संग्रह, अनुग्रह आदि

१. बारसंगो जिणक्खाओ, सज्झाओ कहिआ बुहे।

तं उवइसंति जम्हा, उवज्झाया तेण बुच्चति ।। भग० वृ० प० ४

२. उपाध्यायः अध्यापकः। आचारांगवृत्ति, सू० २७६

३. उपाध्यायः सूत्रदाता। स्थानांगवृत्ति, ३.४.३२३

४. उत्ति उवओगकरणे, ज्झति अ ज्ञाणस्स होइ णिदेसै

एएण हुंति उज्झा एसो अन्नोवि पज्जाओ ।।

उत्ति उवओगकरणे वत्तिअ पावपरिवज्जणे होइ।

ज्ञति अ ज्ञाणस्स कए उत्ति अ ओसक्कणा कम्मे ।।

आ०नि०, गा० १००२—३

५. चोदस—पुव्व—महोयहिमाहिगम्म सिव—त्थिओ सिवत्थीणं।

सीलंधराण वत्ता होइ मुणी सा उवज्झाओ ।। धवला टीका, प्रथम पुस्तक, गा० ३२

गुणों को छोड़कर आचार्य के सभी गुणों के धारक होते हैं' अर्थात् आचार्य तुल्य ही होते हैं ।

(ज) आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि 'जो रत्नत्रय से युक्त हैं, जिनकथित पदार्थों के शूरवीर उपदेशक हैं और जो निकांक्षभाव से युक्त हैं, वे उपाध्याय कहलाते हैं' ।^१ इसी प्रकार आचार्य नेमिचन्द्र ने रत्नत्रय से युक्त, सदा धर्मोपदेश देने में तत्पर एवं मुनियों में श्रेष्ठ आत्मा को उपाध्याय बतलाया है ।^२ ये उपाध्याय अज्ञान रूपी अन्धकार में भटके हुए प्राणियों को ज्ञानरूपी प्रकाश प्रदान करते हैं ।^३

इस प्रकार उपाध्याय सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप रत्नत्रय से युक्त एक श्रेष्ठ मुनि होते हैं । उनका मुख्य कार्य शास्त्रों का पठन-पाठन है । नवदीक्षित साधु-साध्वियों के अध्यापन का कार्यभार उपाध्याय के ही ऊपर होता है । ज्ञान के बिना साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता । उपाध्याय आगम-सूत्रों की वाचना से मुमुक्षुजनों के अज्ञान रूपी अन्धकार को नष्ट कर डालते हैं । संघ के संचालन का कार्य आचार्य का होता है परन्तु जीवन की रहस्यपूर्ण ग्रन्थियों को सुलझाने का कार्य तो मुख्य रूप से उपाध्याय ही करते हैं । अतः उपाध्याय संघ में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं ।

(ग) उपाध्याय पद के लिए अर्हता :

उपाध्याय जैसे महत्त्वपूर्ण पद पर कौन प्रतिष्ठित हो सकता है ? उसमें कौन-कौन सी योग्यताएं होनी चाहिए ? यह भी एक विचारणीय विषय है ।

जो व्यक्ति इस पर आरुढ़ होना चाहता है, पहले उसे शारीरिक, मानसिक और शैक्षणिक योग्यता की कसौटी पर कसा जाता है । यदि कोई व्यक्ति इस पद के अयोग्य है और वह इस पद पर आसीन हो जाता है तो वह इस पद का और शासन का भी गौरव घटाता है । इसलिए जैन मनीषिचिन्तकों ने उपाध्याय की योग्यता के विषय में बहुत ही सूक्ष्मता से चिन्तन किया है ।

१. णमो उवज्झायाणं-चतुर्दशविद्यास्थानव्याख्यातारः तात्कालिकप्रवचन-व्याख्यातारो वा आचार्यस्योक्ताशेषक्षणसमन्विताः संग्रहानुग्रहादिगुणहीनाः ।। धवलाटीका, प्रथम पुस्तक, पृ० ५१
२. रयणत्तयसंजुता जिणकहियपयत्थदेसया सूरा ।
णिक्कंखभावसहिया उवज्झाया एरिसा होन्ति ।।
नियम०, गा० ७४
३. जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवएसणे णिरदो ।
सो उवज्झाओ अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स ।।
द्रव्यसंग्रह, गा० ५३
४. अण्णाणघोरतिमिरे दुरंततीरम्हि हिंडमाण्णं ।
भवियाणुजोययरा उवज्झया वरमदिं देंतु ।। तिलोय० १.४

जिसकी दीक्षा हुए तीन वर्ष हो गए हैं, ऐसा श्रमण निर्ग्रन्थ यदि आचार, संयम, प्रवचन, संग्रह और उपग्रह आदि में कुशल है, परिपूर्ण (अक्षता), अखण्डित (अभिन्न) और निरतिचार (अशबल) चारित्र वाला है, असंक्लिष्ट आचार एवं असंक्लिष्ट चित्तवाला, बहुश्रुत एवं बहु आगमज्ञ है तथा कम से कम आचार प्रकल्पधर (निशीथसूत्र का ज्ञाता) है, ऐसा व्यक्ति विशेष ही उपाध्याय पद पर प्रतिष्ठित हो सकता है ।^१

यही उपाध्याय बनने के लिए अथवा उसके पद को ग्रहण करने की न्यूनतम योग्यता है । इससे कम योग्यता वाले व्यक्ति को इस पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता और न ही वह उपाध्याय कहलाने योग्य होता है ।

उपर्युक्त योग्यताओं के अतिरिक्त कुछ और भी ऐसे गुण हैं जो उपाध्याय में होने आवश्यक हैं ।

(घ) उपाध्याय के पच्चीस गुण :

उपाध्याय एक साधु होने के कारण साधु के २७ गुणों का पालन तो करता ही है, इसके अतिरिक्त वह अन्य २५ गुणों से भी सम्पन्न होता है । आगमों में उपाध्याय के इन गुणों की गणना दो प्रकार से दृष्टिगोचर होती है ।

उपाध्याय के इन पच्चीस गुणों की प्रथम पद्धति^२ में वह मन, वचन और काय की चंचलता को वश में करता हुआ द्वादशांग का अध्येता और ज्ञाता होता है । वद्व करणसप्तति एवं चरणसप्तति से युक्त होता है तथा आठ प्रकार से धर्म की प्रभावना बढ़ाने वाला होता है ।

(१) द्वादशांग के ज्ञाता उपाध्याय :

उपाध्याय १२ अंग ग्रन्थों का स्वयं अध्ययन करते हैं एवं दूसरे साधु-साध्वियों को भी पढ़ाते हैं । बारह ग्रन्थ निम्न प्रकार हैं ।^३

१. तिवासपरियाए समणे निगंथे—

आयारकुसले, संजमकुसले, पवयणकुसले,
पण्णत्तिकुसले, संगहकुसले, उवग्गहकुसले,
अक्खयायारे, अभिन्नायारे, असबलायारे,
असंकिलिट्ठायायचित्ते, बहुस्सए, बम्भागमे, जहण्णेणं आयारकप्पधरे,
कप्पइ उवज्झायत्ताए उद्दिस्सित्तए ।। व्यवहारसूत्र, ३.३

२. बारसंगविऊ बुद्धा करण—चरण जुओ ।

पभवणा—जोगनिग्गहो उवज्झाय गुणं वन्दे ।।

दे०— जैन तत्त्वकलिका, पृ० २०२, पा०टि०१

३. द्वादशांग की विस्तृत जानकारी के लिए दे०—(मालवणिया तथा मेहता), जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग—१

- (१) आचारांगसूत्र
- (२) सूत्रकृतांगसूत्र
- (३) स्थानांगसूत्र
- (४) समवायांगसूत्र
- (५) व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र
- (६) ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र
- (७) उपासकदशांगसूत्र
- (८) अन्तकृद्दशांगसूत्र
- (९) अनुत्तरौपपातिकदशांगसूत्र
- (१०) प्रश्नव्याकरणसूत्र
- (११) दृष्टिवाद ।

बारहवें अंग ग्रन्थ दृष्टिवाद के लुप्त हो जाने के कारण वर्तमान में उपाध्याय के द्वारा ११ अंगों का ही पठन—पाठन किया कराया जाता है ।

(२) करणसप्तति के धारक उपाध्याय :

करण एक पारिभाषिक शब्द है । करण का अर्थ है—जिस समय पर जो क्रिया करणीय हो, उसे करना । जैसे कि अशन आदि चार प्रकार की पिण्डविशुद्धि, पाँच प्रकार की समिति, बारह प्रकार की भावनाएं, बारह प्रकार की भिक्षु—प्रतिमा, पाँच प्रकार का इन्द्रिय—निरोध, पच्चीस प्रकार की प्रतिलेखना, तीन गुप्तियाँ और चार प्रकार का अभिग्रह । इस तरह करणसप्तति सत्तर प्रकार के विषयों का वर्णन करती है ।^१ उपाध्याय परमेष्ठी भी इससे सम्पन्न होते हैं ।

(क) चार प्रकार की पिण्डविशुद्धि :

निर्दोष आहार, वस्त्र, पात्र और स्थल का सेवन—यही चतुर्विध पिण्डविशुद्धि है । साधु को आहार, उपकरण (वस्त्र एवं पात्रादि) और शय्या आदि की गवेषणा करते समय ४६ दोषों से विशुद्ध होना चाहिए, जिसका वर्णन पूर्व में एषणा समिति में किया जा चुका है ।

१. पिण्डविसोही समिई भावण पडिमा य इंदियनिरोहो ।

पडिलेहणं गुत्तीओ अभिगगहा चेव करणं तु ।।

प्रवचनसारोद्धार, गा० ५६३

(ख) बारह प्रकार की भावना :

बारह प्रकार की भावनाएं अनुप्रेक्षाओं के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। शरीर आदि के स्वरूप का बार-बार श्रेष्ठता के साथ विचार करना, भावना करना अनुप्रेक्षा है।^१ ये बारह अनुप्रेक्षाएं निम्न प्रकार हैं^२—

(१) अनित्यानुप्रेक्षा : संसार में जो कुछ भी उत्पन्न हुआ है, उसका विनाश नियम से होता है। शरीर और घरबार आदि वस्तुएं एवं उनके सम्बन्ध नित्य और स्थिर नहीं हैं, ऐसा चिन्तन करना अनित्यानुप्रेक्षा है।^३

(२) अशरणानुप्रेक्षा : एक मात्र शुद्धधर्म ही जीवन शरणभूत है। जैसे निर्जन वन में सिंह के पंजे में पकड़े हुए मृग का कोई सहायक नहीं होता है उसी प्रकार जन्म, जरा, मरण एवं रोग आदि दुःखों से ग्रस्त जीवन का भी कोई शरण नहीं है, ऐसा चिन्तन करना अशरणानुप्रेक्षा है।^४

३. संसारानुप्रेक्षा : इस संसार में भ्रमण करने वाला जीव जिस जीव का पिता होता है, वही जीव कभी उसका भाई कभी पुत्र और कभी पौत्र भी हो जाता है और जो माता होती है, वही कभी बहिन, भार्या, पुत्री और पौत्री भी हो जाती है। स्वामी दास होता है और दास कभी स्वामी हो जाता है। इस प्रकार जीव नट की तरह नाना वेषों जन्मों को धारण करता हुआ संसार में दुःखों को भोगता है, इस प्रकार चिन्तन करना संसारानुप्रेक्षा है।^५

४. एकत्वानुप्रेक्षा : संसार में जीव को सुख-दुःख में साथ देने वाला कोई नहीं। यह अकेला ही समस्त शारीरिक एवं मानसिक दुःखों को सहन करता है एवं अकेला ही मरता है। कविवर दौलत राम ने बड़े सुन्दर शब्दों में कहा है—

१. कायादिस्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा ।। त०वृ० ६.२, पृ० २८२

२. अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुचित्वाश्रयसंवरनिर्जरा—
लोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः । त०सू० ६.७

३. जं किं चि उप्पणं तस्स विणासो हवेइ णियमेण ।
परिणाम सरुवेण वि ण य किंचि वि सासयं अत्थि ।। कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा० ४

४. सीहस्स कमे पडिदं सारंगं जह ण रक्खदे कोवि ।
तह मिच्चुणा य गहिदं जीवं पि ण रक्खदे कोवि ।। वही, गा० २४

५. जीवःकर्मवशाद् भ्रमन् भवदने भूत्वा पिता जायते ।
पुत्रश्चापि निजेन मातृभागिनीभार्यादुहित्रादिकः ।
राजापतिरसौ नृपः पुनरिहाप्यन्यत्र शैलूषवत्
नानावेषधरः कुलादिकलितो दुःख्येव मोक्षादृते ।। त०वृ० ६.७, पृ० २८६

**शुभ अशुभ करम फल जेते, भोगे जिय एक हि ते ते।
सुत दारा होय न सीरी, सब स्वारथ के हैं भीरी॥^१**

अर्थात् जितने शुभ-अशुभ कर्म के फल हैं, उन सब को यह जीव अकेला ही भोगता है। पुत्र, स्त्री आदि साथ देने वाले नहीं होते। ये सब अपने स्वार्थ के सगे हैं। ऐसा चिन्तन करना ही एकत्वानुप्रेक्षा है।

५. अन्यत्वानुप्रेक्षा : यद्यपि जीव और शरीर दूध-पानी की भाँति मिले हुए हैं, फिर भी एकरूप नहीं हैं। इसलिए इन दोनों के गुण-धर्मों की भिन्नता का चिन्तन करना कि शरीर तो जड़, स्थूल तथा आदि-अन्त युक्त है और मैं (-जीव) तो चेतन, सूक्ष्म तथा आदि-अन्तरहित हूँ। इस प्रकार चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है।^२

६. अशुचित्वानुप्रेक्षा : यह शरीर अत्यन्त अपवित्र है। रुधिर, मांस, मज्जा आदि अशुचि पदार्थों का घर है। इस शरीर की अशुचिता जल में नहाने से और चन्दन आदि के लेप करने से भी दूर नहीं की जा सकती। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, और चरित्र ही जीव की विशुद्धि करते हैं, इस प्रकार का विचार करना ही अशुचित्वानुप्रेक्षा है।^३

७. आस्रवानुप्रेक्षा : मन-वचन-काय योग की जो चंचलता है उससे आस्रव होता है। आस्रव बन्ध का कारण है, अत्यन्त दुःखदायक है, इस प्रकार भावनापूर्वक आस्रव के स्वरूप का चिन्तन करना आस्रवानुप्रेक्षा है।^४

८. संवरानुप्रेक्षा : कर्मों का संवर हो जाने से जीव को दुःख नहीं होता है। जैसे नाव में छेद हो जाने पर उसमें जल भरने लगता है और नाव डूब जाती है। लेकिन छेद को बन्द कर देने पर नाव अपने

१. छहढाला, ढाल ५, श्लो०६
२. नोऽनित्यं जडरूपमैन्द्रिकमाद्यन्ताश्रितं वर्षं यत्
सोऽहं तानि बहूनि चाश्रयमयं खेदोऽस्ति संगदतः।
नीरक्षीरवदङ्गतोऽपि यदि मेऽन्यत्वं ततोऽन्यदभृशं
साक्षात्पुत्रकलत्रमित्रगृहरैरत्नादिकं मत्परम् ॥ त०वृ०६, ७, पृ० २६०
३. अङ्गं शोणितशुक्रसम्भवमिदं विष्णूत्रपात्रं न च
स्नानलेपनघूपनादिभिरदः पूतं भवेज्जातुचित्।
कर्पूरादिपवित्रमत्रनिहितं तच्चापवित्रं यथा
पीयूषं विषमङ्गनाधरगंत रत्नत्रयं शुद्धये ॥ वही
४. जो योगन की चपलाई, तातें हवै आस्रव माई।
आस्रव दुखकार घनेरे, बुधिवन्त तिन्हें निरवेरे। छहढाला, ढाल ५, श्लो०६

स्थान पर पहुँच जाती है। उसी प्रकार कर्मों का आगमन रोक देने पर कल्याण मार्ग में कोई बाधा नहीं आ सकती है। इस प्रकार विचार करना संवरानुप्रेक्षा है।^१

६. निर्जरानुप्रेक्षा : अपनी—अपनी स्थिति पूर्ण होने पर जो कर्म खिर (झड़) जाते हैं उससे जीव का धर्मरूपी कार्य नहीं होता, किन्तु जो (निर्जरा) आत्मा के शुद्ध तप द्वारा कर्मों का नाश करती है, वह मोक्ष का सुख दिलाती है। ऐसा जानता हुआ सम्यग्दृष्टि जीव स्वद्रव्य के आलम्बन द्वारा जो शुद्धि करता है, वह निर्जरानुप्रेक्षा है।^२

१०. लोकानुप्रेक्षा : अनन्त लोकाकाश के ठीक मध्य में लोक है। इस लोक को किसी ने बनाया नहीं है, इसे कोई धारण किए हुए नहीं है, इसका कोई नाश नहीं कर सकता और यह लोक षड्द्रव्यरूप है। इस प्रकार तत्त्वज्ञान की विशुद्धि के निमित्त लोक के वास्तविक स्वरूप का चिन्तन करना लोकानुप्रेक्षा है।^३

११. बोधिदुर्लभत्वानुप्रेक्षा : संसार भ्रमण का एकमात्र कारण है—अपने स्वरूप को न जानना। आत्मज्ञान ही सम्यग्बोधि है। जीव एकेन्द्रिय आदि सभी योनियों में जन्म लेता रहता है, ऊँचे से ऊँचे (ग्रेवेयक) पद प्राप्त करता रहता है परन्तु मोहनीय आदि कर्मों के तीव्र आघातों के कारण बोधि को प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है। इस प्रकार चिन्तन करना ही बोधिदुर्लभत्वानुप्रेक्षा है।^४

१२. धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा : धर्ममार्ग से च्युत न होने और उसके अनुष्ठान में स्थिरता लाने के लिए ऐसा चिन्तन करना कि 'यह

१. वाराशौ जलयानपात्रविवरप्रच्छादने तदगतो
यदवत् पारमियर्ति विघ्नविगतः सत्संवरः स्यात्तथा ।
संसारान्तगतश्चरित्रनिचयाद्धर्मादनुप्रेक्षणाद्
वैराग्येण परिबहक्षमतया संपद्यतेऽसौ चिरात् ॥ त०बृ०६.७, पृ०२६०
२. निजकाल पाय विधि झरना, तासों निज काज न सरना ।
तप करि जो कर्म खिपावै, सोई शिवसुख दरसावै ॥
छहढाला, ढालं ५, श्लो० ११
३. किन हू न करौ न धरौ को, षड्द्रव्यमयी न हरे को ।
सो लोकमांहि विन समता, दुख सहै जीव निज भ्रमता ॥
वही, श्लो० १२
४. अंतिम—ग्रीवकलों की, हृद पायो अनंतविरियां पद ।
पर सम्यग्ज्ञान न लाधौ, दुर्लभ निज में मुनि साधौ ॥
छहढाला, ढाल ५, श्लो० १३

कितना बड़ा सौभाग्य है' कि जिससे समस्त प्राणियों का कल्याण होता है, ऐसे सर्वगुणसम्पन्न धर्म का सत्पुरुषों ने उपदेश दिया है ।^१ यह धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा है ।^२

इन बारह प्रकार की भावनाओं के सतत अनुचिन्तन से मन एकाग्र होता है और इन्द्रियाँ वश में होती हैं । मन के एकाग्र होने से स्व-संवेदन के द्वारा आत्मा की अनुभूति होती है । इसी आत्मानुभूति के द्वारा जीवनमुक्त दशा और अन्त में परम पद मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

(ग) बराह भिक्षु प्रतिमाएं :

दशाश्रुतस्कन्ध में भिक्षु-प्रतिमाओं का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है । इसे देखने से पता लगता है । कि इनके नाम समय की सीमा के आधार पर रखे गए हैं तथा इन प्रतिमाओं में एक निश्चित क्रम के अनुसार अनशन और ऊनोदरी तप का अभ्यास किया जाता है ।

भिक्षु प्रतिमा का अर्थ बतलाते हुए कहा गया है कि 'प्रतिज्ञा अर्थात् अभिग्रह विशेष को प्रतिमा कहते हैं । जो तप और संयम में व्यवस्थित होकर कृत, कारित और अनुमोदित रूप से शुद्ध भिक्षा द्वारा अपना जीवन-निर्वाह करता है वह ही भिक्षु है, वही उसकी भिक्षु प्रतिमा है ।'^३ ये भिक्षु प्रतिमाएँ भी बारह होती हैं^४—

१. मासिकी प्रथम भिक्षु प्रतिमा : मासिकी अर्थात् एक मास-पर्यन्त रहने वाली । इसी से इसे मासिकी भिक्षु प्रतिमा कहते हैं । इस व्रत में प्रतिमाधारी भिक्षु एक मास तक प्रतिदिन एक दत्ति अन्न की और एक दत्ति पानी की लेने का नियम करता है ।^५ यहाँ दत्ति से अभिप्राय है—जब तक दाता द्वारा दर्वी (कड़छी) अथवा कटोरा आदि से दिए जाते हुए पदार्थ की धारा न टूटे, अखण्ड बनी रहे तब तक वह दत्ति कही जाती है ।

२-७ द्वितीय से सप्तम प्रतिमा तक : दूसरी प्रतिमा में दो दत्ति आहार की और दो दत्ति पानी की ग्रहण की जाती हैं । इसी प्रकार अन्न और पानी की एक-एक दत्ति की वृद्धि तीसरी प्रतिमा से सातवीं प्रतिमा तक यह प्रक्रिया चलती रहती है । तात्पर्य यह है कि जितने

१. दे०—(संघवी), त०सू०, पृ० २१३

२. तपःसंयमव्यवस्थितः कृतकारितानुमोदितपरिहारेण शुद्धमशनादिकं भिक्षुक इत्येवंशीलो भिक्षुस्तस्य प्रतिमाः= प्रतिज्ञाः अभिग्रहविशेषा इति यावत् प्रज्ञप्ताः ।।
दशा० ८.१ पर टीका

३. वही, ७.२

४. मासियं णं भिक्षुपुडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पइ एगा दत्ती भोयणस्स पडिगाहत्तिए, एगा पाणस्स । वही, ७.४

मास की प्रतिमा होती है उतनी ही अन्न और पानी की दत्तियाँ प्रतिमाधारी भिक्षु ग्रहण करता है। इनमें प्रत्येक प्रतिमा का समय एक मास होता है।^१

८. आठवीं प्रतिमा : यह प्रतिमा सात अहोरात्रि की होती है। इसमें एकान्तर चौविहार उपवास करना तथा गाँव के बाहर उत्तानासन (आकाश की ओर मुंह करके लेटना), पार्श्वसन (एक करवट से लेटना) या निषद्यासन (जमीन पर बैठक लगाकर बैठना) से ध्यान लगाना एवं उपसर्ग आदि आने पर शान्तचित्त से सहना इत्यादि क्रियाएं की जाती हैं।^२

९. नवमी प्रतिमा : यह भी सात अहोरात्रि की ही होती है। विशेषता केवल इतनी है कि इसमें दूसरी प्रकार के तीन आसन किए जाते हैं। वे हैं—

(१) **दण्डासन-** इस आसन में साधक भिक्षु दण्ड के समान लम्बा होकर सोता है, (२) **लगुडासन-** इसमें भिक्षु वक्रकाष्ठ की तरह कुबड़ा होकर मस्तक और पैर की एड़ी द्वारा पृथ्वी का स्पर्श करता है किन्तु यहाँ उसकी पीठ का भाग पृथ्वी को स्पर्श नहीं करता और (३) **उत्कुटासन—** इसमें भिक्षु साधक भूमि पर पुत न लगाकर पैरों पर बैठता है।^३

१०. दसवीं प्रतिमा : यह प्रतिमा भी सात अहोरात्रि की ही होती है। इसमें अलग प्रकार के तीन आसन किए जाते हैं। वे हैं—

(क) **गोदोहिकासन :** जिस प्रकार गाय को दोहने के लिए बैठते हैं उसी प्रकार पाँवों के तलों को उठाकर बैठना।

(ख) **वीरासन :** यदि कोई व्यक्ति सिंहासन पर बैठा हो और कोई दूसरा व्यक्ति आकर उसके नीचे से सिंहासन हटा दें और बैठने वाला उसी प्रकार से अविचल रूप से बैठा रहे, उसी प्रकार से बैठना वीरासन है।

(ग) **आम्रकुब्जासन :** जिस प्रकार आम का फल वक्राकार होता है उस प्रकार से बैठना आम्रकुब्जासन कहलाता है। इनमें से किसी भी आसन में ध्यान लगाया जा सकता है। बाकी उपवास आदि की

१. दे०- वही, ७.२३

२. दे०- दशा० ७.२४

३. वही, ७.२५

क्रियाएँ उसी प्रकार से चलती हैं ।^१

११. ग्यारहवीं प्रतिमा : यह भिक्षु प्रतिमा एक अहोरात्रि अर्थात् आठ प्रहर की होती है । यहाँ इतना विशेष है कि—यह चौविहार षष्ठभक्त से की जाती है ।

चतुर्विध आहार का त्याग कर नगर से बाहर दोनों हाथों को घुटनों की ओर लम्बा करके दण्डायमान रूप में खड़े होकर कायोत्सर्ग किया जाता है ।^२

१२. बारहवीं प्रतिमा : एकरात्रि की बारहवीं प्रतिमा में केवल एक रात की आराधना होती है । इसमें चौविहार अष्टभक्त के साथ ग्राम या नगर से बाहर निर्जन स्थान में खड़े होकर, मस्तक को थोड़ा सा झुकाकर, किसी एक पुद्गल पर निर्निमेष दृष्टि रखकर निश्चलतापूर्वक कायोत्सर्ग किया जाता है । देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी जितने भी उपसर्ग उत्पन्न हों उन सबको सहन करता है । तभी यह प्रतिमा पूर्ण होती है ।^३

(घ) पच्चीस प्रकार की प्रतिलेखना :

साधु के लिए दो क्रियाएँ करना अत्यन्त आवश्यक है—प्रतिलेखना एवं प्रमार्जना । 'आंखों से देखना' प्रतिलेखना है जबकि 'प्रमार्जिका आदि से साफ करना' प्रमार्जना है । भिक्षु द्वारा ये दोनों क्रियाएँ प्रातः एवं सायं प्रतिदिन की जाती हैं । इसके अतिरिक्त पात्र इत्यादि उपकरणों को उठाते एवं रखते समय भी इन क्रियाओं को करना होता है ।^४ इन क्रियाओं के करने से षट्काय के जीवों की रक्षा होती है और न करने से उन जीवों की हिंसा सम्भव है ।^५ अतः अहिंसाव्रत का पालन करने वाले भिक्षु के लिए इन्हें करना आवश्यक है ।

यह प्रतिलेखना पच्चीस प्रकार की होती है—

(अ) विधिपरक प्रतिलेखना के छह भेद^६ :

(१) उड्डं (ऊर्ध्वम्) उकडूं आसन से बैठकर वस्त्र को भूमि से

१. दे०— दशा० ७.२५

२. वही, ७.२६

३. वही, ७.२७

४. चक्रबुसा पडिलेहिता पमज्जेज्ज जयं जई ।

आइए निक्खिवेज्जा वा दुहओ वि समिए सया ।।

उ० २४.१४

५. दे०— वही, ३६.३०— ३१

६. उड्डं थिरं अतुरियं पुव्वं ता वत्थमेव पडिलेहे ।

तो विइयं पफोडे तइयं च पुणो पमज्जेज्जा ।। वही, २६. २४

ऊँचा रखते हुए प्रतिलेखन करना उड़द प्रतिलेखना है।

(२) थिरं (स्थिरम्) वस्त्र को दृढ़ता से स्थिर रखते हुए प्रतिलेखन करना थिर प्रतिलेखना है।

(३) अतुरियं (अत्वरितम्) उपयोगयुक्त होकर जल्दी न करना अतुरिय प्रतिलेखना है।

(४) पडिलेह (प्रतिलेख) : वस्त्र के तीन भाग करके उसे दोनों ओर से अच्छी तरह देखना प्रतिलेख प्रतिलेखना है।

(५) पप्फोड (प्रस्फोट) : देखने के बाद यतनापूर्वक धीरे-धीरे झड़काना पप्फोड प्रतिलेखना है।

(६) पमज्जेज्जा (प्रमार्जन) : झड़काने के बाद वस्त्र आदि पर चिपके हुए जीव को यतनापूर्वक प्रमार्जन कर हाथ में लेना और फिर उसे एकान्त में छोड़ना पमज्जेज्जा प्रतिलेखना है।

(आ) अप्रमाद प्रतिलेखना के छह भेद^१ :

(१) अनर्तित : प्रतिलेखना करते समय शरीर और वस्त्र को नचाना नहीं चाहिए।

(२) अवलित : प्रतिलेखना करते समय वस्त्र कहीं से मुड़ा हुआ नहीं होना चाहिए तथा साधु को भी प्रतिलेखना करते समय सीधे बैठना चाहिए।

(३) अननुबन्धी : प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को झटकाना नहीं चाहिए।

(४) अमोसली : प्रतिलेखना करते समय, धान्य आदि कूटने के समय ऊपर, नीचे या तिरछे लगने वाले मूसल की तरह वस्त्र को ऊपर, नीचे या तिरछे दीवार आदि से नहीं लगाना चाहिए।

(५) षट्पुरिमनवस्फोटका : प्रतिलेखना में छः पुरिम और नव खोड़ करने चाहिए। वस्त्र के दोनों हिस्सों को तीन-तीन बार टटोलना छः पुरिम हैं तथा वस्त्र को तीन-तीन बार पोंछ कर उसका तीन बार शोधन करना नव खोड़ है।

(६) पाणिप्राणविशोधन : वस्त्र आदि पर चलता हुआ कोई जीव दिखाई दे तो यतनापूर्वक हाथ से उसका शोधन करना चाहिए।

१. अणच्चावियं अवलियं अणाणुबन्धिं अमोसलिं चेव।

छप्पुरिमा नवखोडा पाणीपाणविसोहणं ।। उ० २६.२५

(इ) प्रमाद प्रतिलेखना के तेरह भेद : इन्हें प्रतिलेखना के दोष भी कहा जाता है। ये इस प्रकार हैं^१

(१) आरभटा : विपरीत रीति से जल्दी—जल्दी प्रतिलेखना करना अथवा एक वस्त्र की प्रतिलेखना अधूरी छोड़कर दूसरे वस्त्र की करने लग जाना।

(२) सम्मर्दा : प्रतिलेखना करते समय वस्त्र के कोने मुड़े रहें अर्थात् सिलवट न निकाली जाए अथवा उस पर बैठे हुए ही प्रतिलेखना करना।

(३) मोसली : जैसे धान्य आदि कूटते समय मूसल ऊपर नीचे या तिरछा जाता है, उसी प्रकार प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को ऊपर, नीचे या तिरछा लगाना।

(४) प्रस्फोटना : जिस प्रकार धूल से भरे हुए वस्त्र को जोर से झटकाया जाता है, उसी प्रकार प्रतिलेखना के वस्त्र को जोर से झटकाना।

(५) विक्षिप्ता : प्रतिलेखना किए हुए वस्त्रों को प्रतिलेखना न किए हुए वस्त्रों में मिला देना अथवा वस्त्रों को इधर—उधर फैंक कर प्रतिलेखना करना।

(६) वेदिका : प्रतिलेखना करते हुए घुटनों के ऊपर—नीचे या बीच में दोनों हाथ रखना, अथवा दोनों भुजाओं के बीच घुटनों को रखना, या एक घुटना भुजाओं में और दूसरा बाहर रखना।

(७) प्रशिथिल : वस्त्र को ढीला पकड़ना।

(८) प्रलम्ब : वस्त्र को इस तरह पकड़ना कि उसके कोने लटकते रहें।

(९) लोल : प्रतिलेखना किए जाने वाले वस्त्र को भूमि से या हाथ से रगड़ना।

(१०) एकाग्रशर्मा : वस्त्र को बीच से पकड़ कर एक दृष्टि में ही समूचे वस्त्र को देख जाना।

१. आरभडा सम्पहा वज्जेयव्वा य मोसली तइया।

पप्फोडणा चउत्थी विक्खित्ता वेइया छट्ठा।।

पसिद्धिल—पलम्ब—लोला एगामोसाअणेगरुवधुणा।

कुणइ पमाणि पमायं संकिए गणणोवगं कुज्जा।। उ० २६.२६—२७

(११) **अनेकरूपधूना** : वस्त्र को अनेक बार—तीन बार से अधिक झटकाना अथवा अनेक वस्त्रों को एक साथ एक बार में ही झटकाना ।

(१२) **प्रमाणप्रमाद** : प्रस्फोटन और प्रमार्जन का जो प्रमाण (नौ—नौ बार) बताया है, उसमें प्रमाद करना ।

(१३) **गणनोपगणना** : प्रस्फोटन और प्रमार्जन के प्रमाण में शंका होने पर हाथ की अंगुलियों की पर्वरेखाओं से गिनती करना और उससे उपयोग का चूक जाना अर्थात् ध्यान कहीं दूसरी तरफ चले जाना गणनोपगणना ।

इस प्रकार छह प्रकार की विधिपरक प्रतिलेखना, छह प्रकार की अप्रमाद प्रतिलेखना और तेरह प्रकार की प्रमाद प्रतिलेखना यह पच्चीस प्रकार की प्रतिलेखना होती है ।

(ड) **चार प्रकार का अभिग्रह** :

अभिग्रह से अभिप्राय है—प्रतिज्ञा विशेष । द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से अभिग्रह के भी चार प्रकार होते हैं ।^१

भगवान् महावीर ने अपनी घोर तपस्या के समय इस प्रकार का अभिग्रह ग्रहण किया था—द्रव्य से उड़द के फुकले सूप के कोने में हों, क्षेत्र से देहली, के बीच खंडी हो, काल से भिक्षा का समय बीत चुका हो, भाव से राजकुमारी दासी बनी हो, हाथ में हथकड़ी और पांवों में बेड़ी हो, मुंडित हो, आंखों में आंसू और जो तेले की तपस्या किए हुए हो, इस प्रकार की स्त्री के हाथ से आहार मिलेगा तो लूंगा, अन्यथा नहीं ।^२

इस प्रकार का अभिग्रह पूरा न होने तक भगवान् महावीर अपनी तपस्या में अटल रहें । पाँच मास और पच्चीस दिन के पश्चात् इस प्रकार के लक्षणों वाली चम्पानेरश दधिवाहन की पुत्री राजकुमारी चन्दन बाला से महावीर स्वामी ने भिक्षा ग्रहण की थी ।^३

१. दब्बे खित्ते काले भावे य अभिग्रहा विणिदिट्ठा ।

प्रवचनसारोद्धार, गा० ५६६

२. स्वामिना तत्र पौषबहुलप्रतिपदि अभिग्रहो जगृहे—यथा द्रव्यतः कुल्माषान् सूर्पकोणेन, क्षेत्रतो देहल्या एकं पादमारत एकं परतः कृत्वा, कालतो निर्वृत्तेषु भिक्षाचरेषु राजसुता दसत्वमाप्ता निगडिता रुदती मुण्डितमस्तका, अष्टमभक्तिका, चेद्दास्यति तदा ग्रहिष्यामीति ।
आ०नि०, अवचूर्णि गा० ५२०—२१

३. इतश्च चम्पेश दधिवाहनधारिणीसुता वसुमती चन्दनबालेति—
पञ्चदिनोनया षण्णमास्या स्वामिना भिक्षा लब्धा ।।
वही, गा० ५२०—२१

पाँच समिति, तीन गुप्ति और पाँच प्रकार का इन्द्रिय—निरोध इनका वर्णन आचार्य के गुणों के प्रसंग में हो चुका है। इस प्रकार सत्तर प्रकार का करण पूरा हुआ।

(३) चरणसप्तति के धारक उपाध्याय :

उपाध्याय का एक गुण चरणसप्तति से युक्त होना भी है। चरण का अर्थ है—चारित्र। चरण और करण में अन्तर यही है कि 'जिसका नित्य आचरण किया जाए' उसे चरण कहते हैं और 'जो प्रयोजन होने पर ही किया जाए' उसे करण कहते हैं।

करण के समान चरण भी सत्तर प्रकार का है—पाँच महाव्रत, दशविध श्रमणधर्म, सतरह प्रकार का संयम, दस प्रकार का वैयावृत्य, नौ ब्रह्मचर्य की गुप्ति, ज्ञान—दर्शन—चारित्ररूप रत्नत्रय, बारह प्रकार का तप और चार कषायों का निग्रह, ये सत्तर प्रकार के चरण होते हैं।^१

(क) दशविध श्रमण-धर्म :

जो आत्मा को संसार के दुःखों से छुड़ाकर उत्तम स्थान (मोक्षपद) में पहुँचा दे वह धर्म है।^१ क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आर्किचज्य और ब्रह्मचर्य ये दश उत्तम धर्म हैं।^२ क्षमा आदि दस प्रकार का यह धर्म जब अहिंसा आदि मूलगुणों तथा आहार—शुद्धि आदि उत्तरगुणों के प्रकर्ष से युक्त होता है तभी श्रमण—धर्म बनता है, अन्यथा नहीं। अतः मूलगुणों तथा उत्तरगुणों की प्रकृष्टता अत्यन्त आवश्यक है। ये दश धर्म इस प्रकार हैं—

(१) क्षमा : आहार को लेने के लिए दूसरों के घर जाने वाले मुनि को दुष्टजनों के द्वारा गाली आदि दिए जाने पर या काय—विनाश आदि के उपस्थित होने पर भी मन में किसी प्रकार का क्रोध न करना क्षमा धर्म है।^३

(२) मार्दव : ज्ञान, पूजा आदि आठ पदार्थों के घमण्ड को छोड़कर दूसरों के द्वारा तिरस्कार होने पर भी अभिमान न करना मार्दव धर्म है।^४

१. वय समणधम्म संजम वेयावच्चं च बम्भगुत्तीओ।

नाणाइतियं तव कोहणिग्गहा इह चरणमेयं ।। प्रवचनसारोद्धार, गा० ५५२

२. संसारसागरादुद्धृतय इन्द्रनरेन्द्रधरणेन्द्रादिवन्दिते पदे आत्मानं धरतीति धर्मः।

त०वृ० ६.२, पृ० २८२

३. उत्तमः क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः।—त० सू० ६.६

४. कायस्थितिजारणविष्णाया धन्वेषणाय परगृहान् पर्यटतो मुनेः दुष्टपापिष्ठपञ्चजनानामस ह्यगालिप्रदानवर्करवधनावहेलनपीडाजननकायाविनाशनादीनां समुत्पत्तौ मनोऽनच्छतानुत्पादः क्षमा कथ्यते। त०वृ० ६.६, पृ० २८४

५. दे०—वही

(३) आर्जव : मन, वचन और काय से माया अर्थात् छल—कपट का त्याग कर देना आर्जव धर्म है ।^१

(४) शौच : धर्म के साधनों तथा शरीर तक में भी आसक्ति न रखना—ऐसी निर्लोभता ही शौच है ।^२

(५) सत्य : हितकारी व यथार्थ वचन बोलना ही सत्य है । जैन शास्त्रों में कहे हुए आचार को पालने में असमर्थ होते हुए भी जिनवचन का ही कथन करना तथा व्यवहार में भी झूठ न बोलना यथार्थ सत्य धर्म है ।^३

(६) संयम : छह काय के जीवों की हिंसा का त्याग करना और इन्द्रियों के विषयों को छोड़ देना संयम कहलाता है ।^४

(७) तप : उपार्जित कर्मों के क्षय के लिए आत्मदमन रूप बारह प्रकार के तपों का करना तप नामक धर्म है ।^५

(८) त्याग : पात्र को ज्ञानादि सद्गुण प्रदान करना ही त्याग कहलाता है ।^६

(९) आकिञ्चन्य : पर पदार्थों में यहाँ तक कि अपने शरीर में भी 'ममेद' या मोह का त्याग कर देना आकिञ्चन्य धर्म है ।^७

(१०) ब्रह्मचर्य : मन, वचन और काय से स्त्री सेवन का त्याग कर देना ब्रह्मचर्य है । स्वेच्छाचारपूर्वक प्रवृत्ति को रोकने के लिए गुरुकुल में निवास करने को भी ब्रह्मचर्य कहते हैं ।^८

(ख) सतरह प्रकार का संयम :

समिति एवं गुप्ति का पालन करने वाला मुनि जो प्राणियों और इन्द्रियों

१. मनोवचनकायकर्मणामकौटिल्यमार्जवमभिधीयते । त०वृ० ६.६, पृ० २८४
२. उत्कृष्टतासमागतगाढ्यपरिहरणं शौचमुच्यते । वही, पृ २८५
३. जिवयणमेव मासदि तं पालेदुं असक्कमाणो वि ।
ववहारेण वि अलियं ण वददि जो सच्चवाई सो ।।
कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा० ३६८
४. धर्मोपचयार्थं धर्मोबृहन्गार्थं समितिषु प्रवर्तमानस्य पुरुषस्य तत्प्रतिपालनार्थं प्राणव्यपरोपणषडिन्द्रियविषयपरिहरणं संयम उच्यते । त०वृ० ६.६, पृ० २८५
५. उपार्जिकर्मक्षयार्थं तपस्विना तप्यते इति तपः । वही
६. संयमिनां योग्यं ज्ञानसंयमशौचोपकरणादिदानं त्याग उच्यते । त०वृ० ६.६, पृ० २८५
७. नास्ति अस्य किञ्चन किमपि अकिञ्चनो निष्परिग्रह तस्य भावः कर्म वा आ—आकिञ्चन्यम् । वही
८. पूर्वानुभुक्तवनितास्मरणं वनिताकथास्मरणं वनितासङ्गसक्तस्य शय्यासनादिकञ्च अब्रह्म तदवर्जनात् ब्रह्मचर्यं परिपूर्णं भवति । स्वेच्छाचारप्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थं गुरुकुलवासौ वा ब्रह्मचर्यमुच्यते । वही

का परिहार करता हैं उसे संयम कहते हैं। यह सतरह प्रकार का बतलाया गया है^१—

(१-५) हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रहरूप पाँच आस्रवों से विरत रहना।

(६-१०) स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँच इन्द्रियों को उनके विषयों की ओर जाने से रोकना अर्थात् उन्हें वश में करना।

(११-१४) क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार कषायों का त्याग करना।

(१५-१७) मन, वचन और काय की अशुभ प्रवृत्तिरूप तीन दण्डों (योगों) से विरत होना।

(ग) दश प्रकार का वैयावृत्य :

इसका वर्णन वैयावृत्य तप के अन्तर्गत किया जाएगा।

(घ) रत्नत्रय के धारक :

उपाध्याय सम्यग्दर्शन, सम्यग ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय के धारक होते हैं।

(अ) सम्यग्दर्शन :

सम्यग्दर्शन का अर्थ है—सत्य का देखना या सत्य का साक्षात्कार करना, परन्तु सत्य का पूर्ण साक्षात्कार चक्षु इन्द्रिय के द्वारा सम्भव न होने से सत्यभूत जो नौ पदार्थ^२ जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष बतलाए गए हैं, उनके सद्भाव में विश्वास करना सम्यग्दर्शन है।^३

इन नौ पदार्थों का श्रद्धान हो जाने पर चेतन—अचेतन का भेदज्ञान हो जाता है, संसारिक विषयों से विरक्ति और मोक्ष के प्रति लगाव हो जाता है। इस प्रकार के भावों के उत्पन्न होने पर मनुष्य धीरे—धीरे सत्य का पूर्ण साक्षात्कार कर लेता है।

१. पंचासवा विरमणं पंचिंदियनिग्गहो कसायजओ।

दंडत्तयस्य विरई सतरसहा संजमो होई।।

प्रवचनसारोद्धार, गा० ५५६

२. जीवाजीवा य बन्धो य पुण्णं पावासवो तहा।

संवरो निज्जरा मोक्खो सन्ते ए तहिया नव।। उ० २८.२४

३. तहियाणं तु भावाणं सम्भावे उवस्सणं।

भावेणं सद्दहंतस्स सम्मत्तं तं वियाहियं।। वही, २८.१५

(क) सम्यग्दर्शन के आठ अंग :

सम्यग्दर्शन आठ विशेष बातों पर निर्भर करता है। ये सम्यग्दर्शन के अंग कहलाते हैं^१—

(१) निःशंकित : जिनेन्द्र देव के वचनों में किसी प्रकार की शंका न करते हुए दृढ़ प्रतीति रखना।

(२) निःकांक्षित : इस लोक और परलोक सम्बन्धी आकांक्षा का अभाव होना।

(३) निर्विचिकित्सा : रत्नत्रय से पवित्र मुनिजनों के शरीर—सम्बन्धी मल आदि के देखने से ग्लानि नहीं करना।

(४) अमूढदृष्टि : जिनेन्द्र भगवान् के वचनों में शिथिलता नहीं करना, मिथ्या—दृष्टियों के कल्पित तत्त्वों में मोह न करना।

(५) उपबृंहण : गुणी पुरुषों की प्रशंसा करना उपबृंहण कहलाता है। इसके स्थान पर उपगूहन शब्द भी आता है जिसका अर्थ है बालक, वृद्ध आदि असमर्थ जनों के दोष छिपाना।

(६) स्थिरीकरण : धर्म—घात का कारण उपस्थित होने पर किसी को धर्म—घात से बचाना स्थिरीकरण है।

(७) वात्सल्य : धर्मात्मा व्यक्ति का उपसर्ग दूर करना वात्सल्य गुण कहलाता है।

(८) प्रभावना : जिन धर्म का उद्योत करना, उसका प्रचार एवं प्रसार करना ही प्रभावना कहलाती है।^२

सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए इन आठ अंगों से युक्त होना अत्यन्त आवश्यक है।

(ख) सम्यग्दर्शन के भेद :

कर्म—सिद्धान्त के अनुसार दर्शन मोहनीय कर्म के उदय में न होने से ही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है। उत्पत्ति में निमित्त कारण की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन के निम्नलिखित दश प्रकार बतलाए गए हैं^३—

१. निस्संकिय निक्कंखिय निब्बितिगिच्छा अमूढदिट्ठीया

उवबूह थिरीकरणे वच्छल्ल पभावणे अट्ठ ।। उ० २८.३१

२. दे० चारित्तपाहुड, गा० टी०, ७

३. निसग्गुवएसरूई आणारूई सुत्त—वीसरूइमेव।

अभिगम—वित्थारूई किरिया—सखेव—धम्मरूई । उ० २८.१६

(१) **निसर्गरुचि** : निसर्गरुचि से अभिप्राय है—स्वतः उत्पन्न । गुरु आदि के उपदेश के बिना स्वयं के ही यथार्थ बोध से जीव आदि तथ्यों में श्रद्धा होना कि ये वैसे ही हैं जैसे जिनेन्द्र भगवान् ने देखे हैं, अन्यथा नहीं हैं ।^१

(२) **उपदेशरुचि** : गुरु आदि के उपदेश से जीव आदि तथ्यों में श्रद्धा होना? उपदेशरुचि है ।

इसकी उत्पत्ति में परोपदेश निमित्तकारण होता है ।

(३) **आज्ञारुचि** : गुरु आदि के आदेश से तथ्यों में श्रद्धा होना आज्ञारुचि है ।^२ उपदेशरुचि में गुरु के उपदेश की जबकि आज्ञारुचि में गुरु की आज्ञा की प्रधानता रहती है ।

(४) **सूत्ररुचि** : 'सूत्र' से अभिप्राय है—अंग या अंग बाह्य जैनागम सूत्र—ग्रन्थ ।

अतः सूत्र ग्रन्थों के अध्ययन से जीव आदि तथ्यों में श्रद्धा होना सूत्ररुचि है ।^३

(५) **बीजरुचि** : जैसे जल में तेल की बूंद फैल जाती है, वैसे ही जो सम्यक्त्व एक पद (तत्त्व बोध) से अनेक पदों में फैल जाता है, वह बीजरुचि है ।^४

(६) **अभिगमरुचि** : अंग और अंग बाह्य सूत्र—ग्रन्थों के अर्थज्ञान से उत्पन्न होने वाला सम्यग्दर्शन अभिगमरुचि कहलाता है ।^५ सूत्ररुचि और अभिगमरुचि सम्यग्दर्शन में विशेष अन्तर यही है

१. भूयत्थेणाहिगया जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
सहसम्मूहयासवसंवरो य रोएइ उ निसगो ॥
जो जिणदिट्ठे भावे चउळिहे सइहाइ सयमेव ।
एमेव नन्नहत्ति य निसगरूइ ति नायव्वो ॥ वही, २८.१७-१८
२. एए चेव उ भावे उवइट्ठे जो परेण सहइ ।
छउमत्थेण जिणेण व उवस्सरूइ ति नायव्वो ॥ उ० २८.१९
३. रागो दोसो मोहो अन्नाणं जरस्स अवगयं होइ ।
आणाए रोयंतो सो खलु आणारूई नाम ॥ वही, २८.२०
४. जो सुत्तमहिज्जन्तो सुएण ओगाहई उ सम्मत्त ।
अंगेण बाहिरेण व सो सुत्तरूइ ति नायव्वो ॥ वही, २८.२१
५. एणेण अणेगाइ पयाइ जो पसरई उ सम्मत्तं ।
उदएव्व तेल्लविन्दु सो बीयरूइति नायव्वो ॥ वही, २८.२२
६. सो होइ अधिगमरूई सुयनाणं जेण अत्थओ दिट्ठं ।
एक्कारस अंगाइ पइण्णगं दिट्ठवाओ य ॥ उ० २८.२३

कि सूत्ररुचि में अर्थज्ञान अपेक्षित नहीं है जबकि अभिगमरुचि में सूत्र—ग्रन्थों का अर्थज्ञान भी अपेक्षित होता है ।

(७) विस्ताररुचि : ज्ञान के सभी स्रोत—प्रमाणों और नयों के द्वारा जीव आदि द्रव्यों के समझने पर जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, वह विस्ताररुचि कहलाता है ।^१ इस तरह विस्तार के साथ जीव आदि द्रव्यों के समझने के बाद उत्पन्न होने के कारण ही इसका नाम विस्ताररुचि है ।

(८) क्रियारुचि : रत्नत्रयसम्बन्धी धार्मिक क्रियाओं (तप, विनय आदि) को करते रहने से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, वह क्रियारुचि है ।^२

(९) संक्षेपरुचि : अनेक प्रकार के मतवादों में न पड़कर मात्र जैन—प्रवचन में श्रद्धा करना संक्षेपरुचि है ।^३ बीजरुचि में संक्षेप से विस्तार की ओर प्रवृत्ति होती है जबकि संक्षेपरुचि में विस्तार नहीं होता कारण कि संक्षेपरुचि सम्यक्त्व वाला न तो भिन्न—भिन्न प्रकार के मिथ्या प्रवचनों में पड़ता है और न ही जिन—प्रवचन में पूर्ण कुशलता प्राप्त करता है ।

(१०) धर्मरुचि : जिन—उपदिष्ट धर्म में श्रद्धा करना धर्मरुचि है ।^४ इसकी उत्पत्ति में निमित्त कारण धार्मिक विश्वास ही होता है । क्रियारुचि और धर्मरुचि में मुख्य अन्तर यही है कि क्रियारुचि में धार्मिक क्रियाओं की प्रधानता है जब कि धर्मरुचि में धार्मिक—भावना की ।

(आ) सम्यग्ज्ञान :

सम्यग्ज्ञान का अर्थ है—सत्य ज्ञान । जो मुनि जिनेन्द्रदेव के मत से जीव और अजीव के विभाग को जानता है उसे सर्वदर्शी भगवान् ने यथार्थ सम्यग्ज्ञानी कहा है ।^५ यद्यपि तत्त्व नौ हैं फिर भी संक्षेप से उनका जीव और

१. दव्वाण सब्बावा सब्बमाणेहिं जस्स उवलद्धा ।

सव्वाहि नयदिहीहि य वित्थाररूइ ति नायव्वो ।। वही, २८.२४

२. दंसण—नाण—चरित्ते तव—विणए सब्ब—समिइ—गुत्तीसु जो किरियामावरूइ सो खुलु किरियारूइ नाम ।। वही, २८.२५

३. अणमिग्गहिय—कुदिदुठी संखेवरूइ ति होइ नायव्वो ।

अविसारओ पवयणे अणमिग्गहिओ य सेसेसु ।। वही, २८.२६

४. जो अतिथकायधम्मं सुयधम्मं खुलु चरित्तधम्मं च ।

सद्वहइ जिणमिहियं सो धम्मरुह ति नायव्वो ।। वही २८.२७

५. जीवाजीवहिती जोई जाणेइ जिणवरमाणं ।

तं सण्णाणं भणियं अवियत्थं सब्बदरिसीहिं ।। मोक्षपाहुड्ड, गा०२७

अजीव इन दो तत्त्वों में ही समावेश हो जाता है। अतः इन तत्त्वों को विधिवत् जानना ही सम्यग्ज्ञान है।

रत्नकरण्डकश्रावकाचार में भी कहा गया है कि 'जो ज्ञान वस्तु के स्वरूप को न्यूनतारहित, अधिकतारहित, विपरीततारहित और संशयरहित, जैसा का तैसा जानता है वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है।'

सम्यग्ज्ञान के भेद :

ज्ञान के आवरक पाँच प्रकार के कर्मों के उदय में न रहने से उनके **अभाव रूप पाँच प्रकार के ज्ञान** बतलाए गए हैं—(१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मनःपर्ययज्ञान और (५) केवलज्ञान।^१

(१) **मतिज्ञान** : जो ज्ञान चक्षु आदि इन्द्रियों और मन की सहायता से उत्पन्न होता है वह मतिज्ञान है।^२ वर्तमान विषयक ज्ञान का नाम मति है। मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध—ये सब मति के वाचक हैं^३ क्योंकि ये सभी ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होते हैं। इस प्रकार के ज्ञानों के लिए अभिनिबोध शब्द सामान्य रूप से व्यवहृत होता है। इस तरह मतिज्ञान को अभिनिबोधिकज्ञान भी कहा जाता है।

(२) **श्रुतज्ञान** : श्रुतज्ञान का सामान्य अर्थ है—शब्दजन्य ज्ञान। श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर मतिज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थों को विशेष रूप से जानना श्रुतज्ञान है।^४ जिन—उपदिष्ट प्रामाणिक शास्त्रों से ही सम्यक् श्रुतज्ञान प्राप्त होता है।

(३) **अवधिज्ञान** : अवधि से अभिप्राय है—सीमा। अतः इन्द्रिय आदि की सहायता के बिना कुछ सीमापर्यंत^५ जो रूपी पदार्थों के विषय में अन्तःसाक्ष्य रूप ज्ञान होता है वह अवधिज्ञान है।^६

१. अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।

निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥ रत्नक० २.१

२. मतिश्रुताऽवधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम् ॥ त०सू० १.६

३. तदिन्द्रियाऽनिन्द्रियनिमित्तम् ॥ वही, १.१४

४. मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थानतरम् ॥ वही, १.१३

५. श्रुतज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमो सति निरूप्यमाणं श्रूयते यत्तत् श्रुतम् ॥

त०वृ० १.६, पृ० ५७

६. अवधिविषयक विस्तृत अध्ययन के लिए दे०—गो० जी०, गा० ३७०—४३७

७. अवहीयदि त्ति ओही, सीमाणाणे त्ति वणिणयं समये।

भवगुणपच्चयविहियं, जमोहिणाणे त्ति णं बेत्ति ॥ गो० जी०, गा० ३७० रूपिष्ववधेः ॥ त०सू० १.२८

(४) **मनःपर्ययज्ञान** : जिसका भूतकाल में चिन्तन किया हो, अथवा जिसका भविष्यत् काल में चिन्तन किया जाएगा, अथवा अर्धचिन्तित—वर्तमान में जिसका चिन्तन किया जा रहा है, इत्यादि अनेक भेदस्वरूप दूसरे के मन में स्थित पदार्थ जिसके द्वारा जाना जाए उस ज्ञान को मनःपर्यय कहते हैं ।^१

(५) **केवलज्ञान** : जो ज्ञान त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्यों और उनकी समस्त पर्यायों का एक साथ ज्ञान कराता है, वह केवलज्ञान है ।^२ केवलज्ञान का विस्तृत विवेचन अरहन्त के स्वरूप में किया जा चुका है ।

(इ) सम्यक्चारित्र :

सम्यक्चारित्र को सदाचार का नाम भी दिया जाता है । निश्चय से स्वकीय शुद्ध रूप में निश्चल होने को सम्यक्चारित्र कहते हैं । सम्यग्ज्ञानी जीव का हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह—इन पांच पाप प्रणालियों से निवृत्त होना ही सम्यक्चारित्र है ।^३

सम्यक्चारित्र के भेद :

चारित्र के विकास—क्रम को ध्यान में रखते हुए इसे पाँच भागों में बांटा गया है—(१) सामायिक, (२) छेदोपस्थापना, (३) परिहार—विशुद्धि, (४) सूक्ष्मसाम्पराय और (५) यथाख्यातचारित्र ।^४

(१) **सामायिकचारित्र** : समभाव में स्थित रहने के लिए समस्त अशुद्ध प्रवृत्तियों का त्याग करना सामायिकचारित्र है । इसके दो भेद हैं—परिमितकाल सामायिक और अपरिमितकाल सामायिक । स्वाध्याय आदि करने में परिमितकाल सामायिक होता है और ईर्यापथ आदि में अपरिमितकाल सामायिक होता है ।^५

१. चित्तिमचितियं वा, अद्धं चित्तियणेयमेयगयं ।
मणपज्जवं ति उच्चइ, जं जाणइ तं खु णरलोए ॥ गो०जी०, गा०४३८
२. सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य । त०सू०, १.३०
३. हिंसानृतचौरय्येभ्योमैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च ।
पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥ रत्नक० ३.३
४. सामायिकश्छेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्पराययथाख्यतानि चारित्रम् । त०सू० ६.१८
५. तत्र सामायिकं द्विप्रकारम् परिमितकालमपरिमितकालञ्चेति ।
स्वाध्यायादौ सामायिकग्रहणं परिमितकालम् ।
ईर्यापथादावपरिमितकालं वेदितव्यम् । त०वृ० ६.१८, पृ० ३००

(२) **छेदोपस्थापनाचारित्र** प्रमादवश अहिंसा आदि व्रतों में दोष लग जाने पर आगमोक्त विधि से उस दोष का प्रायश्चित्त करके पुनः व्रतों का ग्रहण करना छेदोपस्थापना चारित्र है। व्रतों में दोष लग जाने पर पक्ष, मास आदि की दीक्षा का छेद करके पुनः व्रतों में स्थापना करना छेदोपस्थापनाचारित्र है।^१

(३) **परिहारविशुद्धिचारित्र** : परिहार से अभिप्राय है—प्राणिवध—निवृत्ति। जिस चारित्र में जीवों की हिंसा का त्याग होने से विशेष शुद्धि (कर्ममल का नाश) हो उसको **परिहारविशुद्धिचारित्र** कहते हैं।^२ जिस मुनि की आयु बत्तीस वर्ष की हो, जो बहुत काल तक तीर्थंकर के चरणों में रह चुका हो, प्रत्याख्यान नामक नवम पूर्व में कहे गए सम्यक् आचार का जानने वाला हो, प्रमादरहित हो और सन्ध्याकालों को छोड़कर केवल दो गव्यूति (चार मील) गमन करने वाला हो उस मुनि के **परिहारविशुद्धिचारित्र** होता है।^३

(४) **सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र** : जिस चारित्र में क्रोध आदि कषायों का तो उदय नहीं होता, केवल लोभ कषाय का अंश अतिसूक्ष्मरूप में रहता है, वह **सूक्ष्मसाम्परायचारित्र** है।^४

(५) **यथाख्यातचारित्र** : सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के उपशम या क्षय होने पर आत्मा के अपने स्वरूप में स्थिर होने को यथाख्यात चारित्र कहते हैं। यथाख्यात का अर्थ है कि आत्मा के स्वरूप को जैसा का तैसा कहना। यथाख्यात का दूसरा नाम अथाख्यात भी है जिसका अर्थ है कि इस प्रकार के उत्कृष्ट चारित्र को जीव ने पहले प्राप्त नहीं किया था और मोह के उपशम या क्षय हो जाने पर प्राप्त किया है।^५

१. प्रमादेन कृतो योऽत्यर्थः प्रबन्धो हि हिंसादीनामव्रतानामनुष्ठानं तस्य विलोपे सर्वथा परित्यागे सम्यगागमोक्तविधिना प्रतिक्रिया पुनर्व्रतारोपणं छेदोपस्थाना, छेदेन दिवसपक्षमासादिप्रव्रज्याहापनेनोपस्थापना व्रतारोपणं छेदोपस्थापना। वही।
२. परिहरणं परिहारः प्राणिवधनिवृत्तिरित्यर्थः। परिहारेण विशिष्टाशुद्धिः कर्ममलकलङ्कप्रक्षालनं यस्मिन् चारित्रे तत्परिहारविशुद्धिः चारित्रमिति वा विग्रहः। त०वृ० ६.१८, पृ० ३००
३. दे०—वही
४. अतीव सूक्ष्मलोभो यस्मिन् चारित्रे तत् सूक्ष्मसाम्परायं चारित्रम्। वही।
५. सर्वस्य मोहनीयस्योपशमः क्षयो वा वर्तते यस्मिन् तत् परमौदासीन्यलक्षणं जीवस्वभावदशं यथाख्यातचारित्रम्। यथा स्वभावः स्थितस्तैवाख्यातः कथित आत्मनो यस्मिन् चारित्रे तद् यथा ख्यातिमिति निरुक्तेः। यथाख्यात—स्य अथाख्यातमिति च द्वितीया संज्ञा वर्तते। तत्रायमर्थः—चिरन्तनचारित्रविधायिभिर्यदुत्कृष्टं चारित्रमाख्यातं कथितं तादृशं चारित्रं पूर्वं जीवेन न प्राप्तम्, अथ अनन्तरं मोहक्षयोपशमाम्यां तु प्राप्तं यच्चारित्रं तत् अथाख्यातमुच्यते। वही

(ड) बारह प्रकार के तप के धारक :

वासनाओं को क्षीण करने तथा समुचित आध्यात्मिक शक्ति की साधना के लिए शरीर, इन्द्रिय और मन को जिन-जिन उपायों से तपाया जाता है, वे सभी तप कहे जाते हैं ।

हमारी आत्मा के साथ चिपके हुए कर्मों की संख्या बहुत अधिक है, उन्हें आयु के अल्पकाल में ही भोग कर समाप्त नहीं किया जा सकता । अतः जिस प्रकार एक विशाल तालाब के जल को सुखाने के लिए जल के द्वार को बन्द करने के अतिरिक्त उसके जल को उलीचने एवं सूर्य आदि के ताप से सुखाने की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार संयमी को भी पूर्वसंचित कर्मों को नष्ट करने के लिए अहिंसा आदि व्रतों के अतिरिक्त तप की भी आवश्यकता पड़ती है ।^१

तप को प्रथमतः बाह्य और आभ्यन्तर इन दो भागों में बांटा गया है । जिसमें शारीरिक क्रिया की प्रधानता हो वह बाह्य तप है तथा जिसमें मानसिक क्रिया की प्रधानता हो वह आभ्यन्तर तप कहलाता है । फिर दोनों के छह-छह भेद बतलाए गए हैं ।

(अ) बाह्य तप के छह भेद^२

(१) अनशन तप : सब प्रकार के भोजन पान का त्याग करना उपवास अथवा अनशन तप है ।^३ यह दो प्रकार का होता है—(१) इत्वरिक और (२) मरणकाल ।

इत्वरिक तप में साधक सावकांक्ष अर्थात् निर्धारित समय के बाद पुनः भोजन की आकांक्षा वाला होता है और मरणकाल तप निरवकांक्ष अर्थात् भोजन की आकांक्षा से सर्वथा रहित होता है ।^४ इस प्रकार यह तप इत्वरिक की तरह सावधिक न होकर जीवनपर्यन्त चलने वाला होता है ।

१. जहा महातलायस्स सन्निरुद्धे जलागमे ।

उस्सच्चिंणाए तवणाए कमेणं सोसणा भवे ।।

एवं तु संजयस्सावि पावकम्मनिरासवे ।

भवकोडीसंघियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जई ।। उ०. ३०.५-६

२. अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशाः बाह्यंतपः ।

त०सू० ६.१६

३. अनशनमुपवासः । भावपाहुड, गा० टी०, ७८, पृ० ३५३

४. इत्तिरिया मरणकाले दुविहा अणसणा भवे

इत्तिरिया सावकरवा निरवकंखा बिइज्जिया ।। उ० ३०.६

(२) अवमौदर्य तप जितनी आहार मात्रा है, उससे कम खाना—अवमौदर्य तप है ।^१ इसे ऊनोदरी तप भी कहा जाता है । द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर्यायों की अपेक्षा से यह तप पांच प्रकार का होता है^२—

(क) द्रव्य ऊनोदरी : जो जितना भोजन कर सकता है, उसमें से कम से कम एक ग्रास कम कर देना द्रव्य ऊनोदरी है ।

(ख) क्षेत्र ऊनोदरी : क्षेत्र ऊनोदरी दो प्रकार की कही गई है—(१) ग्राम, नगर, राजधानी, गृहआदि के क्षेत्र की सीमा निश्चित करके भिक्षा लेना और (२) एक विशेष आकार के क्षेत्र से ही भिक्षा लेना । दृष्टान्त रूप में इसके छह भेद किए गए हैं—

(१) पेटा—पेटिका की तरह आकार वाले घरों से भिक्षा लेना ।

(२) अर्धपेटा—अर्धपेटिका की तरह आकार वाले घरों से भिक्षा लेना ।

(३) गोमूत्रिका—गोमूत्र की तरह से वक्राकार जाते हुए घरों से भिक्षा लेना ।

(४) पतंगवीथिका—बीच-बीच में कुछ घर छोड़कर भिक्षा लेना ।

(५) शम्बूकावर्ता—शंख की तरह चक्राकार जाकर भिक्षा लेना ।

(६) आयत गत्वा प्रत्यागता—पहले बिना भिक्षा लिए दूर तक चले जाना, फिर लौटते हुए भिक्षा लेना । इस प्रकार क्षेत्र को सीमित कर लिया जाता है ।

(ग) काल ऊनोदरी :

दिन के चार पहरों में भिक्षा का जो निश्चित समय तीसरा पहर है, तदनुसार भिक्षा के लिए जाना अथवा निश्चित काल के प्रमाण को कुछ कम कर देना काल ऊनोदरी है ।

(घ) भाव ऊनोदरी :

भाव प्रधान होने से इसे भाव ऊनोदरी कहते हैं । इसमें भिक्षार्थ जाते समय ऐसा नियम बना लिया जाता है कि स्त्री अथवा पुरुष, अलंकृत अथवा अनलंकृत, युवा अथवा बालक, सौम्याकृति अथवा अन्य किसी विशेष प्रकार के भाव से युक्त दाता से ही भिक्षा ग्रहण करूंगा अन्यथा नहीं । इस प्रकार से कम भिक्षा मिलने की सम्भावना रहती है । अतः इस विधि से भी तप होता है ।

१. अवमौदर्यमेकग्रासादिरत्पाहारः । भावपाहुड, गा०टी०, ७८, पृ०३५३

२. दे०—उ० ३०.१४—२४

(ड) पर्यवचरक ऊनोदरी :

उपर्युक्त चारों प्रकार की ऊनोदरी में जो पर्याय बतलाए गए हैं उन सबसे न्यून वृत्ति का होना पर्यवचरक ऊनोदरी है। अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चारों प्रकार से ऊनोदरी तप का पालन करना पर्यवचरक ऊनोदरी है।

(३) वृत्तिपरिसंख्यान तप :

वृत्ति का अर्थ—आहार होता है और परिसंख्यान अर्थात् गिनती। गिनती के घरों से भोजन लेना अथवा भोजन की वस्तुओं की संख्या निश्चित करना ही वृत्तिपरिसंख्यान तप है।^१ इस तप में जब मुनि आहार के लिए निकलता है तब यह नियम ले लेता है कि आज मैं एक, दो अथवा दस घर तक जाऊंगा, इनमें आहार मिलेगा तो लूंगा, अन्यथा नहीं, अथवा आज पेय पदार्थ ही लूंगा या मूंग आदि से बना आहार ही लूंगा आदि।

(४) रसपरित्यागतप :

दूध, दही, घी आदि सरस पदार्थों के सेवन का त्याग करना रसपरित्याग तप है।^२ इस तप का पालन करने से साधु की इन्द्रियाग्नि उदीप्त नहीं होती है और ब्रह्मचर्य पालन में सहायता मिलती है। साधु के लिए आहार जीवन को चलाने के लिए होता है, शरीर की पुष्टि के लिए नहीं। अतः रसयुक्त आहार का त्याग आवश्यक है।

(५) विविक्तशय्यासन :

जहां कोई आता—जाता न हो तथा जो स्त्री, पशु आदि से रहित हो ऐसे एकान्त स्थान में शयन एवं आसन ग्रहण करना, विविक्तशय्यासन तप है।^३ इस तप से जीवों को पीड़ा इत्यादि नहीं होती और एकान्त साधना का अभ्यास किया जा सकता है।

(६) कायक्लेश :

सुखावह वीरासन आदि उग्र आसनों में शरीर को स्थिर करना कायक्लेश तप है।^४ इस प्रकार के आसनों में स्थिर होने से शरीर में निश्चलता एवं अप्रमत्तता आती है, साधना में सहायता मिलती है। अतः ये आसन कठोर होते हुए भी सुखकारी कहे गए हैं।

१. वृत्तिपरिसंख्यानं गणितगृहेषु भोजनं वस्तुसंख्या वा। भावापाहुइ, गा०टी० ७८, पृ० ३५३ तथा दे०—मूला० ५.३५५

२. खीरदहिसपिमाई पणीयं पाणभोयणं।

परिवज्जणं रसाणं तु भणियं रसविवज्जणं।। उ० ३०.२६ तथा मिलाइये—मूला० ५.३५२

३. एगन्तमणावाए इत्थी पसुविवज्जिए।

सयणासणसेवणया विवित्त सयणासणं।। वही, ३०.२८

४. ठाणा वीरासणाईया जीवस्स उ सुहावहा।

उग्गाजहाधरिज्जन्ति कायकिलेसं तमाहियं।। उ० ३०.२७

(आ) आभ्यन्तर तप के छह भेद *

(१) प्रायश्चित्त तप :

अपराध को प्राप्त हुआ जीव जिसके द्वारा पूर्वकृत पाप से विशुद्ध हो जाता है वह प्रायश्चित्त तप है ।^१ आचार में लगे दोष अर्थात् भूल के शोधन के अनेक प्रकार हैं और वे सभी प्रायश्चित्त हैं । मुख्यतः प्रायश्चित्त के नौ भेद बतलाए गए हैं—आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापना ।^२

१. आलोचना : गुरु के समक्ष शुद्धभाव से अपनी भूल अथवा दोषों को प्रकट करना आलोचना है ।

२. प्रतिक्रमण : पहले हुई भूल का अनुताप करके उससे निवृत्त होना और आगे भूल न हो इसके लिए सावधान रहना प्रतिक्रमण है ।

३. तदुभय : पाप से निवृत्त होने के लिए आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों साथ करना तदुभय अथवा मिश्र आभ्यन्तर तप है ।

४. विवेक : यदि अज्ञान से सदोष आहार आदि लिया हो तो और उसका बाद में पता चल जाए तब उसका त्याग कर देना विवेक है ।

५. व्युत्सर्ग : एकाग्रतापूर्वक शरीर और वचन के व्यापारों को छोड़ना व्युत्सर्ग है ।

६. तप : अनशन आदि बाह्य तप करना तप है ।

७. छेद : दोष के अनुसार दिवस, पक्ष, मास या वर्ष की प्रव्रज्या कम करना छेद है ।

८. परिहार : दोषपात्र व्यक्ति से दोष के अनुसार पक्ष, मास आदि पर्यन्त किसी प्रकार का संसर्ग न रखकर उसे दूर रखना परिहार तप है ।

९. उपस्थापना : अहिंसा आदि महाव्रतों के भंग होने पर पुनः आरम्भ से उन महाव्रतों का आरोपण करना उपस्थापना है ।^३

१. प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ।

त०सू० ६.२०

२. प्रायश्चित्तं ति तवो जेण विसुज्झदि हु पुब्बकयपावं ।

मूला० ५.३६१

३. आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनानि ।

तू० सू० ६.२२

४. दे०—(संघवी), त०सू०.पु० २१६-२२०

(२) विनय तप :

विनय से अभिप्राय है—ज्ञान आदि सदगुणों में आदर भाव करना । इस प्रकार ज्येष्ठ मुनियों का आदर भाव करना ही विनय तप है ।^१

विनय वस्तुतः गुण रूप में एक प्रकार का ही होता है किन्तु विषय की दृष्टि से उसके चार भेद किए गए हैं—(१) ज्ञान विनय, (२) दर्शन विनय, (३) चारित्र विनय और (४) उपचार विनय ।^२

१. **ज्ञान विनय**—ज्ञान प्राप्त करना, उसका अभ्यास करना और उसे स्मरण रखना ज्ञान विनय है ।

२. **दर्शन विनय**—तत्त्व की यथार्थ प्रतीति स्वरूप सम्यग्दर्शन से विचलित न होना, उसके प्रति उत्पन्न होने वाली शंकाओं का निवारण करके निःशंकभाव से साधना करना दर्शनविनय है

३. **चारित्र विनय**—सामायिक आदि चारित्रों में चित्त का समाधान रखना चारित्र विनय है ।

४. **उपचार विनय**—जो अपने से सदगुणों में श्रेष्ठ हों उनके प्रति अनेक प्रकार से योग्य व्यवहार करना, जैसे—उनके सम्मुख जाना, उनके आने पर खड़े होना, आसन देना, वन्दना करना आदि उपचार विनय है ।^३

(३) वैयावृत्य तप :

वैयावृत्य के भाव को वैयावृत्य कहते हैं । सेवाभाव इसका मूल है । आचार्य आदि मुनियों के कायिक क्लेश और मानसिक संक्लेशों को दूर करने में प्रवृत्त होना वैयावृत्य तप है ।^४

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और सुमनोज्ञ इनकी सेवा शुश्रूषा करने से वह दश प्रकार का हो जाता है ।^५ जो इस प्रकार हैं^६—

(१) आचार्य :

जो स्वयं व्रतों का आचरण करते हैं और दूसरे मुनियों को कराते हैं वे

१. ज्येष्ठेषु मुनिषु आदरो विनय उच्यते ।। त०वृ० ६.२०, पृ० ३०१

२. ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः । त०सू० ६.२३

३. दे०—(संघवी), त०सू०, पृ० २२०

४. क्लेशसंक्लेशनाशाय आचार्यादिदशकस्य यः ।

व्यावृत्तस्तस्य यत्कर्म तद्वै व्यावृत्त्यमाचरेत् ।। धर्मा० ७.७८

५. आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षग्लानगणकुलसंघसाधुसमनोज्ञानाम् । त०सू० ६.२४

६. दे०—त०वृ० ६.२४

आचार्य हैं ।

(२) उपाध्याय :

जिनके पास आत्मकल्याण के लिए शास्त्रों का अध्ययन किया जाता है वे उपाध्याय हैं ।

(३) तपस्वी :

जो महोपवास आदि तपों को करते हैं वे तपस्वी कहलाते हैं ।

(४) शैक्ष :

जो नवदीक्षित मुनि शास्त्रों के अध्ययन में तत्पर रहते हैं उन्हें शैक्ष कहा जाता है ।

(५) ग्लान :

जिस मुनि का शरीर रोग आदि से पीड़ित हो उसे ग्लान कहते हैं ।

(६) गण :

वृद्ध मुनियों के समूह को गण कहा जाता है ।

(७) कुल :

एक ही दीक्षाचार्य का शिष्य—परिवार कुल कहलाता है ।

(८) संघ :

साधु—साध्वी और श्रावक—श्राविका रूपी समुदाय जो कि एक ही धर्म का अनुयायी है, संघ कहलाता है ।

(९) साधु :

जो चिरकाल से दीक्षित हो वह साधु है ।

(१०) समनोज्ञ :

वक्तृत्व आदि गुणों से सुशोभित और लोगों द्वारा प्रशंसित मुनि समनोज्ञ कहलाता है ।

वैयावृत्य तप बड़ा गुणकारी है । इस तप से मूल लाभ तो यह है कि इसके परिपालन से साधक तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन करता है ।^१ इस कारण से इसका महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है ।

(४) स्वाध्याय तप :

स्वाध्याय का सामान्य अर्थ है—अध्ययन करना । ज्ञान प्राप्ति के लिए शास्त्रों का अध्ययन करना ही स्वाध्याय तप है । ज्ञान प्राप्त करने के साथ—साथ

उसे सन्देह रहित, विशद और परिपक्व बनाना एवं उसका प्रचार करने का प्रयत्न करना, ये सभी स्वाध्याय में आते हैं। इसी आधार पर इसके पांच भेद हो जाते हैं—वाचना, प्रच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश।

१. वाचना : फल की अपेक्षा न करके शास्त्र पढ़ना, शास्त्र का अर्थ कहना और अन्य जीवों के लिए शास्त्र तथा अर्थ दोनों का व्याख्यान करना वाचना है।

२. प्रच्छना (पृच्छना)—शंका को दूर करने के लिए अथवा निश्चय को दृढ़ करने के लिए ज्ञात अर्थ को गुरु से पूछना प्रच्छना है।

३. अनुप्रेक्षा—जाने हुए अर्थ का एकाग्र मन से बार-बार अभ्यास या विचार करना अनुप्रेक्षा है।

४. आम्नाय—सीखी हुई वस्तु का शुद्धिपूर्वक पुनः पुनः उच्चारण करना आम्नाय कहलाता है।

५. धर्मोपदेश—किसी भी प्रकार के फल की अपेक्षा न करके असंयम को दूर करने के लिए, मिथ्यामार्ग का नाश करने के लिए और आत्मकल्याण के लिए धर्म—कथा आदि का उपदेश करना धर्मोपदेश है।^१

(५) व्युत्सर्ग तप :

सोने, बैठने और खड़े रहने के समय शरीर को इधर—उधर न हिलाकर व्यर्थ की चेष्टाओं का त्याग करते हुए, स्थिर रखना व्युत्सर्ग तप है।^२ इसका दूसरा नाम कायोत्सर्ग भी है। त्याज्य वस्तु बाह्य और आभ्यन्तर के रूप में दो प्रकार की होती है। अतः व्युत्सर्ग के दो प्रकार बतलाए गए हैं—बाह्य उपधि का त्याग और आभ्यन्तर उपधि का त्याग।^३

१. बाह्योपधि-व्युत्सर्ग :

धन, धान्य, मकान, क्षेत्र आदि बाह्य पदार्थों की ममता का त्याग करना बाह्योपधि—व्युत्सर्ग है।

२. आभ्यन्तरोपधि-व्युत्सर्ग :

शरीर की ममता एवं काषायिक विकारों की तन्मयता का त्याग करना आभ्यन्तरोपधि—व्युत्सर्ग है।^४

१. वाचनाप्रच्छनानुप्रेक्षाआम्नायधर्मोपदेशाः ॥ त०सू० ६.२५

२. दे०—त०वृ० ६.२५

३. सयणासण्ठाणे वा जे उ भिक्खू न वावरे ।

कायस्स विउस्सग्गो छट्ठो सो परिकित्तिओ ॥ उ० ३०.३६

४. बाह्याभ्यन्तरोपधयोः ॥ त०सू० ६.२६

५. दे०—(संघवी), त०सू०, पृ० २२१

(६) ध्यान तप :

साधना पद्धति में ध्यान का सर्वोपरि महत्त्व रहा है। ध्यान हमारी चेतना की ही एक अवस्था है। उत्तम संहनन वाले जीव का एक विषय में अन्तर्मुहूर्त के लिए अन्तःकरण की वृत्ति(=चित्तवृत्ति) का रुक जाना ध्यान कहलाता है।^१

संहनन का अभिप्राय—शारीरिक संघटन से है। ध्यान के लिए मानसिक बल आवश्यक है और वह उत्तम संहनन वाले जीव में ही हो सकता है।

वज्रवृषभ नाराच, ये तीन उत्तम संहनन हैं। इन तीन उत्तम संहनन वाले जीव को ही ध्यान का अधिकारी माना गया है। अर्धनाराच, कीलिका और असंप्राप्तसृपाटिका इन तीन संहननों में अन्तर्मुहूर्त तक चित्तवृत्ति के निरोध का सामर्थ्य नहीं है। अतः इस प्रकार के संहनन वाला जीव ध्यान का अधिकारी नहीं है।

ध्यान का समय अन्तर्मुहूर्त होता है क्योंकि इससे अधिक समय तक ध्यान नहीं हो सकता कारण कि चिन्ताएं अत्यन्त दुर्धर और चपल होती हैं।^२

कई बार ऐसा सुना जाता है कि अमुक व्यक्ति ने एक दिवस, एक अहोरात्र अथवा उससे भी अधिक समय तक ध्यान किया। इससे मात्र अभिप्राय इतना ही है कि उतने समय तक उसका ध्यान का प्रवाह चलता रहा। जब किसी एक आलम्बन का एक बार ध्यान करके पुनः उसी आलम्बन का ध्यान किया जाता है तो वह ध्यानप्रवाह बढ़ जाता है।

यह अन्तर्मुहूर्त का काल—परिमाण छद्मस्थ के ध्यान का है। सर्वज्ञ के ध्यान का काल परिमाण तो अधिक भी हो सकता है, क्योंकि सर्वज्ञ मन, वचन और शरीर के प्रवृत्तिविषयक सुदृढ़ प्रयत्न को अधिक समय तक भी बढ़ा सकता है।^३

ध्यान के चार भेद हैं—(आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान।^४

(१) आर्तध्यान :

ऋत का अर्थ है पीड़ा या दुःख। उससे जो उत्पन्न हो वह आर्त कहलाता है।^५ दुःख की उत्पत्ति के मुख्य चार हेतुओं के आधार पर आर्तध्यान चार प्रकार का है—

१. उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्।

आमुहूर्तात्। वही, ६.२७-२८

२. दे०—भावपाहुड, गा० टी०, ७८, पृ० ३५६-३६०

३. दे०—(संघवी), त०सू०, पृ० २२५

४. आर्तरौद्रधर्मशुक्लानि। वही, ६.२६

५. दुःखम् अर्दनमार्ति वा ऋतमुच्यते, ऋते दुःखे भवमार्तम्। त० वृ० ६. २८, पृ० ३०६

(अ) अमनोज्ञ संप्रयोग :

अप्रिय वस्तु के प्राप्त होने पर उसके वियोग के लिए सतत चिंतन करना ।^१ शेर या शत्रु इत्यादि के संयोग से इस प्रकार का ध्यान होता है ।

(आ) वेदना चिन्तन :

उदर पीड़ा आदि वेदना के होने पर उसके दूर करने के लिए सतत चिन्ता करना ।^२

(इ) मनोज्ञ विप्रयोग :

प्रिय वस्तु का वियोग होने पर उसकी प्राप्ति के लिए सतत चिन्ता करना है ।^३ जैसे स्त्री, पुत्र आदि का वियोग हो जाने पर उस विषयक चिन्ता का होना ।

(उ) निदान चिन्तन :

भोगों की लालसा की उत्कटता के कारण अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए संकल्प करना या सतत चिन्ता करना ।^४

प्रथम पांच गुणस्थानावर्ती जीवों के चारों प्रकार का आर्तध्यान होता है लेकिन छठे गुणस्थानवर्ती मुनि के निदान को छोड़कर अन्यतीन आर्तध्यान होते हैं ।^५

(२) रौद्रध्यान :

रुद्रकूर परिणाम वाले जीव को कहते हैं, उसके द्वारा किया गया कार्य अथवा विचार रौद्रध्यान है ।^६ हिंसा झूठ, चोरी और विषय—संरक्षण (विषयों में इन्द्रियों की प्रवृत्ति) इन चार वृत्तियों से रौद्रध्यान होता है ।^७ अतः विषय के आधार पर यह चार प्रकार का हो जाता है—

(अ) हिंसानुबन्धी—हिंसा में सतत प्रवर्तन ।

(आ) मृषानुबन्धी—झूठ में सतत प्रवर्तन ।

(इ) स्तेनानुबन्धी—चोरी में सतत प्रवर्तन ।

(उ) संरक्षणानुबन्धी—विषयों के साधनों में सतत प्रवर्तन ।

१. आर्तमनोज्ञानां सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः । त० सू० ६. ३१

२. वेदनायाश्च । त० सू० ६. ३२

३. विपरीतं मनोज्ञानाम् । वही, ६. ३३

४. निदानं च । त० सू० ६. ३४

५. दे०—त० वृ० ६. ३४, पृ० ३०८

६. रुद्रः क्रुराशयः प्राणी, रुद्रस्य कर्म रौद्रं रुदे वा भवं रौद्रम् ।
वही, ६. २८, पृ० ३०६

७. हिंसाऽनृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः । त.सू. ६. ३६

रौद्रध्यान अविरत औरस देशविरत गुणस्थानवर्ती जीवों के होता है परन्तु देशविरत के रौद्रध्यान कभी—कभी ही होता है, एकदेश से विरत होने के कारण कभी—कभी हिंसा आदि में प्रवृत्ति और धनसंरक्षण आदि की इच्छा हो जाती है जिससे रौद्र ध्यान होता है ।^१

(३) धर्मध्यान :

आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान की विचारणा के निमित्त मन को एकाग्र करना धर्मध्यान है ।^२ यहां निमित्त के भेद से धर्मध्यान के चार भेद हैं—

(अ) आज्ञाविचय धर्मध्यान :

किसी भी पदार्थ का विचार करते समय ऐसा मनन करना कि इस विषय में जो जिनदेव की आज्ञा है, वह प्रमाण है, आज्ञाविचय धर्मध्यान है ।

(आ) अपायविचय धर्मध्यान :

मिथ्यादृष्टि जीव जन्मान्ध के समान हैं । वे वीतराग—प्रणीत मार्ग से पराङ्मुख रहते हुए भी मोक्ष की इच्छा करते हैं, लेकिन उसके मार्ग को नहीं जानते हैं । इस प्रकार सन्मार्ग के विनाश का विचार करना अपायविचय है अथवा प्राणियों के मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का विनाश कैसे होगा, इस पर विचार करना अपाचविचय है ।

(ई) विपाकविचय धर्मध्यान :

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इनकी अपेक्षा कर्म कैसे—कैसे फल देते हैं इसका सतत विचार करना विपाकविचय धर्मध्यान है ।

(उ) संस्थानविचय धर्मध्यान :

लोक के आकार और उसके स्वरूप के विचार में अपने चित्त को लगाना संस्थानविचय धर्मध्यान है ।^३

अप्रमत्तसंयत मुनि के साक्षात् धर्मध्यान होता है और अविरत देशविरत और प्रमत्तसंयत जीवों के गौण धर्मध्यान होता है ।^४

(४) शुक्लध्यान :

शुद्ध आत्म—तत्त्व में चित्त को स्थिर करना शुक्लध्यान है । यह ध्यान आत्मा के निर्मल परिणामों से उत्पन्न होता है ।^५ उत्तरोत्तर विकासक्रम के आधार पर इसके भी चार भेद हैं—पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवृत्ति ।^६

१. दे. त.वृ. ६.३५ पृ. ३०८

२. आज्ञाऽपयविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य । त. सू. ६.३७

३. विस्तार के लिए दे. त.वृ. ६.३६, पृ. ३०६

४. वही, पृ. ३०६—३१०

५. मलरहित जीवपरिणामोद्भव शुचिगुणयोगाच्छुक्लम् । वही, ६.२८, पृ. ३०६

६. पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवृत्तीनि । त. सू. ६.४१

पहले दो शुक्ल ध्यानों का आश्रय एक है अर्थात् उन दोनों का आरम्भ पूर्वज्ञान धारी आत्मा द्वारा होता है ।^१ इसीलिए ये दोनों ध्यान वितर्क^२ सहित होते हैं ।^३ दोनों ध्यानों में वितर्क का साम्य होने पर भी यह वैषम्य है कि पहले में पृथक्त्व (भेद) है, जबकि दूसरे में एकत्व (अभेद) है । इसी प्रकार पहले में विचार है^४, जबकि दूसरे में विचार नहीं है । इसी कारण इन दोनों ध्यानों के नाम क्रमशः पृथक्त्ववितर्क—सविचार और एकत्ववितर्कनिर्विचार हैं ।

(अ) पृथक्त्ववितर्क—सविचार :

जब ध्यान करने वाला पूर्वधर हो तब वह पूर्वगत श्रुत के आधार पर और जब पूर्वधर न हो तब अपने में सम्भावित श्रुत के आधार पर किसी भी परमाणु आदि जड़ में या आत्मरूप चेतन में—एक द्रव्य में उत्पत्ति, स्थिति, नाश, मूर्तत्व, अमूर्तत्व आदि अनेक पर्यायों का द्रव्यास्तिक, पर्यायास्तिक आदि विविध नयों के द्वारा भेद प्रधान चिन्तन करता है और यथासम्भव श्रुतज्ञान के आधार पर किसी एक द्रव्यरूप अर्थ से दूसरे द्रव्यरूप अर्थ पर, या एक द्रव्य रूप अर्थ पर से पर्यायरूप अन्य अर्थ पर, अथवा एक पर्यायरूप अर्थ पर से अन्य पर्यायरूप अर्थ पर, या एक पर्याय रूप अर्थ पर से अन्य द्रव्यरूप अर्थ पर चिन्तन के लिए प्रवृत्त होता है । इसी प्रकार अर्थ पर से शब्द पर और शब्द पर से अर्थ पर चिन्तन के लिए प्रवृत्त होता है तथा मन आदि किसी भी एक योग को छोड़कर अन्य योग का अवलम्बन लेता है, तब वह ध्यान पृथक्त्ववितर्क—सविचार कहलाता है ।

(आ) एकत्ववितर्क-निर्विचार :

उक्त प्रक्रिया के अवपरीत जब ध्यान करने वाला अपने में सम्भाव्य श्रुत के आधार पर किसी एक ही पर्यायरूप अर्थ को लेकर उस पर अभेद प्रधान (एकत्व) चिन्तन करता है और मन आदि तीन योगों में से किसी एक ही योग पर अटल रहकर शब्द और अर्थ के चिन्तन एवं भिन्न—भिन्न योगों में संचार का परिवर्तन नहीं करता, तब वह ध्यान एकत्ववितर्क—निर्विचार कहलाता है । प्रथम भेदप्रधान ध्यान का अभ्यास दृढ़ हो जाने के बाद ही इस ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है ।

(इ) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती :

जब सर्वज्ञ भगवान् योग निरोध के क्रम में^५ अन्ततः सूक्ष्मशरीर योग का

१. शुक्लेचाद्ये पूर्वविदः । त. सू., ६.३६

२. वितर्कः श्रुतम् । वही, ६.४५

३. एकाश्रये सवितर्कं पूर्वं । वही, ६.४३

४. विचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसङ्क्रान्तिः । त.सू. ६.४६

५. यह क्रम इस प्रकार है—स्थूल काययोग के आश्रय से वचन और मन के स्थूल योग को सूक्ष्म बनाया जाता है, उसके बाद वचन और मन के सूक्ष्म योग को अवलम्बित करके शरीर के स्थूल योग को सूक्ष्म बनाया जाता है । फिर शरीर के सूक्ष्मयोग को अवलम्बित करके वचन और मन के सूक्ष्म योग का निरोध किया जाता है और अन्त में सूक्ष्मशरीर योग का भी निरोध किया जाता है । (संघवी), त.सू., पृ. २३०, पा. टि. १

आश्रय लेकर शेष योगों को रोक देते हैं तब वह सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान कहलाता है क्योंकि उसमें श्वास—उच्छ्वास के समान सूक्ष्मक्रिया ही शेष रह जाती है और उससे पतन भी सम्भव नहीं है ।

(उ) व्युपरत-क्रियानिवृत्ति :

इस ध्यान में शरीर की श्वास—प्रश्वास आदि सूक्ष्म क्रियाएं भी बन्द हो जाती हैं और आत्मप्रदेश सर्वथा निष्प्रकम्प हो जाते हैं, अतः इसे **समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति ध्यान** भी कहा जाता है । इस ध्यान में स्थूल या सूक्ष्म किसी भी प्रकार की मानसिक, वाचिक और कायिक क्रिया नहीं रहती तथा वह स्थिति बाद में नष्ट भी नहीं होती है ।^१

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवृत्ति ध्यान में यद्यपि चिन्ता का निरोध नहीं है फिर भी उपचार से उनको ध्यान कहते हैं । कारण कि यहां भी अघातिया कर्मों के नाश करने के लिए योगनिरोध करना पड़ता है । यद्यपि केवली के ध्यान करने योग्य कुछ भी नहीं है फिर भी उनका ध्यान अधिक स्थिति वाले कर्मों की समस्थिति करने के लिए होता है । इस ध्यान से निर्वाण सुख की प्राप्ति होती है ।^२

उपाध्याय महाराज उपर्युक्त बारह प्रकार के तप का स्वयं दृढ़ता से पालन करते हैं तथा संघ के अन्य साधु—साध्वियों को भी इसके लिए प्रेरित करते हैं ।

पांच महाव्रत, नौ ब्रह्मचर्य की गुप्ति और चतुर्विध कषाय का वर्णन आचार्य के गुणों में किया जा चुका है । इस प्रकार यह चरणसप्तति है ।

४. प्रभावना सम्पन्न उपाध्याय :

यहां प्रभावना से अभिप्राय है—जैनधर्म का प्रचार एवं प्रसार करना, उसका गौरव बढ़ाना । यह प्रभावना आठ प्रकार की बतलायी गयी है जो निम्न प्रकार हैं—^३

(१) प्रवचनप्रभावना :

सभी जैन शास्त्रों का तथा षड्दर्शन एवं न्यायशास्त्र आदि अनेक ग्रन्थों का अध्ययन, मनन, चिन्तन एवं निदिध्यासन करके, उनके अर्थ, भावार्थ तथा परमार्थ को ग्रहण करते हुए समय पर उसे ढंग से अभिव्यक्त करना जिससे कि किसी भी मत का श्रोता प्रभावित होकर सद्धर्म की ओर आकृष्ट होवे, यह प्रवचनप्रभावना है ।

(२) धर्मकथाप्रभावना :

स्वाध्याय तप का एक भेद है धर्मकथा अर्थात् धर्म का उपदेश करना ।

१. दे. वही, पृ. २२६-२३०

२. दे. त. वृ. ६.४४, पृ. ३१३

३. दे. जैन तत्व कलिका, पृ. २०७-२०६

धर्मकथा के चार भेद हैं^१—

(अ) आक्षेपणी :

जिस कथा में ज्ञान और चारित्र का कथन किया जाता है उसे आक्षेपणी धर्मकथा कहते हैं ।

(आ) विक्षेपणी :

जिस कथा में स्वसमय और परसमय का कथन किया जाता है वह विक्षेपणी है ।

(इ) संवेजनी :

ज्ञान, चारित्र और तप के अभ्यास से आत्मा में कैसी-कैसी शक्तियां प्रकट होती हैं, इनका निरूपण करने वाली संवेजनी धर्मकथा है ।

(उ) निर्वेजनी :

जिस कथा को सुनकर श्रोता की चित्तवृत्ति संसार से निवृत्ति धारण करे वह निर्वेजनी धर्मकथा है ।

(३) वादप्रभावना :

किसी स्थान पर जैनधर्म में स्थित धर्मात्मा पुरुष को गुमराह करके धर्मभ्रष्ट करने का प्रयत्न चल रहा हो, तो वहां पहुंचकर अपने शुद्ध आचार—विचार द्वारा उन्हें सत्यासत्य का भेद बतलाकर, उस व्यक्ति को धर्म में स्थित होने में सहायता देना अथवा वाद—विवाद का प्रसंग हो तो सत्यपक्ष का मण्डन करते हुए मिथ्यापक्ष का खण्डन करना, वादप्रभावना है ।

(४) त्रिकालज्ञप्रभावना :

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति आदि शास्त्रों में वर्णित भूगोल का ज्ञाता बनना और खगोल एवं ज्योतिषादि विद्याओं में पारंगत होना जिससे कि त्रिकाल—सम्बन्धी शुभ—अशुभ बातों का ज्ञान हो सके और जनसामान्य को उस प्रकार की बातों का प्रकाशन करके उन्हें हानि से बचाकर लाभान्वित किया जा सके, यही त्रिकालज्ञप्रभावना है । इससे जिन शास्त्र का प्रभाव बढ़ता है ।

(५) तप प्रभावना :

यथाशक्ति कठोर तपस्या करना जिससे लोग प्रभावित हो सकें और स्वयं भी तपश्चरण में लग जाए यही तपप्रभावना है ।

(६) व्रतप्रभावना :

घी, दूध, दही इत्यादि का त्याग, मौन, कठोर अभिग्रह एवं कायोत्सर्ग इत्यादि क्रियाओं के आचरण से धर्म का प्रभाव बढ़ाना व्रतप्रभावना है ।

(७) विद्याप्रभावना :

रोहिणी, परकायप्रवेश, गगनगामिनी आदि क्रियाओं तथा मन्त्रशक्ति,

अंजनसिद्धि एवं रससिद्धि इत्यादि अनेक विद्याओं में उपाध्याय प्रवीण होते हैं किन्तु उनका प्रयोग नहीं करते । यदि जैनधर्म की प्रभावना का कोई विशेष अवसर आ जाए तो उनका प्रयोग करते हैं परन्तु इसके लिए यह विधान है कि बाद में उसका प्रायश्चित्त ग्रहण कर स्वशुद्धि अवश्य की जाती है ।

(८) कवित्वप्रभावना :

नाना प्रकार के छन्द, कविता, ढाल, स्तवन आदि काव्यों की रचना द्वारा गूढ़ और दुरुह विषयों को रसप्रद बनाकर आत्मज्ञान की शक्ति प्राप्त करना और उन रचानाओं के माध्यम से जैनधर्म की प्रभावना बढ़ाना, यह कवित्व प्रभावना कहलाती है ।

इस प्रकार इन आठ प्रकार की प्रभावनाओं में से किसी भी प्रभावना से उपाध्याय जैनधर्म की प्रभावना बढ़ा सकते हैं ।

५- मन, वचन और काय का समाहरण :

उपाध्याय मन, वचन और काय का समाहरण करते हैं । मन, वचन और काय के समाहरण के विषय में साधु के गुणों के प्रसङ्ग में बतलाया जायगा, इसके साथ ही उपाध्याय के गुणों की प्रथम पद्धति का विवेचन सम्पन्न हुआ ।

प्रकारान्तर से उपाध्याय के पच्चीस गुण :

एक अन्य पद्धति के अनुसार उपाध्याय के पच्चीस गुण इस प्रकार भी हैं — एकादश अंग व चतुर्दश पूर्व^१ इन २५ मुख्य शास्त्रों को स्वयं पढ़े और भव्य प्राणियों के कल्याण एवं परोपकार के लिए अन्य योग्य व्यक्तियों (साधु-साध्वी एवं श्रावक-श्राविका वर्ग) को पढ़ावे । यही उपाध्याय के मुख्य पच्चीस गुण हैं ।^२

(६) उपाध्याय की सोलह उपमाएं :

उत्तराध्ययन सूत्र में उपाध्याय (बहुश्रुत) की सोलह उपमाएं दी गई हैं । इन उपमाओं द्वारा उनकी विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है जो इस प्रकार हैं^३—

१-शंखोपम ' जैसे शंख में रखा हुआ दूध स्वयं अपने और अपने आधार के गुणों के कारण निर्मल एवं निर्विकार रहता है, उसी तरह उपाध्याय में धर्म, कीर्ति और श्रुत भी अपने और अपने आधार के

१. चौदह पूर्व ये हैं — उत्पाद, अग्रायणी, वीर्यानुप्रवाद, अस्तिनास्ति प्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यानप्रवाद, विद्यानुवाद, अवध्य (कल्याण), प्राणायु (प्राणवाद), क्रियाविशाल तथा लोकबिन्दुसार । विस्तृत अध्ययन के लिए दे० — जैन साहित्य का इतिहास (पूर्व पीठिका), पृ० ६२७-६३३

२. — दे० — जैन तत्त्व कालिका, पृ० २०२

३. — दे० — उ० ११. १५-३०

गुणों से सुशोभित होते हैं, निर्मल रहते हैं। उसके ये गुण कभी भी नष्ट नहीं होते।

२-काम्बोज अश्वोपम : जिस प्रकार स्वर्णाभूषण सुसज्जित काम्बोजदेशीय कन्धक अश्व जातिमान् और वेगवान् होने से दोनों प्रकार से शोभा पाता है, उसी प्रकार उपाध्याय स्वाध्याय और प्रवचन से सुशोभित होते हैं।

३- चारणादि-विरुदावलीतुल्य : जैसे चारण-भाट आदि द्वारा की गई विरुदावली (नान्दीघोष) से शूरवीर योद्धा सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार उपाध्याय चतुर्विध संघ की गुणोत्कीर्ण रूप विरुदावली से उत्साहित होकर मिथ्यात्व को पराजित करते हुए सुशोभित होते हैं।

४. वृद्धहस्तीसम : जिस प्रकार हथिनियों के समूह से घिरा हुआ वृद्ध हाथी सुशोभित होता है, वैसे ही श्रुतज्ञान की प्रौढता से युक्त उपाध्याय ज्ञानियों के समूह में किसी से पराजित न होते हुए सुशोभित होते हैं।

५. तीक्ष्णशृंगयुक्त धौरेय वृषभसम : जैसे तीक्ष्ण सींगों वाला, बलिष्ठ कन्धों वाला वृषभ गायों के अधिपति के रूप में सुशोभित होता है, वैसे ही श्रुतज्ञान से बलिष्ठ उपाध्याय मुनियों के समूह में गण के अधिपति के रूप में सुशोभित होते हैं।

६. तीक्ष्णदाढयुक्तकेसरीसिंहसम : जैसे तीक्ष्ण दाढ़ों से युक्त केसरी सिंह अन्य वनचरों को क्षुब्ध करता हुआ शोभा पाता है, वैसे ही उपाध्याय भी सप्तनय रूप तीक्ष्ण दाढ़ों से प्रतिवादियों का मानमर्दन करते हुए सुशोभित होते हैं।

७. शंखचक्रगदायुक्त वासुदेवसम : जिस प्रकार शंख, चक्र एवं गदा इत्यादि को धारण करते हुए अतुल्य बल वाले वासुदेव सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप रत्नत्रय से युक्त एवं सप्तनयरूपी रत्नों के धारक उपाध्याय कर्मरूपी शत्रुओं को पराजित करते हुए सुशोभित होते हैं।

८. चातुरन्तचक्रवर्तीसम : जैसे चातुरन्त चक्रवर्ती चौदह रत्नों से सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार उपाध्याय भी १४ पूर्वों की विद्या के ज्ञान से सुशोभित होते हैं।

९. सहस्रनेत्र- देवाधिपति शक्रेन्द्रसम : जैसे सहस्र नेत्रों के

धारक एवं असंख्य देवों के अधिपति शक्रेन्द्र वज्रायुध से सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार सहस्र तर्क—वितर्क वाले तथा अनेकान्त—रूप वज्र के धारक असंख्य प्राणियों के अधिपति उपाध्याय भी सुशोभित होते हैं ।

१०. उदीयमान सूर्यसम : जैसे सहस्र किरणों से जाज्वल्यमान सूर्य अन्धकार को नष्ट करता हुआ आकाश में शोभा पाता है, उसी प्रकार उपाध्याय निर्मल ज्ञान से अज्ञानरूप अन्धकार को नष्ट करते हुए संघरूप आकाश में सुशोभित होते हैं ।

११. पूर्णिमाचन्द्रोपम : जैसे नक्षत्रों के परिवार से घिरा हुआ नक्षत्राधिपति चन्द्रमा पूर्णिमा को परिपूर्ण कलाओं से युक्त होता हुआ सुशोभित होता है, उसी प्रकार उपाध्याय भी जिज्ञासु साधकों के परिवार से घिरे हुए अपनी ज्ञानरूप कलाओं से सुशोभित होते हैं ।

१२. धान्यकोष्ठागारसम : जैसे चूहे आदि के उपद्रवों से रहित, सुदृढ़ कपाटों से युक्त तथा विविध धान्यों से परिपूर्ण कोष्ठागार (=अन्न भण्डार) सुशोभित होता है, वैसे ही निश्चय—व्यवहाररूप सुदृढ़ कपाटों से युक्त तथा अंग उपांग 'ज्ञानरूप धान्यों से परिपूर्ण उपाध्याय सुशोभित होते हैं ।

१३. जम्बूसुदर्शनवृक्षसम : जैसे जम्बूक्षेत्र के अधिष्ठाता अनादृत देव का निवास स्थान जम्बू—सुदर्शन वृक्ष अपने सुन्दर पत्ते, फूल, फल इत्यादि के कारण सब वृक्षों में श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार उपाध्याय अपने विशेष ज्ञान एवं गुणों के कारण सब साधुओं में श्रेष्ठ होते हैं ।

१४. सीतानदीतुल्य : जिस प्रकार नीलवन्त वर्षधर पर्वत से निकली हुई जल प्रवाह से परिपूर्ण, समुद्रगामिनी सीता नदी सब नदियों में श्रेष्ठ है, उसी प्रकार उपाध्याय भी अपने श्रुतज्ञानरूप सलिल से युक्त सर्वश्रेष्ठ होते हैं और नदियों से परिवृत सीता नदी की तरह श्रोताओं के बीच में सुशोभित होते हैं ।

१५. सुमेरुपर्वतसम : जैसे पर्वतराज सुमेरु पर्वत उत्तम औषधियों से सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार उपाध्याय भी साधुओं में अपनी अनेक लब्धियों^१ से सुशोभित होते हैं

१. उपांग ग्रन्थ बारह हैं—औपपातिक, राजप्रशनीय, जीवाजीवाधिगम, प्रज्ञापना, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, निरयावलिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूला तथा वृष्णिदशा ।। विस्तृत अध्ययन के लिए दे०— जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग—२

२. शुभ अध्यवसाय तथा उत्कृष्ट तप, संयम के आचरण से तत्—तत् कर्म का क्षय और क्षयोपशम होकर आत्मा में जो विशेष शक्ति उत्पन्न होती है उसे लब्धि कहते हैं । ऐसी अदृढाईस प्रकार की लब्धियाँ बतलायी गई हैं । विस्तृत जानकारी के लिए दे०— विशेष०, गा० २४६ २—६६

१६. स्वयम्भूरमणसमुद्रसम : जिस प्रकार स्वयम्भूरमण समुद्र अपने सुसवादु एवं अक्षय जल से सुशोभित होता है, उसी प्रकार अपने निर्मल एवं अक्षयज्ञान से परिपूर्ण उपाध्याय उस ज्ञान को भव्यजीवों में रुचिकर शैली से प्रकट करते हुए सुशोभित होते हैं ।

ये उपमाएं उपाध्याय के गुणों पर उचित प्रकाश डालती है । उपाध्याय इस प्रकार अनेक गुणों से युक्त होते हुए संघ में सुशोभित होते हैं ।

(च) उपाध्याय का कार्य : संघस्थ साधु—साध्वी वर्ग को विधिपूर्वक शास्त्रों का पठन—पाठन कराना ही उपाध्याय का मुख्य कार्य है । आचार्य की आठ सम्प्रादाओं में बतलाया गया है कि आचार्य आगमों की अर्थवाचना देते हैं । आचार्य शिष्यवर्ग को आगमों का गूढ़ रहस्य तो समझा देते हैं किन्तु सूत्र वाचना का जो कार्य है, वह तो उपाध्याय के द्वारा ही सम्पन्न होता है । इसी कारण से उपाध्याय को सूत्रवाचना — प्रदाता कहा गया है ।^१ इसका अभिप्राय यही है कि सूत्रों के पाठोच्चारण की शुद्धता एवं विशदता बनाए रखने को दायित्व उपाध्याय का ही है ।

उपाध्याय को सूत्र—वाचना देने में अत्यधिक प्रयत्नशील और जागरूक रहना होता है । वह श्रमणसंघरूपी नन्दनवन के ज्ञान—विज्ञान रूप वृक्षों की शुद्धता एवं विकास की ओर सदा सचेत रहने वाला एक कुशलमाली है । उसके दृढ़ प्रयास के फलस्वरूप ही आगमपाठ शुद्ध, स्थिर और यथावत् बना रहता है ।

जहां तक शिक्षा देने का सम्बन्ध है, आचार्य और उपाध्याय समान हैं, किन्तु दीक्षा देना और संघ पर अनुशासन करना आचार्य की अधिकार सीमा हैं । आचार्य का कार्य संघ को व्यवस्थित करना है जबकि पठन—पाठन का कार्य तो उपाध्याय ही सम्पन्न करता है । यहां तक कि वह आचार्य की अनुपस्थिति में उनके कार्य का संचालन भी करता है । इस प्रकार जैन श्रमण परम्परा में उपाध्याय का पद अत्यधिक महत्त्वपूर्ण एवं गौरवशाली है ।

(छ) उपाध्याय- भक्ति :

उपाध्याय —भक्ति से अभिप्राय है — उनके पास बैठकर श्रुतज्ञान प्राप्त करना । जो साधु—साध्वी अथवा श्रावक—श्राविका उपाध्याय की भक्ति करते हैं — उनके पास बैठकर श्रुतज्ञान प्राप्त करते हैं, उनके अज्ञान की ग्रन्थियां छिन्न—भिन्न हो जाती हैं तथा वे परम ज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं । अरहन्त, सिद्ध और आचार्य भक्ति की तरह उपाध्याय—भक्ति को भी तीर्थकर नामकर्म के आस्रव का हेतु बतलाया गया है ।^२ अतः भव्य प्राणियों को शुद्ध भाव से उपाध्याय की भक्ति करनी चाहिए ।

१. उपाध्यायः सूत्रदाता । स्थानांगवृत्ति, ३. ४. ३२३

२. त० सू० ६. २३

साधु परमेष्ठी

सिद्धागनासुखसमागम – बुद्धवाञ्छा;

संसार – सागर – समुतरणेक – चिन्ता :।

ज्ञानादिभूषण – विभूषित – देहभागा :

रागादिघतरतयो यतयो जयन्ति ।।

मंगल-वाणी, पृ०२७६

षष्ठ परिच्छेद साधु परमेष्ठी

साधु परमेष्ठियों में अन्तिम परमेष्ठी हैं। जैन दर्शन में साधु का उतना ही महत्त्व है जितना कि अन्य परमेष्ठियों का है। साधु ही साधना की प्रथम सीढ़ी है। साधु हुए बिना अन्य उच्च पद पाना दुर्लभ है क्योंकि उपाध्याय, आचार्य और अरहन्त—ये तीनों ही साधनाफल की उच्च अवस्थाएं हैं जो इसी साधु के ही विकसित उत्तरोत्तर रूप हैं। साधु अपना आध्यात्मिक विकास करता हुआ कभी उपाध्याय तो कभी आचार्य और कभी वर्तमान जीवन में अरहन्त पद प्राप्त करता है। यहां यह बात ध्यान रखने योग्य है कि अरहन्त बनने में जरूरी नहीं है कि वह पहले उपाध्याय अथवा आचार्य हो। अरहन्त तो साधु साधना का चरम परिणाम है। साधु बनते ही परिणामों की निर्मलता उसे अरहन्त बना सकती है। यहां काललब्धि प्रबल है। वही अरहन्त उपाधि (= शरीर) के विशमन पर सिद्ध बन जाता है। अतः साधुपद ही मोक्षपद की प्राप्ति के लिए नींव का पत्थर है।

छठे गुणस्थान प्रमत्तसंयत से लेकर बारहवें गुणस्थान क्षीणकषाय तक की साधुचर्या उसकी भूमिका है। इससे उन्नत अरहन्त अवस्था होती है। तत्पश्चात् सिद्ध परमेष्ठी उसकी भूमिका है। इससे उन्नत अरहन्त अवस्था होती है। तत्पश्चात् सिद्ध परमेष्ठी का पद आता है। साधु, उपाध्याय तथा आचार्य ये तीनों ही उत्तरोत्तर गुरु हैं। यद्यपि अरहन्त और सिद्ध गुरुओं के भी गुरु हैं फिर भी श्रावक के लिए प्रथमतः साधु ही पूज्य एवं आदरणीय है।

(क) साधु शब्द का निर्वचन एवं उसकी व्याख्या :

सामान्यतः साधु शब्द अच्छा, भला, धार्मिक, सच्चा, परोपकारी इत्यादि अर्थों में प्रयुक्त होता है किन्तु जैनदर्शन में साधु शब्द का विशिष्ट निर्वचन उपलब्ध होता है।

यथार्थ साधक : साधु :

साधु का मूल अर्थ है—साधक। साधना करने वाला साधक होता है। भगवतीसूत्र में साधु का निर्वचन करते हुए कहा गया है कि जो ज्ञान आदि शक्तियों के द्वारा मोक्ष की साधना करते हैं अथवा जो सभी प्राणियों के प्रति मैत्र्यादि समता की भावना रखते हैं, वे ही साधु कहलाते हैं।^१

१. साधयन्ति ज्ञानादिशक्तिभिर्मोक्षमिति साधवः,
समता वा सर्वभूतेषु ध्यायन्तीति ।। भग.वृ.प.४

दशाश्रुतस्कन्ध में भी इसी आशय को प्रकट करते हुए कहा गया है कि जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र से मोक्ष को साधता है, वह साधु है।^१

आवश्यक निर्युक्ति से भी इसकी पुष्टि होती है। यहां पर बतलाया गया है कि जो अभीष्ट अर्थ की साधना करता है, वही साधु है।^२ यहां अभीष्ट अर्थ से अभिप्राय मोक्ष—प्राप्ति ही है। इसको आगम में स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि 'जो मोक्ष के साधक व्यापारों अर्थात् दर्शन, ज्ञान और चारित्र की साधना करते हैं और सब प्राणियों पर समबुद्धि रखते हैं, वे ही साधु परमेष्ठी हैं—

निव्वाणसहाए जोगे, जम्हा साहंति साहुणो ।

समा य सव्वभूएसु, तम्हा ते भावसाहुणो ॥^३

समतावान्:साधु :

साधु समता की साधना करता है, इस आशय को और अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि साधु के लिए शत्रु व मित्र समान है, वह सुख—दुःख में समभाव रखता है, प्रशंसा और निन्दा में समान रहता है, पत्थर का ढेला और सुवर्ण उसे एक समान प्रतीत होते हैं और जीवन—मरण में भी वह समभाव को सुरक्षित रखता है।^४ श्रमणसूत्र में भी यही बतलाया गया है कि 'साधु लाभ और अलाभ में, सुख और दुःख में, जीवन और मरण में, निन्दा और प्रशंसा में तथा मान और अपमान में समतावान् होता है'^५।

संस्कृत—शब्दकोष वाचस्पत्यम् में भी साधु के साधुत्व को बतलाते हुए कहा गया है कि साधु सम्मान में प्रसन्न नहीं होता और अपमान होने पर क्रोध नहीं करता। वह अपने आप को कष्ट पहुंचाकर भी दूसरे को सुख ही पहुंचाता है।^६ यही जैन सन्त की पहचान है। किसी साधु में यदि इन गुणों की विपरीतता पायी जाए तो वह जैन साधु तो हो ही नहीं सकता।

निर्मोही:साधु: :

आचार्य कुन्दकुन्द नियमसार में बतलाते हैं कि जो समस्त बाह्यव्यापार

१. सम्यग्दर्शन ज्ञानाचारित्रैर्मोक्षं साधयतीति साधुः ।

दशा. टीका, ६.४, पृ. १८०—८१

२. अभिलषितमर्थसाधयति इति साधुः ॥ आ.नि., गा. १००८

३. वही, गा. १०१०

४. समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पंसंसणिंदसमो ।

समलोदठकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥ प्रवचनसार, ३.४१

५. लाभालाभे सुहे दुक्खे जीविए मरणे तथा ।

समो निन्दा पसंसासु तथा माणावमाणओ ॥ समणुसुत्तं, गा. ३४७

६. न प्रहृष्यति सम्माने न अपमाने च कुप्यति,

आत्मानं पीडयित्वापि साधुः सुखयेत् परम् ॥ वाचस्पत्यम्

रहित, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप नामक चतुर्विध आराधना में सदैव अनुरक्त, बाह्य—अभ्यन्तर समस्त परिग्रह रहित होने से निर्ग्रन्थ तथा मिथ्या ज्ञान, मिथ्यादर्शन और मिथ्या—चारित्र का अभाव होने से जो निर्मोही है—वही साधु है^१ क्योंकि कहा भी है कि जिस साधु के शरीर आदि परपदार्थों में परमाणु मात्र भी मूर्च्छा—ममत्व भाव विद्यमान है, वह समस्त आगम का धारक होकर भी सिद्धि को प्राप्त नहीं होता ।^२

स्वावलम्बी : साधु :

साधु स्वावलम्बी होता है और बुद्धिपूर्वक विकार, प्रमाद, कषाय एवं अन्य प्रकार की मलिन प्रवृत्तियों का त्याग करता है । इस प्रकार उसका हृदय सदैव पवित्र रहता है । आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि 'मुनि, व्रत और सम्यक्त्व से विशुद्ध, पञ्चेन्द्रियों से नियन्त्रित और बाह्य पदार्थों की अपेक्षारहित शुद्धात्मस्वरूप तीर्थ में दीक्षा तथा शिक्षा रूप उत्तम स्नान से स्नान करे ।'^३

सर्वार्थसिद्धि में आता है कि 'साधु वह है जो चिरकाल से दीक्षित हो' ।^४ ऐसे साधु को दृढ़तापूर्वक शीलव्रतों का पालन करना चाहिए और राग से रहित तथा विविध विनयों^५ से युक्त होना चाहिए ।^६

कवि राजमल्ल ने भी साधु के स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डाला है । यहां दो प्रकार के साधु बतलाये गए हैं वे हैं—निर्ग्रन्थी साधु और नमस्करणीय साधु ।

निर्ग्रन्थी : साधु :

'सम्यग्दर्शन से युक्त चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है । उस चारित्र की आत्मशुद्धि के लिए जो साधना करता है, वह साधु है । यह साधु न तो कुछ कहता ही है और न ही कोई संकेत ही करता है तथा मन से भी वह कुछ—कुछ चिन्तन नहीं करता अर्थात् अपने मन, वचन, और काय पर उसका पूरा नियन्त्रण

१. वावारविष्यमुक्का चउब्बिहाराहणासयारत्ता ।
णिग्गंथा णिम्मोहा साहू दे एरिसा होति ।। नियम०, गा०७५
२. परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो ।
विज्जदि जदि सो सिद्धिण लहदि सव्वागमधरो वि ।।
प्रवचनसार, ३.३६
३. वयसम्मत्तविसुद्धे पंचिदियसंजदे णिरावेक्खे ।
ण्हाएउ मुणी तित्थे दिक्खा सिक्खा सुण्हाणेण ।। बोधपाहुड, गा० २६
४. चिरप्रव्रजिततः साधुः ।। सर्वार्थसिद्धि, ६.२४, भाष्य
५. विनय के चार भेद हैं— ज्ञान विनय, दर्शन, विनय, चारित्र विनय और उपचार विनय
यह विनय तप के अन्तर्गत बतलाया जा चुका है ।
६. थिरधरिय सीलमाला वगयराया जसोहसडहत्था ।
बहुविणयभसियंगा सुहाइ साहू पयच्छंतु ।। तिलोय० १.५

होता है। वह केवल अपनी शुद्ध आत्मा में लीन रहता है। उसकी अन्तरंग और बाह्य वृत्तियाँ बिल्कुल शान्त होती हैं। अतः वह तरंगरहित समुद्र के समान होता है। वह वैराग्य की पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ होता है और तुरन्त के जन्मे हुए बालक की तरह निर्विकार और नग्न होता है। अन्तरंग और बहिरंग मोह की ग्रन्थियों का भेदक होने से वह निर्ग्रन्थ कहलाता है।

नमस्करणीय : साधु :

तपस्या के द्वारा कर्मों की निर्जरा करता है, परीषह एवं उपसर्ग इत्यादि उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकते। वह कामजयी होता है। शुद्ध शास्त्रोक्त विधि से आहार ग्रहण करता है और सदा त्याग में तत्पर रहता है। इस प्रकार के अनेक साधुजनोचित सदगुणों से युक्त साधु कल्याण की भावना से नमस्कार करने के योग्य है।^१

इन दो प्रकार के साधुओं से व्यतिरिक्त साधु का एक और तीसरा प्रकार आगमों में उपलब्ध है वह है—भिक्षु साधु।

भिक्षु : साधु :

उत्तराध्ययन सूत्र में तो 'स भिक्खु' नाम का पूरा अध्याय ही मिलता है। यहां बतलाया गया है कि 'साधु वही है जिसने विचारपूर्वक मुनिवृत्ति अंगीकार कर ली है, जो सम्यग्दर्शन आदि गुणों से युक्त है, सरल स्वभाव वाला तथा संसारियों के परिचय का त्यागी है एवं विषयों की अभिलाषा से रहित होकर अज्ञातकुलों की गोचरी करता हुआ विचरण करता है, वह भिक्षु साधु है।

जो राग से उपरत, संयम में तत्पर, आस्रव से विरत, शास्त्रों का ज्ञाता तथा समभाव से सब कुछ सहन करने वाला है। जो सुव्रती, तपस्वी और निर्मल आचार से युक्त है, कुतहलरहित है एवं आत्मा की खोज में लगा हुआ है, वही भिक्षु है।

जो रोग आदि से पीड़ित होने पर मन्त्र, जड़ी-बूटी आदि तथा स्वजनों की शरण का त्याग करता है, जो कुछ न देने वाले के प्रति द्वेष नहीं करता और देने पर आशीर्वाद इत्यादि नहीं देता तथा ठण्डे एवं नीरस भोजन—पान की जो निन्दा नहीं करता तथा परिमित आहार लेता है। अनेक प्रकार के रौद्र शब्दों को सुनकर भी जो डरता नहीं है, जो शिल्पजीवी नहीं है, जिसका कोई घर नहीं है, जिसके क्रोधादि कषाय मन्द पड़ चुके हैं, जितेन्द्रिय है, और जो सब प्रकार के परिग्रह से रहित है तथा जो एकाकी विहार करता है, वही श्रेष्ठ साधु है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सच्चा साधु वही है जो अपना घर—बार छोड़कर संयम की साधना में लगा हुआ है। जिसे न किसी से

किसी तरह का राग है और न किसी प्रकार का द्वेष है, जो सबके प्रति समदृष्टि है। जो लाभ—अलाभ, मान—अपमान, निन्दा—प्रशंसा तथा सुख—दुःख में भी समभाव रखता है। इस प्रकार का वह साधु सब प्रकार के परिग्रह से रहित होकर, संसारियों से किसी प्रकार का परिचय न रखते हुए संयम की आराधना करता हुआ एकाकी विचरण करता है।

(ख) साधु के लिए प्रयुक्त विशिष्ट शब्द :

जैन दर्शन में साधु के लिए अनेक शब्द प्रयुक्त होते हैं। इनमें साधु, संयत, विरत, अनगार, ऋषि, मुनि, यति, व्रती, योगी एवं तपस्वी इत्यादि प्रमुख हैं। तीर्थंकर भगवान् ने इन्द्रियों का दमन करने वाले, मोक्षगमन के योग्य तथा काया का व्युत्सर्ग करने वाले साधु के चार नाम बतलाए हैं^१—(१) माहन, (२) श्रमण, (३) भिक्षु और (४) निर्ग्रन्थ। ये चारों साधु के स्वरूप पर समुचित प्रकाश डालते हैं।

(१) माहन : जो समस्त पापकर्मों से विरत हो चुका है, किसी से राग—द्वेष तथा कलह नहीं करता, किसी पर मिथ्या दोषारोपण तथा किसी की चुगली भी नहीं करता और दूसरे की निन्दा से परे रहता है। जो संयम में अप्रीति, असंयम से प्रीति तथा छल—कपट नहीं करता एवं कपटयुक्त असत्य वचन भी नहीं बोलता है, जो मिथ्यादर्शन रूपी शल्य से विरत है, पांच समितियों से सम्पन्न है, कषायरहित है एवं जितेन्द्रिय है, वह माहन कहलाता है।^२

(२) श्रमण : जो साधु पूर्वोक्त गुणों से युक्त है वह श्रमण भी कहलाता है। श्रमण साधु के लिए आगम में कुछ और भी गुण बतलाए गए हैं वे हैं—शरीर, मकान, वस्त्र, पात्र आदि किसी भी पदार्थ में आसक्त न होना, अनिदान अर्थात् इहलौकिक एवं पारलौकिक सांसारिक विषयभोगरूप फल की आकांक्षा से विरहित होना, हिंसा, मृषावाद, मैथुन और परिग्रह से निर्वृत्त होना एवं चतुर्विध कषाय का सर्वथा त्याग करना। इस प्रकार जिन—जिन कारणों से आत्मा दूषित होती है, उन—उन कर्म—बन्धन के कारणों से जो पहले से ही निर्वृत्त है

१. अहाह भगव—एव से दत्ते दीवै वोसट्ठकाए तिवच्चे—(१) माहणेत्ति वा, (२) समणेत्ति वा, (३) भिक्खूत्ति वा, (४) निगंथेत्ति वा।

सूयगङ्गो—२सू. १६.१

२. इति विरतसब्बपावकम्मण्ण थेज्ज—दास—कलह—अभक्खाण—पेसुणा—परपरिवाद अरत्ति—रति मायामोस—मिच्छादंसणसल्ल—विरते, समियए सहिए सया जंए, णो कुज्झे णो माणी माहणेत्ति बच्चे।

वही, सू० १६.३

तथा जो जितेन्द्रिय, मोक्षगमन योग्य काया की आसक्ति से रहित है, वही श्रमण है ।^१

(3) भिक्षु : श्रमण के गुणों के साथ-साथ भिक्षु कहलाने योग्य भी वही है— जो अभिमानी नहीं है, विनीत है, विनम्र है, इन्द्रियों और मन पर नियन्त्रण रखता है, मोक्ष-प्राप्ति की जिसमें योग्यता है, काया के प्रति ममत्व का उत्सर्ग किए हुए है, नाना प्रकार के उपसर्गों और परीषहों को जीतता है, अध्यात्मयोग से शुद्ध चारित्र वाला है, संयममार्ग में तत्पर है, स्थित आत्मा है, ज्ञान सम्पन्न है और जो दूसरों (श्रावकों-गृहस्थों) के द्वारा दिए गए आहार आदि का सेवन करता है, वह भिक्षु है ।^२

(4) निर्ग्रन्थ : निर्ग्रन्थ में भिक्षु के गुणों के साथ-साथ जिन और अन्य गुणों को होना चाहिए वे गुण हैं— रागद्वेष से रहित होना, आत्मा के एकत्व का ज्ञान होना, वस्तु के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञाता होना मुख्य है और जो प्रबुद्ध एवं जागृत है, जिसने आस्रवद्वारों के स्रोत को बन्द कर दिया है, जो सुसंयत है, पांच समितियों से युक्त है, शत्रु-मित्र पर समभाव रखता है, जो आत्मा के सच्चे स्वरूप का ज्ञाता है, जो समस्त पदार्थों के स्वरूप का ज्ञाता है, जिसने संसार के स्रोत अर्थात् शुभ-अशुभ कर्मों के आस्रवों को छिन्न-भिन्न कर डाला है, जो पूजा-सत्कार और लाभ की आकांक्षा नहीं करता, जो धर्मार्थी है, धर्मज्ञ है और नियाग अर्थात् मोक्षमार्ग को स्वीकार किए हुए है, अभिप्राय यह है कि जो समता से युक्त होकर मोक्षमार्ग में विचरण करने वाला है, दान्त है, मोक्ष के योग्य है एवं कायोत्सर्ग किए हुए है, वही निर्ग्रन्थ साधु है ।^३

१. एत्थ वि समणे अणिसिए अणिदाणे आदाणं च अतिवायं च मुसावायं च बहिद्धं च कोहं च माणं च मायं च लोहं च पज्जं च दोसं च, इच्चेव जतो—जतो आदाणाओ अप्पणो पददोसहेऊ ततो ततो आदाणाओ पुव्वं पडिविरते सिआ दंते दविए बोसट्ठकाए समणेतिवच्चे । सूयगङ्गो— १, सू १६.४
२. एत्थ वि भिक्ख—अणुण्णते णावणते दंते दविए वोसट्ठकाए संविधुणीय विरुवरुवे परीसहोवसग्गे अज्फप्प जोगसुद्धादाणे उवट्ठिए ठिअप्पा संखाए परदत्त भोई भिक्खूत्ति वच्चे । वही, १६.५
३. एत्थ वि णिगंथ—एगे एगविदुबुद्धे संछिण्णसोए सुसंजए, सुसभिए, सुसामाइए, आतप्पवादपत्ते विऊ दुहओ वि सोयपलिच्छिण्णे णो पूया—सक्कारलाभट्ठी धमट्ठी धम्मविऊ णियागपडिवण्णे समियं चरे दंते दविए बोसट्ठकाए निगंथेति वच्चे । सूयगङ्गो— सू० १६.६

पंचविधनिर्ग्रन्थ : निर्ग्रन्थ पांच प्रकार के बतलाए गए हैं। ये हैं— पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ।^१

(क) **पुलाक :**

पुलाक का अर्थ है— मलसहित तण्डुल । इस प्रकार पुलाक के समान कुछ दोष सहित अर्थात् जो उत्तरगुणों की भावना से रहित हों तथा जिनके मूलगुणों में भी कभी—कभी दोष लग जाता हो उनको पुलाक कहते हैं ।

(ख) **बकुश :**

बकुश का अर्थ है— शबल (चितकबरा) । जो मूलगुणों का निर्दोष पालन करते हैं लेकिन शरीर और उपकरणों की शोभा बढ़ाने की इच्छा रखते हैं और परिवार में मोह रखते हैं । इस प्रकार शबल अतिचार दोषों से युक्त हैं, उनको बकुश कहते हैं ।

(ग) **कुशील :**

कुशील के दो भेद हैं— प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील । जो उपकरण तथा शरीर आदि से पूर्ण विरक्त न हों तथा जो मूल और उत्तरगुणों का निर्दोष करते हों लेकिन जिनके उत्तरगुणों की कभी—कभी विराधना हो जाती हो उनको प्रतिसेवनाकुशील कहते हैं ।

अन्य कषायों को जीत लेने के कारण जिनके केवल संज्वलनकषाय का ही उदय हो वे कषायकुशील कहलाते हैं ।

(घ) **निर्ग्रन्थ :**

जिस प्रकार जल में लकड़ी की रेखा अप्रकट रहती है उसी प्रकार जिनके कर्मों का उदय अप्रकट हो और जिनको अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान उत्पन्न होने वाला हो उनको निर्ग्रन्थ कहते हैं ।

(ङ) **स्नातक :**

घातिया कर्मों का नाश करने वाले केवली भगवान् को स्नातक कहते हैं ।^२

इस प्रकार चारित्र के तारतम्य के कारण निर्ग्रन्थ के पांच भेद हैं । तात्त्विक दृष्टि से निर्ग्रन्थ वही है जिसमें रागद्वेष की गांठ (ग्रन्थि) बिल्कुल न हो, परन्तु

१. पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ।।

त० सू० ६.४८

२. क्रोध, मान, माया और लोभ ये प्रत्येक कषाय अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन के रूप में चार—चार प्रकार के होते हैं । जो कषाय संयम के साथ भी रहती है लेकिन जिसके उदय से यथाख्यातचरित्र नहीं हो सकता वह संज्वलन कषाय है । दे०— त०वृ० ८.६, पृ० २६७

३. वही, ६.४६

अपूर्ण होते हुए भी जो तात्त्विक निर्ग्रन्थता का अभिलाषी हो — भविष्य में वैसी ही स्थिति प्राप्त करना चाहता हो उसे भी व्यवहारिक दृष्टि से निर्ग्रन्थ ही कहा जाता है । अतः पांच प्रकार के निर्ग्रन्थ बतलाए गए हैं ।

(ग) साधु की पात्रता :

साधु—जीवन का पालन करना बड़ा कठिन है । इस व्रत को धारण करने पर व्यक्ति को अनेक परीषहों एवं उपसर्गों को सहन करना पड़ता है तथा चारित्र की पवित्रता का विशेष ध्यान रखना पड़ता है । अतः साधु जीवन में प्रवेश पाने वालों से कुछ वैशिष्ट्य की अपेक्षा की जाती है । इसी कारण से कुछ व्यक्तियों को साधु बनने के अधिकार से वंचित रखा गया है — जो आठ वर्ष से कम आयु वाला हो^१, अत्यन्त वृद्ध हो, नपुंसक हो, क्लीब हो, जड़ हो, व्याधि रोगग्रस्त हो, चोर हो, राज्य या शासक का अपराधी हो, उन्मत्त या पागल हो, अन्धा हो, दासी से उत्पन्न या मोल लिया हुआ हो, अत्यधिक कषायग्रस्त हो, (दुष्ट) स्नेह या अज्ञान से वस्तुज्ञानरहित हो (मूढ़), ऋणी हो, जाति, कर्म या शरीर से दूषित हो (जुंगित), धन आदि के लोभ से दीक्षा लेने वाला हो (अवबद्ध), अवधि सहित रखा हुआ हो (भृतक), माता—पिता की आज्ञा के बिना आया हुआ या अपहृत हो (निष्फेटिका), स्त्री सगर्भा हो अथवा उसका बालक स्तनपान करता हो तो ऐसी स्थिति में किसी को साधु अथवा साध्वी की दीक्षा नहीं दी जा सकती है ।^२

(अ) साधु दीक्षा में कुल, जाति एवं क्षेत्र की विशिष्टता :

आचार्य हरिभद्र सूरि ने साधुधर्म के योग्य अथवा अधिकारी के विषय में विशद वर्णन करते हुए बतलाया है कि जो आर्य देश में उत्पन्न हो, विशिष्ट—अनिन्द्य जाति—कुल—सम्पन्न हो, जिसका कर्ममल प्रायः क्षीण हो चुका हो, निर्मल बुद्धि वाला हो, संसार की असारता को समझने वाला हो, वैराग्यवान् हो, शान्तप्रकृति हो, अल्पकषाय वाला हो, जिसमें हास्य, रति आदि अल्पमात्रा में हों, कृतज्ञ हो, विनयवान् हो, पहले से ही बहुमान्य हो, द्रोह न करने वाला हो,

१. नो कप्पह निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा खुड्डङ्गं वा खुड्डिडयं वा अणट्ठवा सजायं आवट्ठावेतए वा संभूजितए वा ।। व्यवहार सूत्र, १०.२०
२. बाले बुद्धे नपुंसे अ, कीवे जड्ढे अ वाहिए ।
तेणे रायावगाही य, उन्मते य अदंसणे ।।
दासे दुट्ठे य मूढे य अणते, जुंगिए इय ।
ओबद्धए य भयए, सेहनिष्फेडि या इय ।।
जे अट्ठारस भेया पुरिस्स, तहित्थियाए ते चेव ।
गुव्विणी सबालवच्छा दुन्नि इमे हुंति अन्ने वि ।।
प्रवचनसारोद्धार, गा० ७६०—६२

शरीर से अपंग न हो, त्याग धर्म के प्रति दृढ़ आस्था रखने वाला हो, प्रतिज्ञा पालन में अटल और आत्म कल्याण की इच्छा से दीक्षा लेकर गुरु चरणों में समर्पित होने के लिए जो तत्पर हो, वही साधु—पद ग्रहण करने के योग्य है ।^१

आचार्य जिनसेन ने भी कहा है—जिसका कुल और गोत्र विशुद्ध है, चारित्र उत्तम है, मुख सुन्दर है और बुद्धि सन्मार्ग की ओर है, ऐसा पुरुष ही दीक्षा ग्रहण करने के योग्य है ।^२

(आ) साधु-जिनमुद्रा के योग्य त्रिविध वर्ण :

जिनमुद्रा इन्द्र आदि के द्वारा पूजनीय होती है । अतः धर्माचार्यों को प्रशस्त देश, प्रशस्त वंश और प्रशस्त जाति में उत्पन्न हुए ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य को, जो निष्कलंक है अर्थात् ब्रह्महत्या आदि का अपराधी नहीं है तथा उसे पालन करने में समर्थ है, जो बाल और वृद्ध नहीं है, उसे ही साधुत्वा जिनमुद्रा प्रदान करनी चाहिए^३

उक्त कथन के अनुसार साधु मुद्रा के योग्य तीन ही वर्ण माने गए हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य । शुद्र को इसका अधिकारी नहीं माना गया ।

पिता की अन्वय शुद्धि को कुल और माता की अन्वय शुद्धि को जाति कहते हैं^४ अर्थात् जिसका मातृ कुल और पितृ कुल शुद्ध है, वही ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य दीक्षा—ग्रहण की पात्रता रखता है ।

परन्तु वर्ण का निर्धारण किस आधार पर किया जाए ? उत्तराध्ययनसूत्र में यह स्पष्ट रूप से बतलाया गया है कि व्यक्ति कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है तथा कर्म से ही शुद्र होता है ।^५

१. अथ प्रव्रज्यार्हः आर्यदेशोत्पन्नः, विशिष्टजातिकुलान्वितः, क्षीणप्रायकर्ममलः, तत एव विमलबुद्धिः, दुर्लभं मानुष्यं, जन्ममरणनिमित्तं, संपदश्चपलाः
विषया दुःखहेतवः, संयोगे वियोगः प्रतिक्षणं दारुणो विपाकः
इत्यवगतसंसारनैर्गुण्यः, तत एव तद्विरक्तः, प्रतनुकषायः, अल्पाहस्यादिः,
कृतज्ञः, विनीतः, प्रागपि राजामात्यपौरजनबहुमतः, अद्रोहकारी, कल्याणाङ्गः,
श्राद्धः, स्थिरः, समुपसंपन्नश्चेति । धर्मबिन्दु, ४.२२६
२. विशुद्धकुलगोत्रस्य सद्वृत्तस्य वपुष्मतः ।
दीक्षायोग्यत्वमाम्नातं सुमुखस्य सुमेधसः । ।
आदि० ३६.१५८
३. सुदेशकुलजात्यङ्गे ब्राह्मणे क्षत्रिये विशि ।
निष्कलङ्के क्षमे स्थाप्या जिनमुद्रार्चिता सताम् । । धर्मा० ६.८८
४. दे० धर्मा०, पृ० ६६४
५. कम्मुणा बम्मणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ ।
वइस्से कम्मुणा होइ, सुद्ध हवइ कम्मुणा । उ० २५.३३

आचार्य जिनसेन ने भी कहा है कि 'जाति, गोत्र आदि कर्म शुक्ल ध्यान के कारण हैं। जिनमें वे होते हैं वे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कहे जाते हैं, शेष सब शूद्र हैं'।^१ अतः ब्राह्मण इत्यादि कोई जन्म से नहीं होता, कर्म से ही होता है अतः कुल और जाति की शुद्धि दीक्षार्थी के लिए आवश्यक हैं।

कुल और जाति के साथ आर्यदेश अथवा सुदेश का भी निदेश हुआ है। जैन सिद्धान्त के अनुसार भरतक्षेत्र को दो भागों में विभक्त किया गया है—कर्मभूमि और अकर्मभूमि।^२ जिनमुद्रा का धारण कर्मभूमि में ही होता है, अकर्मभूमि में नहीं, क्योंकि वहां धर्म—कर्म की प्रवृत्ति का अभाव है।

इस तरह साधु होने के लिए एक निश्चित आत्मिक योग्यता का होना आवश्यक है। उस योग्यता वाले व्यक्ति के लिए ही श्रमणत्व की पात्रता सिद्ध होती है भगवान् महावीर ने इस विषय में कहा है कि केवल सिर मुंडाने से कोई श्रमण नहीं होता है, ओम् का जप करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता, अरण्य में रहने से कोई मुनि नहीं हो जाता तथा कुश का बना चीवर पहनने मात्र से ही कोई तपस्वी नहीं हो जाता है।^३

बल्कि समभाव से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य पालन से ब्राह्मण होता है, उत्कृष्ट ज्ञान के धारण करने से मुनि है और कठोर तप करने वाला ही तपस्वी होता है।^४ इनके अभाव में शेष बाह्याचार करना व्यर्थ है।

यदि कोई आवश्यकता है तो वह है—मूल संस्कारों में परिवर्तन की। मुनिव्रत ग्रहण कर लेने पर शेष जीवन ही परिवर्तित हो जाता है पहले की अपेक्षा वह अधिक गम्भीर, पवित्र, सुलझा हुआ, शान्त और सद्गुणसम्पन्न हो जाता है। यह परिवर्तन आवश्यक भी है। सिर का मुण्डन तो बाह्यचार मात्र है। इसका होना भी अपेक्षित है किन्तु इससे पहले नौ और मानसिक मुण्डन अनिवार्य हैं वे हैं—श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना एवं स्पर्शेन्द्रियों के विषयों पर रागद्वेष का निग्रह करना तथा क्रोध, मान, माया और लोभ को पराजित करना।^५

१. जाति—गोत्रादि—कर्माणि शुक्लध्यानस्य हेतवः।

येषु ते स्युस्त्रयो वर्णाः शेषाः शूद्राः प्रकीर्तिताः। महापुराण, ७४.४६३

२. भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरुत्तरकुरुभ्यः।।

त०सू० ३.१६

३. न वि मुण्डेण समणो न ओंकारेण बम्भणो।

न मुणी रण्णवासेण कुसचीरेण न तावसो।। उ० २५.३१

४. समयाए समणो होइ बम्भचेरेण बम्भणो।

नाणेण य मुणी होइ तवेण होइ तावसो।। वही, २५.३२

५. दस मुंडा पण्णत्ता, त जहां सोत्तिदियमुंडे, चक्खिदियमुंडे, घाणिदियमुंडे, जिब्बिदियमुंडे, फासिदियमुंडे, कोहमुंडे, माणमुंडे, मायामुंडे, लोभमुंडे, सिरमुंडे।

ठाणं, १०.६६

इन नौ आन्तरिक कुसंस्कारों का मुण्डन अर्थात् इन पर पहले विजय पाना आवश्यक है। तत्पश्चात् ही सिर के बालों का मुण्डन कराना सार्थक होता है। ऐसा मानसिक विजेता ही सच्चे अर्थों में साधुपद ग्रहण करने के योग्य होता है।

(घ) साधुत्व का धारण किस लिए ?

जन्म से ही कोई साधु नहीं होता और न ही जन्म लेने के पश्चात् उसे कोई बलपूर्वक साधु बना सकता है बल्कि यह स्वेच्छा से ही साधुत्व को ग्रहण करता है। ऐसी स्थिति में सहज ही यह प्रश्न होता है कि ऐसा कौन सा कारण विशेष है जिससे सत्त्व प्रव्रज्या अथवा साधुत्व को अंगीकार करते हैं ?

यह सत्य है कि प्रत्येक प्रवृत्ति के पीछे कोई न कोई प्रयोजन अवश्य रहता है। मनुष्य निष्प्रयोजन तो कोई कार्य करता ही नहीं। विशेषतः श्रमणत्व जैसे दुष्कर कार्यों में तो मनुष्य की प्रवृत्ति निष्प्रयोजन सम्भव ही नहीं है। अतः इसके पीछे कोई विशेष प्रयोजन अभिप्रेत है।

उत्तराध्ययनसूत्र में दीक्षा (प्रव्रज्या) ग्रहण करने का कारण जीवन की क्षणभंगुरता तथा दुःख बतलाया गया है।^१ कर्मफल सभी को भोगना पड़ता है, इसमें बन्धु—बान्धव तथा सगे सम्बन्धी आदि कोई भी सहायता नहीं कर सकता, क्योंकि कर्म कर्ता के ही पीछे चलता है।^२ अतः मनुष्य सांसारिक सुखों का त्याग कर मुनिव्रत को स्वीकार करता है जिसे पाकर पुनः इस संसार में जन्म नहीं लेना पड़ता।^३

समराइष्यकहा में भी सांसारिक क्लेश अर्थात् जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, संयोग और वियोग आदि के कारण ही सम्पूर्ण दुःखों के मोचक श्रमणत्व को ग्रहण करने का उल्लेख मिलता है।^४ यहां प्रव्रज्यारूपी महाकुठार से कर्मतरु को काटकर सभी प्रकार के बन्धनों से छुटकारा पाना परलोक में सहायक बतलाया है।^५

१. असासयं ददतु इमं विहारं, बहुअन्तरायं न य दीहमाउं ।
तम्हा गिहंसि न रइं लहामो, आमन्तयामो चरिस्सामु मोणं ।।
उ०, १४.७
२. न तस्य दुक्खं विभयन्ति नाइओ, न मित्तवग्गा न सुया न बन्धवा ।
एक्का सयं पच्चणु होइ दुक्खं, कत्तारमेवं अणुजाइ कम्मं ।।
वही, १३.२३
३. अज्जेव धम्मं पडिवज्जयामो, जहिं पवन्ना न पुणब्बवामो ।
अणागयं नेव य अत्थि किंचि, सद्धाखमं णे विणइत्तु रागं ।। वही, १४.२८
४. सम०क० ४, पृ०३३७
५. वही, क०१, पृ०५६, २, पृ०१२७, ४, पृ०२४६; ६, पृ०५७४; ७, पृ०६२३; ८, पृ०८११—१२ ।

(क) दीक्षा : गृहस्थ आश्रम से पलायन नहीं :

साधु—धर्म में दीक्षित होना क्या गृहस्थ आश्रम की कठिनाइयों से घबरा कर पलायन करना नहीं ? नहीं, कारण कि एक में भय की भावना निहित है तो दूसरे में लक्ष्य का मुख आत्मविकास की ओर होता है। **उत्तराध्ययनसूत्र** में आता भी है कि जब राजा नमि की दीक्षा के समय इन्द्र उनसे यह कहता है कि गृहस्थाश्रम को त्याग कर सन्यासाश्रम की प्रार्थना करने की अपेक्षा यह उत्तम है कि आप गृहस्थाश्रम में ही रहते हुए पौषधव्रत में अनुरत रहे^१ तो राजा नमि इसका प्रत्युत्तर देते हैं कि 'जो अज्ञानी साधक महीने—महीने के तप करता है और पारणा में कुशाग्रप्रमाण आहार करता है वह भी सर्वविरतिरूप सुविख्यात धम्र अर्थात् सन्यासाश्रम की सोलहवीं कला को भी प्राप्त नहीं कर सकता।^२ इससे स्पष्ट है कि दीक्षा लेना गृहस्थ आश्रम के दुःखों से पलायन नहीं है।

(ख) साधु का एकमात्र ध्येय मुक्तिलाभ :

आत्मा को दुःखों से मुक्त कर अनन्त और यथार्थ सुख की प्राप्ति करना ही साधु का ध्येय है। मुनि इहलोक की भौतिक समृद्धि के लिए, परलोक की समृद्धि के लिए या प्रशंसित होने के लिए आचार का पालन नहीं करते, अपितु केवल आत्मशुद्धि हेतु ही वे आचार का पालन करते हैं।^३ प्रब्रज्या एकमात्र आत्मा के लिए ही है।^४ अतः श्रमणत्व धारण का मूल उद्देश्य है—आत्मिक विकास, इसी को मोक्ष भी कहा जाता है।

(ग) दीक्षा ग्रहण :

जो व्यक्ति साधुपद की पूर्वकथित योग्यताएं रखता है एवं दीक्षा लेने का इच्छुक है, उसके लिए निम्न बातों पर भी ध्यान देना समुचित है—

(अ) माता-पिता की अनुमति :

दीक्षार्थी को दीक्षा लेने से पूर्व माता—पिता अथवा सम्बन्धी—जनों से आज्ञा लेनी चाहिए।^५ राजा श्रेणिक के पुत्र मेघ कुमार जब मुनि बनने लगते हैं तब अपने माता—पिता को प्रब्रज्या के महत्त्व को समझाते हुए बार—बार कहते हैं कि 'मैंने भगवान् महावीर के धर्म का प्रत्यक्ष श्रवण किया है, वह मुझे प्रतीच्छित है तथा अभिरुचित है। इसलिए हे माता—पिता ! मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि आप मुझे श्रमण भगवान् महावीर के पास घर छोड़कर अनगार अवस्था धारण

१. दे० उ०, ६.४२

२. मासे मासे तु जो बालो कुसग्गेणं तु भंजए।

न सो सुयक्खायधम्मस्स कलं अग्घइ सोलसिं ।। वही, ६.४४

३. दे०—दश० ६.४.७

४. अत्तत्ताए परिब्बए। सूयगङ्गो—१, सू० ३.४६

५. गुरुजनाद्यनुज्ञेति। धर्मबिन्दु, ४.२४६,

तथा दे०—उ० १४. ६—७; १६. १०, ११, २४, ८५, ८६; २०. ३४; २ १.१०

करने की अनुमति प्रदान करें ।^१

परन्तु ऐसा भी हो सकता है कि माता—पिता आदि अनुरागवश या किसी अन्य कारण से अनुमति न भी प्रदान करें, तब क्या किया जाए ? इसके प्रत्युत्तर में आचार्य हरिभद्र सूरि कहते हैं कि दीक्षार्थी अपने सम्बन्धीजनों को दुःस्वप्न (गधा, ऊंट, भैंस आदि पर बैठना) आदि बतलाए^२ और अपनी प्रकृति के विपरीत चिह्नों का दिखावा करे ।^३ यदि माता—पिता विपरीत चिह्नों को न जाने तो ज्योतिषियों के द्वारा ऐसा कहलावे ।^४ ऐसा आचरण करना माता—पिता को दुःख देना नहीं कहा जा सकता क्योंकि धर्म के साधन में जो क्रिया की जाती है वह माया नहीं है^५ तथा यह जो कार्य किया जाता है । दोनों के हित के लिए ही होता है ।^६ अतः इस प्रकार प्रयास किए जाने पर वे सहमत हो जाएं तो अच्छा है, नहीं तो दीक्षार्थी आत्म कल्याण के लिए दीक्षा ले लेवे ।

(ब) परिवार एवं सांसारिक विषय-भोगों का त्याग :

माता—पिता व अन्य सम्बन्धियों की अनुमति ले लेने के बाद साधक को माता, पिता, भाई, बहिन, पत्नी एवं पुत्र आदि सभी कुटुम्बीजनों तथा संसार के अन्य सभी पदार्थों को महामोह उत्पन्न करने वाले समझकर उसी प्रकार त्याग देना चाहिए जिस प्रकार हाथी बन्धन को तोड़कर वन में चला जाता है,^७ सांप अपनी केंचुली का त्याग कर देता है,^८ रोहित मत्स्य अपने जाल का भेदन करके चला जाता है,^९ धूलि कपड़े को झटककर फैंक दी जाती है^{१०} तथा जिस प्रकार क्रौंच और हंस पक्षी जालों को काटकर आकाश में स्वतन्त्र उड़ जाते हैं ।^{११} इस प्रकार संसारियों को ममत्व एवं विषय भोगों में आसक्ति का पूर्णतः

१. मए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिएधम्मं निसंते से विय मेधम्मं इच्छिय पडिच्छिय अभिरुइए तं इच्छाणि णं अम्मयाओ ! तुब्भेहिं अब्भणुन्नाए समाणे समणस्स भगवाओ महावीरस्स अंतिए मुंडे भवित्ता अगाराओ आणगारियं पव्वइत्तए ।। ज्ञाता० १.२६
२. दुःस्वप्नादिकथनमिति । धर्मबिन्दु, ४.२५१
३. तथा—विपर्यलिङ्गसेवेति । वही, ४.२५२
४. दैवज्ञैस्तथा तथा निवेदनमिति । वही, ४.२५३
५. न धर्म मायेति । वही, ४.२५४
६. उभयहितमेतदिति । वही, ४.२५५
७. जहित्तु संगं च महाकिलेसं महन्तमोहं कसिणं भयावहं । उ० २१.११
नागोव्व बन्धणं छित्ता अप्पणो वसहिं वए । वही, १४.४८
८. जहा य भोई ! तणुयं भुयंगो निम्मोयणिं हिच्च पलेइ मुत्तो ।
एमेय जाया पयहन्ति भोए--- । वही, १४. ३४
९. छिन्दित्तु जालं अबलं व रोहिया मच्छा जहा कामगुणे पहाय । वही, १४.३५
१०. इडिढं वित्तं च मित्ते य पुत्त—दारं च नायओ ।
रेणुयं व पडे लगं निद्धुणित्ताण निग्गओ । वही, १६.८७
११. जहेव कुंचा समइक्कमन्ता तयाणि जालाणि दलित्तु हंसा ।
पलेन्ति पुत्ता य पई य मज्झं— । वही, १४.३६

त्याग कर देना चाहिए।

(स) दीक्षा गुरु :

दीक्षा लेते समय सामान्यतः दीक्षा देने वाले गुरु की आवश्यकता पड़ती है। साधक जिसके सान्निध्य में दीक्षित होता है, वह उसका 'दीक्षा गुरु' कहलाता है।^१ यदि किसी दीक्षार्थी को इस प्रकार का दीक्षागुरु नहीं भी मिलता है तो वह इस योग्य होने पर स्वयं भी दीक्षा ले सकता है और तत्पश्चात् अन्य साधकों का दीक्षागुरु बनकर उन्हें भी साधुधर्म में दीक्षित कर सकता है। राजकुमारी राजीमती पहले स्वयं दीक्षित होती है फिर अपने साथ बहुत से स्वजनों तथा परिजनों को प्रव्रजित कराती है।^२

दीक्षा लेने पर आयु की गणना नहीं की जाती है।^३ जो दीक्षा में बड़ा होता है वही गुरु अर्थात् पूज्य होता है। अतः दीक्षा लेने के पश्चात् वह अपने माता—पिता इत्यादि सभी कुटुम्बीजनों के द्वारा भी पूज्य हो जाता है।^४

(द) दीक्षा विधि :

जब दीक्षार्थी माता—पिता आदि की अनुमति प्राप्त कर लेता है तथा माता—पिता इत्यादि परिवार के सदस्यों एवं सांसारिक विषयों के प्रति विरक्त हो जाता है तब वह दीक्षा—ग्रहण के लिए तैयार समझा जाता है। सबसे पहले नाई को बुलवाकर दीक्षार्थी के चार अंगुल प्रमाण बालों को छोड़कर शेष सब बाल कटवा दिए जाते हैं। माता उन्हें एक बहुमूल्य वस्त्र में लेकर, गन्धोदक से साफ करके, सफेद वस्त्र में बांधकर एक सुन्दर एवं मूल्यवान् डिब्बे में रख लेती है। उसके बाद उसे उत्तराभिमुख वाले सिंहासन पर बैठाकर स्नान कराया जाता है। पुनः चन्दन इत्यादि से शरीर पर अनुलेपन करके, उसे सुन्दर वस्त्र पहनाकर, आभूषण एवं पुष्पमालाओं से सजाया जाता है।

इसके बाद उसे एक सजी हुई पालकी में बैठाकर नगर के बीचों बीच विभिन्न प्रकार के वाद्य—यन्त्रों की ध्वनि के साथ शोभा यात्रा में निकाला जाता है। इस प्रकार से जाते हुए दीक्षार्थी को नगरवासी विभिन्न प्रकार से आशीर्वाद देते हैं और उसके लिए कल्याण सिद्धि की कामना करते हैं। इस प्रकार जाता हुआ वह अन्त में किसी उद्यान इत्यादि में पहुँच कर पालकी से नीचे उतर जाता है।

१. लिंगगहणे तेसिं गुरुत्ति पव्वज्जदायगो होदि । प्रवचनसार, ३.१०

२. सा पव्वइया सन्ती पव्वावेसी तहिं बहुं ।

सयणं परियणं चैव सीलावन्ता बहुस्सुया ।। उ० २२.३२

३. न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते । कुमारसम्भव, ५.१६

४. एवं ते रामकेसवा दसारा य बहू जणा ।

अरिट्ठणेमिं वन्दित्ता अइगया बारगापुरिं ।। उ० २२.२७

फिर, माता—पिता एवं अन्य सम्बन्धी उसे गुरु के पास लेकर जाते हैं तथा उसकी दीक्षा के लिए प्रार्थना करते हैं। जब गुरु महाराज दीक्षा की अनुमति दे देते हैं तो एक तरफ जाकर उसके सभी आभूषण इत्यादि उतार दिए जाते हैं, गृहस्थवेश का परित्याग कर मुनिवेश धारण किया जाता है। तदनन्तर दीक्षार्थी के द्वारा स्वयं पंचमुष्टि लोंच किया जाता है।

उसके बाद गुरु के सामने उपस्थित होकर 'तिक्रबुतो' पाठ के द्वारा तीन बार आदक्षिणा—प्रदक्षिणा करके विधिपूर्वक गुरु वन्दना की जाती है। दीक्षार्थी के सांसारिक भोगों की निन्दा करते हुए संयम मार्ग पर आरुढ़ होने के लिए निवेदन करने पर स्वयं गुरु उसे प्रव्रजित करते हैं। सबसे पहले पंच परमेष्ठी का नाम (= नमस्कार महामन्त्र को) सुनाया जाता है। फिर 'इच्छाकारेण'^१ इस पाठ को पढ़कर 'तस्स उत्तरीकरणेण'^२ पाठ के द्वारा क्षेत्र—विशुद्धि के लिए कायोत्सर्ग कराया जाता है। पुनः 'लोगस्स'^३ पाठ सुनाकर 'करेमि मन्ते'^४ पाठ

१. आवस्सई इच्छाकारेण संदिसह भयवं । देवसियं पडिक्कमणं ठाएमि
देवसियनाण—दंसण—चरित—तव—अइयार—चिंतवणट्ठं करेमि काउस्सगं । श्रमण
प्रतिकमण, १.१
२. तस्स उत्तरीकरणेण पायच्छित्तकरणेण विसोहिकरणेण विसल्लीकरणेण पावाणं कम्माणं
निग्घायणदठाए ठामि काउस्सगं अन्नत्थ अससिएण नीससिएणं खासिएणं छीएणं
जंमाइएणं उड्डुएणं वायनिसग्गणं भमलीए पित्तमुच्छाए सुहुमेहिं अंगसंचालेहिं
सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं एवमाइएहिं आगारेहिं अभग्गो
अविराहिओ होज्ज मे काउस्सग्गो जाव अरहंताणं भवंताणं नमोक्कारेणं न पारेमि
तावकायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि । आवस्सयं, ५.३
३. लोगस्स उज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे ।
अरिहंते कितइस्सं चउविसंपि केवली ।।
उसभजियं च वंदे, संभवमाभिनंदणं च सुमहं च ।
पउप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ।।
सुविहिं च पुप्फदंतं सीअल सिज्जंस वासुपुज्जं च ।
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि ।।
कुन्थुं अरं च मल्लिं वंदे मुणिगुव्वयं नमिजिणं च ।
वदामि रिट्ठेनमिं, पासं तह वद्धमाणं च ।।
एवं मए अमिथुआ, विहुय—रयमला पहीण—जरमरणा ।
चउविसंपि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु ।।
कितिय वंदिय मए जेए लोगस्स उत्तमा सिद्धा ।
आरोग्ग—बोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु ।।
चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा ।
सागरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ।। वही, २.१
४. करेमि भंते । सामाइयं—सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि, जावज्जीवाए
तिविहं तिबिहेणं—मणेणं वायाए काएणं न करेभि न कारवेमि करंतं पि
अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि
अप्पाणं वोसिरामि । आवस्सयं, १.२

को पढ़कर उसे दीक्षित किया जाता है। दीक्षा स्वीकार कर लेने के पश्चात् वह साधक गुरु के द्वारा स्वयं मुण्डित किया जाता है। इसके बाद 'नमोत्थुणं' पाठ को दो बार पढ़वा कर दीक्षार्थी को आचार आदि अंगों वाले धर्म का उपदेश दिया जाता है।^१

(ड) साधु के सत्ताईस गुण :

साधुधर्म की पूर्वोक्त योग्यताओं और विशेषताओं को देखते हुए यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि वेष, जाति, वय और शरीर आदि मात्र से कोई भी व्यक्ति साधु नहीं कहला सकता, साधु की पहचान गुणों से ही हो सकती है तथा गुणों के धारण करने से ही साधुजन विश्व के प्राणियों का उद्धार कर सकते हैं। अतः तीर्थंकर भगवान् ने साधु के सत्ताईस गुण बतलाए हैं जो उसमें होने आवश्यक हैं^२—

1-5 पंच महाव्रत पालन^३ :

साधु पंच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं सहित उनका पूर्णतया पालन करते हैं।

6-10 पञ्चेन्द्रिय निग्रह^४ :

साधु श्रोत्र इत्यादि पांचों इन्द्रियों का निग्रह करते हैं—उनके अपने-अपने

१. नमोत्थुणं अरहंताणं भगवंताणं आइगराणं तिथयराणं सहसं बुद्धाणं पुरिसोत्तमाणं पुरिससीहाणं पुरिसवरपुंडरीयाणं पुरिसवरगंधहत्थीणं लोगुत्तमाणं लोगनाहाणं लोगहियाणं लोगपईवाणं लोगपज्जोयगराणं अभयदयाणं चक्खुदयाणं मग्गदयाणं सरणदयाणं जीवदयाणं बोहिदयाणं धम्मदयाणं धम्मदेसायाणं धम्मनायागाणं धम्मसारहीणं धम्मवरचाउरंतं चक्कवट्टीणं दीवो ताणं सरणं गई पइट्ठा अप्पडि—हयवरनाणदंसण— धराणं विअट्टच्छउमाणं जिणाणं जावयाणं तिण्णाणं तारायाणं बुद्धाणं बोहयाणं मुत्ताणं मोयगाणं सव्वणूणंसव्वदरिसीणं सिवमयलामरूयमणंतमक्खयमव्वाबाह मपुणरावत्तयं सिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं नमो जिणाणं जियभयाणं। आवस्सयं, ६.११
२. विस्तृत अध्ययन के लिए दे०—ज्ञाता, मेघ कुमार के दीक्षोत्सव का निरूपण, पृ० ३७८.— ४४२
३. सत्तावीसं अणगारगुणा पण्णत्ता, तं जहा—
पाणातिवायवेरमणे, मुसावायवेरमणे, आदिण्णदान वेरमणे, मेहुणाओ वेरमणे, परिग्गाहो वेरमणे, सोइंदियनिग्गहे, चक्खिंदियनिग्गहे, धाणिंदियनिग्गहे, जिभिंदियनिग्गहे, फासिंदियनिग्गहे, कोहविवेगे, माणविवेगे, मवयाविवेगे, लोभविवेगे, भावसच्चे, करणसच्चे, जोगसच्चे, खमा, विरागता, मणसमाहरणता, वतिसमाहरणता, कायसमाहरणता, णाणसंप्पणया, दंसणसंप्पणया, चरित्तसंप्पणया, वेयणअहियासणया, मारणंतिय अहियासणया। समवाओ, २७.१
४. विस्तार के लिए देखिए—प्रस्तुत शोध—प्रबन्ध, परिच्छेद—, पृ० २४५—१५३
५. वही, पृ० १३७—१३८

विषयों के प्रति साधु को आसक्त नहीं होने देते हैं ।

11-14 चतुर्विध कषाय विवेक^१ :

साधु क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार प्रकार के कषायों के विषय में विवेक रखते हैं, उनके वशीभूत नहीं होते । चतुर्विध कषाय के विषय में भी पूर्व में विस्तार से वर्णन किया जा चुका है ।

15- भावसत्य :

अन्तःकरण के आस्रवों को हटाकर ध्यान के द्वारा भावों को निर्मल करके आत्मा का शुद्ध भावों से अनुप्रेक्षण करना, भावसत्य कहलाता है । इससे भावों में सत्य की स्फुरणा उत्पन्न होती है ।

16- करणसत्य :

साधु-साध्वी के लिए जिस समय जिस-जिस क्रिया को करने का शास्त्र में विधान है, उस क्रिया को उसी समय शुद्ध रूप से शुद्ध अन्तःकरण से मनोयोगपूर्वक करना, करण सत्य है । उपाध्याय के गुणों के प्रसंग में करण के सत्तर प्रकार बतलाए गए हैं ।

17- योगसत्य :

मन, वचन और कायरूप तीन योगों की अशुभ प्रवृत्ति को रोककर शुभ प्रवृत्ति करना, योग सत्य है ।

18- क्षमा :

सहनशील रहना, अर्थात् क्रोध पैदा न होने देना और कभी क्रोध आ भी जाए तो उसे विवेक तथा नम्रता से निष्फल कर डालना, क्षमा है ।

19- वैराग्य :

सांसारिक पदार्थों की नश्वरता को जानकर उनसे रागद्वेष को समाप्त करना, विषयों से विरक्त होना ही वैराग्य है ।

20-मनःसमाहरण :

सम + आहरण । सम का अर्थ समता, समान भाव और आहरण का अर्थ है- ग्रहण करना । इस प्रकार मन में समताभाव रखना, मन को आगमोक्त भावों के चिन्तन में भली-भांति लगाए रखना ही मनःसमाहरण है । मन के समाहरण से जीव एकाग्रता को प्राप्त होता है जिससे साधु विविध तत्त्वबोध रूप ज्ञान को प्राप्त कर मिथ्यादर्शन की निर्जरा करता है ।^२

१. वही, पृ० १४२-१४५

२. दे०-उ० २६.५७

21— वचनसमाहरण :

वचन को स्वाध्याय में भली-भांति संलग्न रखना वचनसमाहरण है। वचन समाहरण से जीव वाणी के विषयभूत दर्शन के विविध प्रकारों को विशुद्ध एवं विशद करके सुलभता से बोधि को प्राप्त करता है।^१

22— कायसमाहरण :

काया को संयम की शुद्ध प्रवृत्तियों में संलग्न रखना ही कायसमाहरण है। काया के समाहरण से जीव चारित्र के विभिन्न प्रकारों को विशुद्ध करता है जिससे वह यथारव्यातचारित्र को प्राप्त होकर घातिया कर्मों का क्षय करता है और तत्पश्चात् निखिल दुःखों का अन्त कर वह सिद्ध हो जाता है।^२

23—25 रत्नत्रयसम्पन्नता :

साधु ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्नत्रय से सम्पन्न होता है। रत्नत्रय का स्वरूप उपाध्याय के गुणों में बतलाया जा चुका है।^३

26— वेदना अधिसहन :

शीत, ताप आदि की वेदना को समभाव से सहन करना ही वेदना अधिसहन है। इससे सहनशीलता का अभ्यास होता है।

27— मरणान्तिक अधिसहन :

मृत्यु के समय आने वाले कष्टों को समभाव से सहन करना और ऐसा विचार करना कि ये मेरे कल्याण के लिए ही हैं, मरणान्तिक अधिसहन है।

इस प्रकार साधु 27 गुणों के धारक होते हैं, इनका पूर्णतया पालन करते हैं। परन्तु दिगम्बर परम्परा में साधु के 28 मूलगुण बतलाए गए हैं—

1—5 पांच महाव्रत :

साधु अहिंसा आदि पांच महाव्रतों का पूर्णतःपालन करते हैं। अहिंसा आदि का वर्णन पहले किया जा चुका है।

6—10 पांच समितियां

साधु पांच समितियों का भी पालन करते हैं। आचार्य के गुणों में इस विषय पर प्रकाश डाला जा चुका है।

१. वही, २६. ५८

२. दे०—वही २६. ५६

३. दे०— प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, परिच्छेद—५, पृ० २२२—२३१

४. वदसमिदिंदियरोधो लोघावस्सयमचेलमणहाणं।

खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च।। प्रवचनसार, ३.८

तथा मिलाइये— मूला० १.२—३

11-15 पञ्चेन्द्रिय निरोध :

साधु अपनी पांचों इन्द्रियों का निरोध करते हैं, उन पर विजय पा लेते हैं ।

16-21 षडावश्यक :

सामायिक, वन्दन, प्रतिक्रमण आदि छहों षडावश्यकों का पूर्व में सम्यक् प्रतिपादन किया जा चुका है ।^१

22- केशलौच :

सिर और दाढ़ी के बालों को जो हाथों से उखाड़ा जाता है, वह लौचकर्म कहलाता है । वह उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार का है । इनमें दो मासों के पूर्ण होने पर जो लौच किया जाता है उसे उत्कृष्ट लौच, तीन मासों के पूर्ण होने पर या उनके बीच में जो लौच किया जाता है उसे मध्यमलौच, तथा चार मासों के पूर्ण होने पर जो लौच किया जाता है, उसे जघन्य लौच बतलाया गया है । केश-लौच को पाक्षिक व चातुर्मासिक आदि प्रतिक्रमण के दिन उपवासपूर्वक करना विहित है ।

यद्यपि बालों को कैंची या उस्तरा आदि की सहायता से भी काटा जा सकता है, पर उसमें परावलम्बन है क्योंकि उनको दीनतापूर्वक किसी से मांगना पड़ेगा, परिग्रहरूप होने से उन्हें अपने पास भी नहीं रखा जा सकता । बाह्य व आभ्यन्तर परिग्रह का सर्वथा त्याग करने वाले मुनि का मार्ग पूर्णतया स्वावलम्बनरूप है ।

बालों के बढ़ने पर उनमें जूँ आदि क्षूद्र जन्तु उत्पन्न हो जाते हैं जिनके विघात को नहीं रोका जा सकता । बालों के बढ़ने में रागभाव भी सम्भव है । इसके अतिरिक्त लौच करने में आत्मबल और सहनशीलता भी प्रकट होती है । इन सब कारणों से लौच को साधु के मूल गुणों में शामिल किया गया है ।^२

23- आचेलक्य :

चैल नाम वस्त्र का है । वस्त्र—यह चमड़ा व वल्कल आदि अन्य सब का उपलक्षण है । इसका यह अभिप्राय हुआ कि सूती, रेशमी व ऊनी आदि किसी भी प्रकार के वस्त्र, चमड़े और वृक्ष के वल्कल व अन्य पत्ते आदि किसी से भी जननेन्द्रिय को आच्छादित न करके बालक के समान निर्विकार रहना, यह साधु का आचेलक्य नामक गुण है ।

भूषण व वस्त्र से रहित दिगम्बर मुद्रा लोक में पूज्य होती है । इसमें लज्जा को छोड़ते हुए किसी से न तो याचना करनी पड़ती है । इस प्रकार वह पूर्णतया स्वावलम्बन का कारण है जिसकी मुनिधर्म में अपेक्षा रहती है ।^३

१. दे०—प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, परिच्छेद-४, पृ० १६७-१६६

२. दे०—मूला० वृ० १.२६

३. दे०—वही, १.३०

24. क्षितिशयन :

जहां पर तृणादि किसी भी प्रकार का संस्तर नहीं है अथवा जिसमें संयम का विघात न हो—ऐसे अल्पसंस्तर से जो सहित है तथा जो प्रच्छन्न है—स्त्री व पशु आदि के आवागमन से रहित है, इस प्रकार के प्रासुक भूमि प्रदेश में दण्ड (काष्ठ) या धनुष के समान एक करवट से सोना, क्षितिशयन कहलाता है ।^१

25. अदन्तधावन :

अंगुली, नख, दातौन, तृण व पत्थर आदि से दांतों के मैल को न निकालना, यह अदन्तधावन अथवा अदन्तघर्षणा नामक गुण है । इसके परिपालन से संयम की रक्षा के साथ-साथ शरीर की ओर से ममत्व का अभाव होता है ।^२

26. स्थितिभोज :

दीवार व खम्बे इत्यादि के आश्रय को छोड़कर, दोनों पावों को बराबर करके अंजलिपुट से दोनों हाथों की अंगुलियों को परस्पर सम्बद्ध करके स्थित रहते हुए जो तीन प्रकार से विशुद्ध स्थान (अपने पांवों का स्थान, उच्छिष्ट के गिरने का स्थान और परोसने वाले का स्थान) में भोजन ग्रहण किया जाता है, वह स्थितिभोज कहलाता है । अभिप्राय यह है कि साधु किसी दीवार आदि का सहारा न लेकर, दोनों हाथों की अंजलि को ही पात्र बनाकर उससे इस प्रकार आहार ग्रहण करता है कि उच्छिष्ट आहार नाभि के नीचे न जा सके । भोजन करते समय दोनों पांव चार अंगुल के अन्तर से सम रहने चाहिए, अन्यथा अन्तराय होता है । इस गुण से इन्द्रिय-संयम व प्राण-संयम दोनों का परिपालन होता है ।^३

27. अस्नान :

स्नान का परित्याग करने से यद्यपि समस्त शरीर जल्ल, मल्ल और स्वेद से आच्छादित रहता है, पर निरन्तर ध्यान-अध्ययन आदि में निरत रहने वाले साधु का उस ओर ध्यान न जाना तथा उससे घृणा न करके उसे स्वच्छ रखने का रागभाव न रहना, यह साधु का अस्नान नामक गुण है । इससे भी संयम का पालन होता है ।

जल्ल सर्वांगीण मल का द्योतक है । शरीर के एक देश में होने वाले मैल को मल्ल और पसीने को स्वेद कहते हैं ।^४

१. दे०—मूला० वृ० १.३२

२. वही, १.३३

३. वही, १.३४

४. वही, १.३९

28. एकभक्त :

सूर्य के उदय और अस्त गमन काल में तीन मुहूर्तों को छोड़कर अर्थात् सूर्योदय से तीन मुहूर्त बाद और सूर्यास्त से तीन मुहूर्त पहले, मध्यकाल में एक, दो अथवा तीन मुहूर्तों में जो एक बार या एक स्थान में भोजन ग्रहण किया जाता है, उसका नाम एक भक्त है। इसके परिपालन से इन्द्रियजय के साथ इच्छा के निरोधरूप तप का भी लाभ होता है।^१

साधु के उक्त 27 गुणों व 28 गुणों में मुख्य भेद नग्नता का है, शेष गुण तो मिलते—जुलते ही हैं तथा एक दूसरे में समाविष्ट हो जाते हैं। दिगम्बर परम्परा की यह स्पष्ट घोषणा है कि वस्त्रधारी सिद्धि को प्राप्त नहीं होता, भले ही वह तीर्थंकर भी क्यों न हो? नग्नता मोक्ष का मार्ग है, शेष सब उन्मार्ग हैं।^२ अतः आचेलक्य को साधु के मूलगुणों में माना गया है।

6. साधु का आचार :

जैन धर्म आचारप्रधान है। आचार को चारित्र भी कहा जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने चारितं खलु धम्मो^३ कहकर चारित्र को ही धर्म बतलाया है। चारित्र के दो प्रकार हैं—एक श्रावकों का चारित्र तथा दूसरा साधुओं का चारित्र। किन्तु निवृत्तिप्रधान जैनधर्म का नैतिक चारित्र साधुओं का चारित्र ही है।

पञ्च परमेष्ठियों में सबसे नीचे का दर्जा साधुओं का है। साधुधर्म के आचरण से ही सर्वोच्च परमेष्ठी का पद प्राप्त होता है। प्राचीन परम्परा के अनुसार यह विधान था कि साधु को अपने श्रोताओं के सम्मुख सर्वप्रथम साधु धर्म का ही उपदेश देना चाहिए, श्रावक धर्म का नहीं, क्योंकि हो सकता है कि श्रोता उच्च भावना लेकर आया हो और श्रावक धर्म को सुनकर वह उसी में उलझ जाए। पुरुषार्थसिद्धयुपाय के आरम्भ में आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने इस विधान का निर्देश करते हुए लिखा है कि—

‘जो अल्पबुद्धि उपदेशक मुनिधर्म का कथन न करके गृहस्थ धर्म का उपदेश करता है, उस उपदेशक को जिनागम में दण्ड का पात्र कहा है क्योंकि उसने क्रम का उल्लंघन करके धर्म का उपदेश दिया है और उससे अति उत्साहशील श्रोता अस्थान में सन्तुष्ट होकर ठगाया जाता है’।^४

१. दे०— वही, १.३५

२. ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो ।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ।। सुत्तपाहुड, गा० २३

३. प्रवचनसार, १.७

४. यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गुहस्थधर्ममल्पमतिः ।

तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ।।

अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्यः ।

अपदेऽपि सम्प्रतृप्तः प्रतारितः भवति तेन दुर्मतिना ।।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय, गा० १८.१६

अतः जैनधर्म में मुनियों का चारित्र ही वस्तुतः चारित्र है। असमर्थ श्रावक भी इसी उद्देश्य से श्रावक धर्म का पालन करता है कि मैं आगे चलकर साधु धर्म स्वीकार करूंगा।

साधु के आचार को समुचित रूप से जानने के लिए इसे दो भागों में बांटा जा सकता है—(1) सामान्य साध्वाचार और (2) विशेष साध्वाचार।

(1) सामान्य साध्वाचार :

साधु के द्वारा प्रतिदिन सामान्य रूप से जिस प्रकार के सदाचार का पालन किया जाता है, वह सामान्य साध्वाचार कहा जाता है। इसमें निम्नोक्त बातें शामिल हैं—

1. महाव्रत
2. प्रवचनमाताएं
3. षडावश्यक
4. सामाचारी
5. बाह्य उपकरण (उपधि)
6. वसति या उपाश्रय
7. आहार—खान पान

इनमें से महाव्रत, प्रवचनमाताएं एवं षडावश्यक का वर्णन पहले ही किया जा चुका है।

(क) सामाचारी :

सामाचारी का अर्थ है—साधु का आचार—व्यवहार या इति कर्तव्यता। इस व्यापक परिभाषा से साधु—जीवन की दिन—रात की समस्त प्रवृत्तियां सामाचारी शब्द से व्यवहृत हो जाती हैं। सामाचारी के दस मुख्य अंग बतलाए गए हैं जो निम्न प्रकार हैं—^१

1. आवश्यकी :

अपने ठहरने के स्थान से बाहर निकलते समय 'आवस्सियं' अर्थात् आवश्यक कार्य के लिए बाहर जा रहा हूं। ऐसा कहना आवश्यकी है। यह इस बात का सूचक है कि साधु का गमनागमन प्रयोजनशून्य नहीं होता।

2. नैषेधिकी :

बाहर से उपाश्रय के अन्दर आते समय निसीहियं ऐसा कहना नैषेधिकी है। यह इस बात का सूचक है कि प्रयोजन पूरा होने पर साधु को पुनः स्थित हो जाना है।

3. आपृच्छना :

गुरु आदि से अपना कार्य करने के लिए पूछना या आज्ञा लेना आपृच्छना कहलाता है। इससे आज्ञा-अधीनता की पुष्टि होती है।

4. प्रतिपृच्छना :

दूसरे के कार्य के लिए गुरु से पूछना, अनुमति लेना प्रतिपृच्छना है।

5. छन्दना :

पूर्वग्रहीत द्रव्यों के लिए गुरु आदि को आमन्त्रित करना छन्दना है।

6. इच्छाकार :

दूसरों का कार्य अपनी सहज अभिरुचि से करना और अपना कार्य करने के लिए दूसरों को उनकी इच्छानुकूल विनम्र निवेदन करना इच्छाकार कहलाता है।

सामान्यतः मुनि के लिए आदेश की भाषा विहित नहीं है। पूर्व दीक्षित साधु को अपने से बाद में दीक्षित साधु से कोई कार्य कराना हो तो इच्छाकार का प्रयोग करना अनिवार्य है।

7. मिथ्याकार :

किसी प्रकार का प्रमाद हो जाने पर उसकी निवृत्ति के लिए आत्म-निन्दा करना मिथ्याकार कहलाता है। इससे अभिप्राय यही है कि प्रमाद को छिपाने के लिए साधु के मन में कोई आग्रह नहीं होना चाहिए बल्कि सहज भाव से अपने प्रमाद का प्रायश्चित्त कर लेना चाहिए।

8. तथाकार :

गुरुजनों के वचनों को सुनकर 'तहत्ति' अर्थात् जैसे आपकी आज्ञा ऐसा कहकर आदेश को स्वीकार कर लेना तथाकार है। इससे गुरुजनों के प्रति सम्मान प्रदर्शित होता है।

9. अभ्युत्थान :

गुरुजनों की पूजा अर्थात् सत्कार के लिए आसन से उठ कर खड़े हो जाना अभ्युत्थान कहलाता है। इस प्रकार से औपचारिक विनय का पालन होता है।

10. उपसम्पदा :

विशिष्ट ज्ञान आदि की प्राप्ति के लिए दूसरे आचार्य के पास जाना उपसम्पदा है ।^१

अपने गण में ज्ञान, दर्शन और चारित्र का विशेष प्रशिक्षण देने वाला कोई न हो, उस समय अपने आचार्य की अनुमति प्राप्त कर साधु किसी दूसरे गण के बहुश्रुत आचार्य की सन्निधि प्राप्त कर सकता है । लेकिन अकारण ही गण परिवर्तन नहीं किया जा सकता ।

‘उत्तराध्ययनसूत्र’ में समाचारी के दस अंगों के साथ-साथ साधु के दिन एवं रात के सामान्य कार्यों के समय-विभाग का भी वर्णन किया गया है ।

(ख) साधु की दैनिक एवं रात्रिक चर्या :

जैन मुनि के लिए समय की प्रामाणिकता पर बहुत जोर दिया गया है । उसे किसी कार्य के करने में क्षण मात्र का भी प्रमाद नहीं करना चाहिए ।^२ और जो कार्य जिस समय करने का हो, उसे उसी समय कर लेना चाहिए ।^३ साधु को दिन एवं रात को समान रूप से चार-चार भागों में बांट लेना चाहिए और यथानिर्दिष्ट कर्तव्यों को समयानुसार करना चाहिए ।^४ इस प्रकार के प्रत्येक भाग को पौरुषी (= प्रहर) कहा गया है ।^५

कालक्रम के अनुसार साधु की चर्या इस प्रकार है—दिन के समय प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में आहार, चौथे प्रहर में पुनः स्वाध्याय करना विहित है ।^६ इसी प्रकार रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में सोना और चौथे प्रहर में पुनः स्वाध्याय करना अपेक्षित है ।^७

प्रतिलेखना प्रथम और चतुर्थ प्रहर के आरम्भ में की जाती है ।^८ विहार और उत्सर्ग सामान्यतः चौथे प्रहर में किए जाते हैं, परन्तु आवश्यकतानुसार

१. बौद्धधर्म में उपसम्पदा संघ की सदस्यता हेतु विधि विशेष है । यह दीक्षा के उत्तरवर्ती । भाग का नाम है । यहां उपसम्पदा २० वर्ष के दीक्षित व्यक्ति को दी जाती है । उपसम्पदा साधक संघ संचालन के महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किया जाता है । जिसका उत्तरदायित्व वह सावधानी एवं सफलतापूर्वक निभाता है ।

२. समय गोयम ! मा पमायए । उ० १०.१

३. काले कालं समायरे । वही, १.३१

४. दे०—वही, २६.११, १७

५. वही, २६.१२, १३, १६, १६, २०

६. पढमं पोरिसिं सज्झायं बीयं ज्ञाणं झियायई ।

तइयाए भिक्खायरियं पुणो चउत्थीए सज्झाये ।। वही, २६.१२

७. पढमं पोरिसिं सज्झायं बीयं ज्ञाणं झियायई ।

तइयाए निदमोक्खं तु चउत्थी भुज्जो वि सज्झायं ।। वही, २६.१८

८. दे०—वही, २६.८, २१, ३७, ३८

ये कार्य अन्य समय में भी किए जा सकते हैं। अतः इस विषय में स्पष्ट उल्लेख नहीं है।

आचार्य आदि की सेवा के लिए भी कोई निश्चित समय नहीं है, जब आवश्यकता पड़े तभी वह की जा सकती है। शिष्य दिन के प्रारम्भ में ही आचार्य से पूछे— भन्ते, आप मुझे सेवा में नियुक्त करना चाहते हैं या स्वाध्याय में? इस प्रकार यदि आचार्य आवश्यकता समझे तो सेवा करे या फिर स्वाध्याय करे।^१ इससे स्पष्ट है कि सेवा को अत्याधिक महत्त्व प्राप्त है।

यहां एक बात ध्यान देने योग्य है कि साधु की इस चर्या में धर्मोपदेश जो कि अत्यन्त आवश्यक है, उसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है। इसके दो कारण हो सकते हैं—(1) धर्मोपदेश प्रत्येक साधु का कार्य नहीं है। इसलिए साधु की सामान्य चर्या में उसका उल्लेख नहीं है तथा (2) धर्मोपदेश स्वाध्याय का ही एक अंग है। अतः एव उसका पृथक् उल्लेख नहीं किया गया है।

ध्यान साधना की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है, इसी से उसके लिए दो प्रहर का समय निश्चित किया गया है जबकि स्वाध्याय के लिए चार प्रहर का समय निश्चित किया है परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि ध्यान की अपेक्षा स्वाध्याय अधिक महत्त्वपूर्ण है। सम्भवतः इसके पीछे मूल कारण यही रहा है कि प्राचीन काल में लिखने की परम्परा नहीं थी। सम्पूर्ण श्रुत कण्ठस्थ ही होता था। अतः यह आवश्यक था कि श्रुतज्ञान की परम्परा को अविच्छिन्न रखने के लिए स्वाध्याय पर बल दिया गया है।

इस तरह यहां साधु की दैनिक एवं रात्रिक चर्या के साथ जो दस अंगों वाली सामाचारी का वर्णन किया गया है वह सामान्य अपेक्षा से ही है क्योंकि इसमें समयानुसार परिवर्तन भी किया जा सकता है।^२

(ग) बाह्य उपकरण या उपधि :

यद्यपि जैन साधु सब प्रकार के परिग्रह से रहित होता है फिर भी जीवन—निर्वाह एवं संयम पालन आदि के लिए वह जिन उपकरणों को धारण करता है उन्हें उपधि या उपकरण कहते हैं।

जैन श्वेताम्बर साधु गृहस्थ से प्राप्त वस्त्र आदि को पहनते हैं तथा पात्र आदि कुछ अन्य उपकरण भी अपने पास रखते हैं किन्तु दिगम्बर परम्परा के साधु वस्त्र आदि नहीं पहनते हैं। प्राचीनकाल में दोनों ही प्रथाओं का प्रचलन रहा है।

केशि—गौतम गणधर संवाद में भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के शिष्यों

१. दे०उ० २६.६—१०

२. विशेष के लिए दे०—कल्पसूत्र, सामाचारी प्रकरण

और भगवान महावीर की परम्परा के शिष्यों में 'सान्तरोत्तर' (वस्त्र सहित) और 'अचेल' (वस्त्र रहित) के भेद को लेकर एक परिचर्चा हुई थी। इसमें पार्श्वनाथ की परम्परा के प्रधान शिष्य केशी श्रमण महावीर स्वामी के प्रधान शिष्य गौतम से पूछते हैं कि—

महामुनि वर्द्धमान ने जो आचार—धर्म की व्यवस्था की है, वह अचेलक है और महामुनि पार्श्व ने जो यह आचारधर्म की व्यवस्था की है, वह वर्ण आदि से विशिष्ट तथा मूल्यवान् वस्त्र वाली है। जब हम एक ही उद्देश्य से चले हैं तो इस भेद का क्या कारण है? मेधावी, लिंग के इन दो प्रकारों में तुम्हें कैसे संशय नहीं होता है?

केशी के ऐसा कहने पर गौतम ने इस प्रकार कहा—विज्ञान द्वारा यथोचित जानकर ही धर्म के साधनों—उपकरणों की अनुमति दी गई है। लोगों को यह प्रतीति हो कि ये साधु हैं, इसलिए नाना प्रकार के उपकरणों की परिकल्पना की गई है। जीवन यात्रा को निभाना और 'मैं साधु हूँ' ऐसा ध्यान आते रहना, वेष धारण के इस लोक में ये प्रयोजन हैं। वास्तव में दोनों तीर्थकरों का एक ही सिद्धान्त है कि मोक्ष के वास्तविक साधन ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य ही हैं।^१

इस संवाद का आशय यही है कि वस्त्र सम्बन्धी भेद भगवान् महावीर ने लोगों की बदलती हुई सामान्य प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए किया है। लोगों की बदलती हुई प्रवृत्ति को बतलाते हुए लिखा है कि प्रथम तीर्थकर भगवान् ऋषभनाथ के समय में मनुष्य सरल प्रकृति के साथ मूर्ख (ऋजु—जड़) थे। चौबीसवें तीर्थकर भगवान् महावीर के समय में मनुष्य कुटिल प्रकृति के साथ मूर्ख (वक्रजड़) थे तथा इन दोनों तीर्थकरों के मध्यकाल अर्थात् दूसरे से लेकर तेइसवें तीर्थकर के काल में मनुष्य सरल प्रकृति के साथ व्युत्पन्न (ऋजु—प्राज्ञ) थे।^२

इससे यही अभिप्राय है कि मध्यकाल के मनुष्य सरल व व्युत्पन्न होने के कारण धर्म को आसानी से ठीक—ठीक समझ लेते थे तथा उसमें कुतर्क आदि न करके यथावत् उसका पालन भी करते थे। इसी कारण मध्यकाल में वस्त्र आदि के नियमों में शिथिलता दी गई थी, परन्तु आदिनाथ तथा महावीर के काल में व्यक्तियों के अल्पज्ञ होने के कारण यह सोचकर कि कहीं वे वस्त्रादिक में रागबुद्धि न करने लगे, इसलिए वस्त्र आदि के विषय में प्रतिबन्ध लगा दिया गया किन्तु उनकी अचेल व्यवस्था एकान्तिक आग्रहपूर्ण नहीं थी। गौतम ने केशी से जो कहा, उससे यह स्वयं सिद्ध है।

जो निर्ग्रन्थ निर्वस्त्र रहने में समर्थ थे, उनके लिए पूर्णतः अचेल (निर्वस्त्र)

१. दे०—उ० २३.२६—३३

२. दे०—वही, २३.२६—२७

रहने की व्यवस्था थी और जो निर्ग्रन्थ वैसा करने में समर्थ नहीं थे, उनके लिए सीमित अर्थ में अचेल (अल्पमूल्य और श्वेतवस्त्रधारी) रहने की व्यवस्था थी। भगवान् पार्श्व के शिष्य भगवान् महावीर के तीर्थ में इसीलिए खप सके कि उनके तीर्थ में सचेल और अचेल, इन दोनों ही व्यवस्थाओं की मान्यता थी। इस सचेल और अचेल के प्रश्न पर ही निर्ग्रन्थ—संघ श्वेताम्बर और दिगम्बर—इन दो बृहत् शाखाओं में विभक्त हो गया। विष्णुपुराण में भी जैन—साधुओं के इन दोनों रूपों—निर्वस्त्र और सवस्त्र का उल्लेख मिलता है।^१

साधु के उपकरणों को मुख्यतः दो भागों में बांटा जा सकता है—सामान्य उपकरण और विशेष उपकरण।

(अ) सामान्य उपकरण :

जो वस्त्र तथा पात्र आदि सदैव साधु के उपयोग में आते रहते हैं वे सामान्य उपकरण कहलाते हैं। एक साधु के लिए इस प्रकार के चौदह उपकरण रखने का विधान है। वे चौदह उपकरण हैं^२—

1. रजोहण :

जीवों की रक्षा करने तथा धूलि आदि साफ करने के लिए एक प्रकार की मार्जनी होती है। इसे श्वेताम्बरी एवं दिगम्बरी दोनों ही प्रकार के साधु रखते हैं।

2. पात्र (प्रतिग्रह)

आहार तथा जल इत्यादि लाने एवं रखने के लिए पात्रों का उपयोग किया जाता है। आचारांगसूत्र में साधु के लिए एषणीय पात्रों की याचना करने के विधान का उल्लेख है।^३

3. वस्त्र :

साधु साधारण कोटि के वस्त्र पहनते हैं जिनके प्रति उनका ममत्व नहीं होता। आचारांगसूत्र में निर्वस्त्र^४, एक वस्त्रधारी^५, द्विवस्त्रधारी^६ एवं

१. दिग्वाससामयं धर्मो, धर्मोऽयं बहुवाससाम्। विष्णु पुराण ३.१८.१०
२. अत्र 'रथहरणं पडिग्गहं च' इत्युपलक्षणमन्येषामपि साधूपकरणानां तथा हि — ३ शटकत्रयम्, ४. चौलपटकः, ५. आसनं, ६. सदोरकमुखवस्त्रिका, ७. प्रमार्जिका, १०—पात्राणामञ्चलत्रयम्, ११. भिक्षाधानी, १२. मण्डलकवस्त्रम्, १३. दोरकसहितं रजोहरणदण्डावरकवस्त्रं 'निषद्या' इति प्रसिद्धं, १४. धावनजलादिगालनवस्त्रम् इत्यादि। ज्ञाता०गा०टी०, १.३२, पृ० ३८०—८१
३. दे०—आयारो, २. ५. ११२
४. दे० वही, ८.७. ११२
५. वही, ८.६. ८५
६. वही, ८.५. ६२

त्रिवस्त्रधारी^१ निर्ग्रन्थों का उल्लेख है। इस प्रकार का विधान ग्रीष्म इत्यादि ऋतुओं के अनुसार है। जो भिक्षु तीन वस्त्र रखने वाला है उसे चौथे वस्त्र की कामना नहीं करनी चाहिए। जो वस्त्र उसे कल्प्य हैं उन्हीं की कामना करनी चाहिए। कल्प्य वस्त्र जैसे भी मिलें, उन्हें बिना किसी प्रकार का संस्कार किए धारण कर लेना चाहिए।^२ इसी प्रकार का विधान द्विवस्त्रधारी^३ एवं एक वस्त्रधारी^४ के लिए भी है।

भिक्षुणी के लिए चार वस्त्र—संघाटियां रखने का विधान है जिनका नाम इस प्रकार है—एक दो हाथ की, दो तीन—तीन हाथ की और एक चार हाथ की। दो हाथ की संघाटी उपाश्रय में पहनने के लिए, तीन—तीन हाथ की दो संघाटियों में से एक भिक्षाचर्या के समय पहनने के लिए होती है तथा दूसरी शौच जाने के समय पहनने के लिए होती है। चार हाथ की संघाटी समवसरण (धर्मसभा) में सारा शरीर ढकने के लिए होती है।

यहां भिक्षुणियों के लिए जिन चार वस्त्रों के धारण करने का विधान बतलाया गया है उनका संघाटी (साड़ी अथवा चादर) शब्द से ही निर्देश किया गया है। टीकाकारों ने भी इनका उपयोग शरीर पर लपेटने अथवा ओढ़ने के रूप में ही बताया है। इससे प्रतीत होता है कि इन चारों वस्त्रों का उपयोग विभिन्न अवसरों पर ओढ़ने के रूप में करना अभीष्ट है, पहनने के रूप में नहीं। अतः उन्हें साधियों के उत्तरीय वस्त्र के रूप में ही समझना चाहिए, उनमें अन्तरीयवस्त्र (लहंगा या धोती) का समावेश नहीं होता।^५

4. चौलपटक :

क्षुल्ल होता है—छोटा। प्राकृत में क्षुल्ल को चुल्ल हो जाता है और उससे चौल बन गया है। पटक से अभिप्राय है—वस्त्र। अतः यह एक ऐसा छोटा वस्त्र होता है जो घुटनों तक पहना जाता है।

5. आसन :

बैठने के लिए कपड़े बने हुए आसन का प्रयोग किया जाता है।

6. सदोरकमुखवस्त्रिका :

यह एक श्वेत कपड़े की पट्टी होती है जिसे जैन श्वेताम्बर साधु हमेशा मुख पर बांधे रहते हैं। इससे सूक्ष्म जीवों की हिंसा टल जाती है।

१. वही, द.४.४३

२. वही, द.४.४३.४६

३. वही, द.५.६२—६५

४. वही, द.६.८५—८८

५. दे०—(मेहता), जैन-धर्म-दर्शन, पृ० ५२३—२४

7. प्रमार्जिका :

यह पांव साफ करने के लिए एक वस्त्र का टुकड़ा होता है ।

8-10. तीन पात्रों के तीन अंचल :

एक साधु अधिक से अधिक तीन ही पात्र रख सकता है । उन पात्रों के लिए तीन वस्त्रांचल रखे जाते हैं ।

11. भिक्षाधानी :

यह एक प्रकार का वस्त्र से बनाया हुआ थैला होता है जिसमें भिक्षा लेने के लिए पात्र रखे जाते हैं ।

12. माण्डलक वस्त्र :

जिस वस्त्र पर साधु-मण्डली भोजन करती है वह माण्डलक वस्त्र कहलाता है ।

13. रजोहरण दण्डावरक वस्त्र :

यह रजोहरण की डंडी के ऊपर लपेटा जाने वाला वस्त्र होता है जिसके ऊपर एक डोरी भी बंधी होती है । इसे 'निषद्या' भी कहा जाता है ।

14. ताण्डुलादिक जल को छानने का वस्त्र :

साधु के लिए साधारण एवं नीरस भोजन का विधान है जिसमें कांजीका पानी तथा जौ का पानी भी शामिल है ।^१ इस प्रकार के पानी को वस्त्र से छानकर पीते हैं ।

(अ) विशेष उपकरण :

साधुओं के पास कुछ ऐसे उपकरण भी होते हैं जो किसी विशेष अवसर पर ग्रहण किए जाते हैं तथा उपयोग किए जाने पर गृहस्थ को वापिस लौटा दिए जाते हैं, वे विशेष उपकरण कहलाते हैं । ये उपकरण हैं—

1. पीठ :

यह बैठने के लिए एक लकड़ी की बनी हुई चौकी होती है ।

2. फलक :

यह एक लकड़ी का पाटा होता है जो सोने के लिए प्रयोग किया जाता है ।

3. संस्तारक :

यह घास, तृण इत्यादि से बनाया गया आसन (बिस्तर) होता है ।

4. शय्या :

ठहरने के स्थान को शय्या अथवा उपाश्रय कहते हैं ।

(इ) दिगम्बर साधु के उपकरण :

उपकरणों के विषय में जहां तक दिगम्बर साधु का प्रश्न है, उसकी आवश्यकताएं अत्यन्त सीमित हो जाती हैं । नग्नता के कारण उसे किसी भी प्रकार के वस्त्र की आवश्यकता नहीं रहती है । पाणिपात्रभोजी^१ होने से उसे किसी पात्र की भी आवश्यकता नहीं रहती है । वह शौच के लिए एक कमण्डलु और जीव रक्षा के लिए एक मयूरपिच्छिका रखता है । शयन करने के लिए प्रायः भूमि, शिला, लकड़ी का तख्ता या घास का ही प्रयोग किया जाता है । इसके अतिरिक्त साधु की और कोई उपधि नहीं होती ।

इस तरह दिगम्बर साधु की केवल तीन ही उपधियां बतलायी गई हैं^२। ज्ञानोपधि पुस्तकआदि, 2. संयमोपधि—पिच्छिका आदि, तथा 3. शौचोपधि—कमण्डलु आदि ।^३

(उ) विस्मृत या पतित उपकरण का विधान :

साधु आहार के लिए गृहस्थों के घरों में जाते हैं, उच्चार—प्रश्रवण के लिए बाहर जाते हैं तथा विहार करते हुए एक गांव से दूसरे गांव विचरण करते हैं । उस समय कोई उपकरण गिर सकता है या भूला जा सकता है । इस प्रकार के उपकरण को यदि कोई साधर्मिक देखे तो—जिसका यह उपकरण है, उसे दे दूंगा' इस भावना से उस उपकरण को लेकर आए और जहां किसी साधु को देखे वहां इस प्रकार कहे कि हे आर्य ! क्या तुम इस उपकरण को पहचानते हो ? यदि वह उसे पहचान लेता है तो उस उपकरण को उसे दे देवे और यदि वह नहीं पहचानता है तो उसे न स्वयं रखे और न किसी अन्य को देवे बल्कि एकान्त प्रासुक भूमि पर उपकरण को छोड़ दे ।^४

(घ) वसति या उपाश्रय :

साधु के ठहरने के स्थान को वसति या उपाश्रय कहते हैं । इस स्थान के लिए 'शय्या' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है । शय्या से अभिप्राय है—जहां पर लेटने के लिए बिस्तर बिछाया जा सके ।^५

उपाश्रय कैसा हो ?

साधु के ठहरने के स्थान के विषय में उत्तराध्ययन सूत्र में निम्नलिखित संकेत मिलते हैं —

१. णिच्चेलपाणिपत्तं उवइट्ठं परम जिणवरिंदेहि । सुत्तपाहुड गा० १०

२. दे०—मूला० वृ० १. १४

३. दे०—व्यवहार सूत्र, ८. १३—१५

४. बाणारसीए बहिया उज्जाणमि मणोरमे ।

फासुए सेज्जसंधारे तथ्थ वासमुवागए ।। उ० २५.३

१. अरमणीय उपाश्रय :

अरमणीय अर्थात् जो रमणीय एवं सुसज्जित न हो । जो स्थान मन को लुभाने वाला है, चित्रों से सुशोभित है, पुष्पमाला एवं, सुगन्धित द्रव्यों से सुवासित है, सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित है, सुन्दर दरवाजे एवं किवाड़ों से युक्त है, वह साधु के निवास योग्य नहीं है क्योंकि ऐसे स्थान में रहने से कामराग बढ़ता है जिससे इन्द्रियनिरोध दुष्कर हो जाता है ।^१

2. असंकीर्ण उपाश्रय :

असंकीर्ण अर्थात् जो स्त्री, पशु आदि से संकीर्ण न हो । स्त्री, पशु—पक्षी आदि से संकीर्ण स्थान में रहने पर उनकी कामचेष्टाएं देखने व सुनने से मानसिक विकार उत्पन्न होते हैं जिससे ब्रह्मचर्यव्रत के पालन में कठिनाई होती है । अतः साधु को ऐसे स्थान पर ठहरना चाहिए जो स्त्री, पशु आदि के आवागमन से रहित हो ।^२

3. जीवोत्पत्तिसम्भावना रहित :

साधु के ठहरने का स्थान व वसति जीवादि से उत्पन्न होने की संभावना से रहित होना चाहिए । यदि साधु ऐसे स्थान पर रहता है जहां क्षुद्र जीवों के उत्पन्न होने की संभावना है तो वहां अहिंसा महाव्रत के पालन में बाधा आ सकती है । अतः जीवादि के उत्पन्न होने की संभावना से रहित प्रासुक स्थान ही साधु के ठहरने के योग्य होता है ।^३

4. अलिप्त उपाश्रय :

अलिप्त से तात्पर्य है कि जो उपाश्रय गोबरादि से उपलिप्त न हो तथा बीजादि रहित हो । जो स्थान साधु के लिए लीप—पोत कर तैयार किया गया है तथा जो अंकुरोत्पादक बीजों से युक्त है, ऐसे स्थान पर ठहरने से साधु को हिंसा का दोष लगता है । अतः जो साधु के निमित्त से लीप—पोतकर साफ न किया गया हो ऐसे ही स्थान पर साधु को ठहरना चाहिए ।^४

5. एकान्तस्थल :

साधु ऐसे स्थान पर ठहरे जो नगर से बाहर लोगों के घनिष्ठ सम्पर्क से

१. मणोहरं चित्तहरं मल्लघुवेण वासियं ।

सकवाडं पण्डुकल्लोयं मणसा वि न पत्थए ॥

इन्दियाणि उ भिक्खुस्स तारिसम्मि उवस्सए ।

दुक्कराइं निवारेलं कामरागविवड्डणे ॥ वही, ३५.४-५

२. फासुयम्मि अणाबाहे इत्थीति अणमिददुए ।

तत्थ संकप्पए वासं भिक्खू परमसंजए ॥ उ० ३५.७, तथा दे० वही, ३०.२८

३. फासूए सिज्जसंथारे ।

वही, २३.४ तथा दे०—आयारो, ८.६.१०६

४. विविक्तलयणाइ भएज्जताइ निरोवलेवाइअसंथडाइ । उ० २१. २२

रहित श्मशान, शून्यगृह, उद्यान, लतामण्डप, वृक्ष का तलभाग अथवा गिरिगुफा इत्यादि एकान्त स्थल हो^१ परन्तु साध्वियों को धर्मशाला, टूटा-फूटा मकान, वृक्षमूल और खुले आकाश में नहीं रहना चाहिए क्योंकि ऐसे स्थान पर बलात्कार की सम्भावना रहती है।^२

6. परकृत स्थल :

उपाश्रय ऐसा हो जो गृहस्थ के द्वारा अपने उपयोग के लिए बनाया गया हो^३, साधु के निमित्त से न बनाया हो। यदि साधु के उपयोग के लिए ही बनाया हुआ हो तो गृह-निर्माण के समय होने वाली प्राणी-हिंसा का दोष साधु पर भी लगेगा।

इस प्रकार उपाश्रय में ठहरते समय साधु को उपर्युक्त सभी बातों का ध्यान रखना चाहिए। ऐसा न करने पर उसके संयम-पालन में बाधा आ सकती है और वह कई प्रकार के पापों का हिस्सेदार भी बन सकता है।

(ड) साधु का आहार :

मानव शरीर के लिए भोजन एक अनिवार्य तत्त्व है। भोजन से ही इन्द्रियां शक्ति ग्रहण करके अपने-अपने कार्य करने के सामर्थ्य को ग्रहण करती है। इसीलिए साधु की दिन-चर्या में तृतीय प्रहर भोजन-पान के लिए नियत किया गया है। भोजन के विषय में निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं—

(अ) साधु को आहार ग्रहण करने के छह कारण :

साधु बल, आयु, स्वाद, शरीर की पुष्टि और तेज की प्राप्ति के लिए आहार ग्रहण न करे।^४ मोक्षार्थी साधु निम्नोक्त छह कारणों से ही आहार ग्रहण करे^५

(1) क्षुधा-वेदना की शान्ति के लिए :

यद्यपि साधु के लिए क्षुधापरीषहजय का विधान है, परन्तु इस प्रकार का विधान तप करते समय अथवा निर्दोष आहार न मिलने की अवस्था में ही है। अन्यथा क्षुधा की वेदना होने पर न तो मन शान्त हो सकता है और न ही किसी भी प्रकार की क्रिया के सम्पादन के लिए सामर्थ्य प्राप्त हो सकता है। अतः क्षुधा-वेदना की शान्ति के लिए साधु को आहार ग्रहण करना चाहिए।

१. सुसाणे सुन्नगारे वा रुक्खमूले व एगओ।

पइरिक्के परकडे वा वासं तत्थभिरोयए।।

उ० ३५.६ तथा दे०-२.२०; १८.४; २०.४; २५.३

२. दे०-बृहत्कल्प, २७११-१२

३. पइरिक्के परकडे वा। उ० ३५.६

४. मूला० ६.४८१

५. वेयग-वेयावच्चे इरियट्ठाए य संजमट्ठाए।

तह पाणवत्तियाए छट्ठ पुण धम्मचिन्ताए।। उ० २६.३३

(2) गुरु सेवार्थ :

गुरु आदि की सेवा करना (वैयावृत्त्य) एक प्रकार का तप है। यदि भोजन किया जाए तो शरीर में सामर्थ्य न होने से गुरु-सेवा भी नहीं हो सकेगी। अतः गुरुजनों की सेवा करने के लिए भोजन ग्रहण करना आवश्यक है।

(3) ईर्यासमिति के पालनार्थ :

आहार ग्रहण न करने पर आंखों की ज्योति क्षीण हो जाती है। ऐसी स्थिति में गमनागमन करते समय ईर्यासमिति का पालन नहीं हो सकेगा। अतः ईर्यासमिति के सम्यक् परिपालन के लिए साधु को भोजन ग्रहण करना चाहिए।

(4) संयम पालनार्थ :

वस्तुतः संयम के होने पर ही सब प्रकार के व्रतों को धारण किया जा सकता है। संयम की रक्षा भोजन-ग्रहण के बिना नहीं हो सकती है। अतः साधु संयम की रक्षा के लिए आहार ग्रहण करे।

(5) जीवन रक्षार्थ :

जीवन के रहने पर ही संयम पालन हो सकता है और भोजन के बिना जीवन भी नहीं चल सकता। अतः साधु जीवन-यापन के लिए भिक्षा लेते हैं।^१

(6) धर्म चिन्तनार्थ :

धर्मशास्त्रों का अध्ययन, मनन, चिन्तन आदि धार्मिक क्रियाओं को करने के लिए शरीर का सुस्थिर होना आवश्यक है। ऐसा तभी हो सकता है जब भूख प्यास आदि की वेदना न हो। अतः धार्मिक क्रियाओं के संपादन के लिए भी आहार ग्रहण करना आवश्यक है।

इस प्रकार साधु उक्त छह कारणों से ही भोजन ग्रहण करे। इन सबके मूल में संयम का पालन करना ही मुख्य कारण है।

(आ) साधु को आहार ग्रहण न करने के छह कारण :

उपर्युक्त भोजन ग्रहण करने के छह कारणों के रहते हुए भी यदि निम्नलिखित छह कारणों में से कोई एक भी कारण उपस्थित हो जाए तो साधु को भोजन का त्याग कर देना चाहिए। उसे पुनः तब तक भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिए जब तक वह आहार ग्रहण न करने का कारण दूर न हो जाए। आहार ग्रहण न करने के कारण हैं^२—

१. दे०-दश० ६.३.४

२. आयके उवसग्गे तित्तिक्खया बम्भेदगुत्तीसु।

पाणिदया तवहेत्तं सरीर-वोच्छेयणट्ठाए।। उ० २६.३५

1. भयंकर रोग हो जाने पर :

किसी असाध्य रोग के हो जाने पर आहार त्याग देना चाहिए। साधु को तो रोग आदि की शान्ति के लिए औषधि-सेवन का भी निषेध है^१ तब भला फिर ऐसी अवस्था में आहार ग्रहण करने की अनुमति कैसे दी जा सकती है।

2. आकस्मिक संकट (उपसर्ग) के आ जाने पर :

आकस्मिक किसी देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और अचेतनकृत उपसर्ग के उपस्थित होने पर साधु को सब प्रकार के आहार का त्याग कर देना चाहिए।

3. ब्रह्मचर्यव्रत रक्षार्थ :

यदि इन्द्रियां भोजन से प्रदीप्त होकर काम-भाव की ओर उन्मुख होती हैं तो तब तक के लिए भोजन का त्याग कर देना चाहिए जब तक कि इन्द्रियां संयमित न हो जाएं। आत्मसंयम के बिना ब्रह्मचर्य की रक्षा नहीं हो सकती।

4. जीव रक्षार्थ :

यदि भोजन ग्रहण करने से अहिंसा व्रत में बाधा आती है तो भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिए। वर्षाकाल में कई बार इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, उस समय भोजन नहीं लेना चाहिए।

5. तप करने के लिए :

बारह तपों में अनशन एक तप है। उस तप के लिए भोजन का त्याग आवश्यक है। तप से कर्मों की निर्जरा होती है। अतः तप करना भी अनिवार्य है।

6. समतापूर्वक जीवन त्यागार्थ:

वृद्धावस्था में इन्द्रियों के विफल होने पर अथवा मृत्यु के सन्निकट आने पर निर्ममत्व अवस्था की प्राप्ति के लिए सब प्रकार के आहार को त्याग देना चाहिए।

(इ) साधु का एषणीय आहार :

भोजन ग्रहण करने के अनुकूल कारणों के रहते हुए भी साधु के लिए सभी प्रकार के भोजन लेने का विधान नहीं है। साधु के द्वारा लेने योग्य भोजन के विषय में निम्न संकेत उपलब्ध होते हैं—

1. बहुगृहग्रहीत भोजन :

साधु को भिक्षा के द्वारा प्राप्त अन्न को ही सेवन करने का विधान है। वह भिक्षान्न भी किसी एक घर से अथवा अपने सम्बन्धीजनों के घर से ही लाया

हुआ न होना चाहिए ।^१ साधु सदैव सामुदायिक भिक्षा करे अर्थात् निम्न परिवारों के घरों को छोड़कर उच्च घरानों में न जाए ।^२

2. परकृत भोजन :

जिस भोजन को गृहस्थ ने स्वयं के लिए तैयार किया हो, साधु उसी में से भोजन ग्रहण करे ।^३ जो भोजन साधु के निमित्त से बनाया गया हो, उसे वह न ले । इस प्रकार के भोजन को ग्रहण करने से भोजन बनाते समय होने वाली जीव-हिंसा इत्यादि का दोष साधु पर भी लगता है ।

3. अवशिष्ट भोजन :

गृहस्थ के भोजन कर चुकने के बाद जो शेष बचा हुआ आहार है उसी में से साधु को ग्रहण करना चाहिए ।^४ ऐसा करने से गृहस्थ भूखा भी नहीं रहता और उसे पुनः भोजन भी नहीं पकाना पड़ता ।

4. अक्रीत भोजन (अनैमित्तिक)

साधु वही भोजन ले जो गृहस्थ ने स्वयं के लिए तैयार किया है । साधु के निमित्त से खरीद कर लाया गया भोजन न ले ।^५ कारण कि साधु के लिए अतिरिक्त व्यय करने से गृहस्थ का मन दुःखी हो सकता है ।

5. अनिमन्त्रित भोजन :

साधु गृहस्थ के द्वारा आमन्त्रित किए जाने पर भिक्षा न लेवे^६ क्योंकि इस प्रकार आहार लेने पर पाचन क्रिया के समय होने वाली हिंसा का दोष साधु को भी लगेगा । साधु को सहज भाव से बिना निमन्त्रण के किसी भी घर से भिक्षा लेनी चाहिए ।

6. नीरस तथा परिमित भोजन :

साधु को मात्र संयम पालन के लिए ही भोजन ग्रहण करने का विधान है, रसनेन्द्रिय की सन्तुष्टि के लिए नहीं । अतः साधु को सरस आहार की प्राप्ति के लिए अधिक नहीं धूमना चाहिए । उसे जो नीरस आहार मिले उसका तिरस्कार

१. समुयाणं उच्छमेसिज्जाजहासुत्तमणिन्दियं ।
लाभालाभम्मि संतुदढे पिण्डवायं चरे मुणी ।। उ० ३५७१६
२. समुयाणं चरे भिक्खू कुलं उच्चावयं सया ।
नीयं कुलमइक्कम्म ऊसढं नाभिधारए ।। दश० ५२.२५
३. फासुयं परकडं पिण्डं पडिगाहेज्ज संजए ।। उ० १७३४
४. सेसावसेसं लभऊ तवस्सी । वही, १२.१०
५. उद्वेसियं कीयकडं नियागं न मुंचई किंचिअणेसणिज्जं ।
अग्गी विवा सव्वभक्खी भविता इओ चुओ गच्छइ कट्टु पाबं ।।
उ० २०.४७
६. वही, तथा दे०-दश० ३.२

न करते हुए शरीर की स्थिति के लिए परिमित भोजन ग्रहण करना चाहिए ।^१

सरस आहार ग्रहण करने से इन्द्रियां कामादि भोगों के सेवन के लिए उदीप्त हो जाती हैं जिससे साधु पक्षियों से पीड़ित सुस्वादु फल वाले वृक्ष की तरह पीड़ित हुआ संयम का पालन नहीं कर पाता ।^२ प्रमाण से अधिक भोजन करने से प्रचुर इन्धन वाले वन में उत्पन्न हुई दावानल की तरह इन्द्रियाग्नि (=कामवासना) शान्त नहीं होती ।^३

साधु के जीवन—निर्वाह के लिए नीरस आहार के विषय में आगम में कुछ संकेत मिलते हैं जैसे—स्वादहीन तथा ठण्डा भोजन, पुराने उड़द, मूंग, मूंग का छिलका, शुष्क चना, बेर का चूर्ण, चावल आदि का उबला हुआ पानी, जौ का भात एवं शीतल कांजी इत्यादि ।^४

साधु को इस प्रकार नीरस आहार ग्रहण करना चाहिए, परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वह घी, दूध आदि सरस आहार बिल्कुल ही न लें । इसका मात्र अभिप्राय यही है कि साधु सरस भोजन में आसक्ति न रखे, उसे गृहस्थ के पास जैसा भी सामान्य आहार मिले, वह उसे ही ले लेवे । नीरस भोजन को देखकर उसकी उपेक्षा न करे । इसीलिए साधु को लाभालाभ में हमेशा सन्तुष्ट रहने को कहा गया है ।^५

इस प्रकार हम देखते हैं कि साधु के लिए सब प्रकार का आहार एषणीय नहीं है । साधु स्वाद अथवा शरीर—पुष्टि के लिए आहार ग्रहण नहीं करते बल्कि मृत्र जीवन—यापन एवं संयम—पालन के लिए ही आहार ग्रहण करते हैं । वे सरस आहार में रुचि न रखते हुए जैसा भी एषणीय आहार मिले उसे ग्रहण कर लेते हैं और अनेषणीय आहार का सर्वथा त्याग करते हैं ।

(उ) भिक्षाचर्या :

साधु जब आहार आदि ग्रहण करने के लिए विचरण करता है, उसे

१. दे०—उ० २.३६, ८७११

२. रसा पगामं न निसेवियव्वा पायं रसा दित्तिकरा नराणं ।
दित्तं च कामा समभिद्वन्ति दुमं जहा साउफलं व पक्खी ।।
वही, ३२.१०

३. जहा दवग्गी पउरिन्धणे वणे समारुओ नोवसमं उवेइ ।
एविन्दियग्गी वि पगामभोइणो न बम्भयारिस्स हियाय कस्सई ।।
उ० ३२७११

४. पन्ताणि चेव सेवेज्जा सीयपिण्डं पुराणकुम्मासं ।
अदु बुक्कसं पुलागं वा जवणट्ठाए निसेवए मंथुं ।। वही, ८.१२
आयानयं चेव जवो दणं च सीयं च सोवीर—जवोदगं च ।
नो हिलए पिण्डं नीरसं तु पन्तकुलाइं परिव्वए सा भिक्खू ।। वही, १५.१३

५. लाभालाभम्मि संतुदठे पिण्डवायं चरे मुणी । वही, ३५.१६

भिक्षाचर्या कहा जाता है। भिक्षाचर्या साधु की दिनचर्या का एक महत्त्वपूर्ण अंग है क्योंकि बिना भिक्षा के उसे कोई भी वस्तु प्राप्त नहीं हो पाती। इसीलिए तीर्थंकर भगवान् ने कहा है कि साधु की सभी वस्तुएं याचित होती हैं, अयाचित कुछ भी नहीं होता।^१ अतः जैनदर्शन में साधु की भिक्षाचर्या की भी एक सुन्दर विधि उपलब्ध होती है।

भिक्षा के लिए कब जाए ?

सबसे पहले विचारणीय विषय है कि साधु भिक्षा के लिए कब जाए ? इसका स्पष्ट समाधान करते हुए कहा गया है कि जब भिक्षा का समय हो^२ क्योंकि समय का अतिक्रमण करके भिक्षा के लिए जाने वाला भिक्षु निन्दा, तिरस्कार तथा अविश्वास का पात्र बन सकता है।

कैसे चले ?

भिक्षार्थ जाता हुआ मुनि असम्भ्रान्त रहे।^३ भिक्षाकाल में बहुत से भिक्षाचर भिक्षार्थ जाते हैं। मन में ऐसा भाव हो सकता है कि उनके भिक्षा लेने के पश्चात् मुझे क्या मिलेगा ? मन की ऐसी दशा से भिक्षा के लिए जाते हुए शीघ्रता करना सम्भ्रान्तवृत्ति है। ऐसी दशा में भिक्षु शीघ्रता करता हुआ ईर्यासमिति का पालन नहीं कर पाता।

१. गोचराग्र के लिए निकला हुआ व्यक्ति धीमें-धीमें चले, उद्वेगरहित होकर अर्थात् भिक्षा न मिलने अथवा मनोनुकूल भिक्षा न मिलने की आशंका से व्याकुल होता हुआ तथा तिरस्कार आदि से क्षुब्ध न होता हुआ गमन करे। इसके साथ-साथ अव्याक्षिप्त चित्त से चले, उसकी चित्तवृत्ति शब्द आदि विषयों में आसक्त न हो तथा पैर आदि उठाते समय वह पूरा उपयोग रखता हुआ चले।^४

२. साधु आगे युग-प्रमाण (चार हाथ) भूमि को देखता हुआ और बीज, हरियाली, प्राणी, जल तथा सजीव मिट्टी को टालता हुआ चले।^५

इससे सचित्त वस्तु के स्पर्श का दोष टल जाता है।

३. दूसरे मार्ग के होते हुए गड़ढे, ऊबड़-खाबड़ भूभाग, कटे हुए सूखे पेड़ या अनाज के डंठल और पंकिल मार्ग को टाले। संक्रम अर्थात् जल या गड़ढे को पार करने के लिए काष्ठ या पाषाण रचित पुल के ऊपर से न जाए। वहां गिरने या लड़खड़ाने से जीव हिंसा हो सकती है। यदि उसके अतिरिक्त

१. सर्व्वं से जाइयं होई नत्थि किंचि अजाइयं। उ० २.२८

२. संपत्त भिक्खकालमि। दश० ५१११

३. असंभंतो अमुच्छिओ। वही

४. वही, ५.११२

५. दश० ५.११३

और मार्ग न हो तो साधु पूर्ण सावधानी पूर्वक जाए^१ अर्थात् इस प्रकार जाए जिससे कि संयम की विराधना न हो ।

4. संयमी मुनि सचित रज से भरे हुए पैरों से कोयले, राख, भूसै और गोबर के ऊपर से होकर न जाए ।^२ इससे अन्दर छिपे हुए छोटे जीवों की हिंसा होने का भय बना रहता है ।

5. साधु के लिए यह भी बतलाया गया है कि वह पैरों को उठाकर गिराता हुआ अर्थात् दौड़ता हुआ, तथा बौलता और हंसता हुआ भी न चले ।^३ अतिशीघ्र चलने से ईर्या समिति का पालन नहीं हो पाता तथा बोलते और हंसते हुए चलने से इसके अतिरिक्त प्रवचन लाघव भी होता है ।

6. मुनि चलते समय गवाक्ष (आलोक), घर का वह भाग जिसका निर्माण किसी कारणवश पुनः किया गया हो (थिग्गल), दो घरों के बीच की गली अथवा सेन्ध (सन्धि) तथा जलघर को ध्यानपूर्वक न देखे—ये सब शंका उत्पन्न करने वाले स्थान हैं ।^४ इन स्थानों को ध्यानपूर्वक देखने से लोगों को मुनि पर चोर तथा पारदारिक होने का सन्देह हो सकता है ।

7. मुनि संसक्त दृष्टि से न देखे^५ । यह सामान्य कथन है । इसका वाच्यार्थ यह है कि मार्ग में चलते समय साधु व साध्वी क्रमशः स्त्री तथा पुरुष की आंखों में आंखें गड़ाकर न देखें । इस प्रकार देखने से पहली बात तो यह है कि ब्रह्मचर्य व्रत खण्डित होता है तथा दूसरे लोग यह आक्षेप कर सकते हैं कि यह साधु विकारग्रस्त है, असाधु है ।

8. आहार आदि के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करने के बाद मुनि अन्दर कहां तक जाए ? इस विषय में कहा गया है कि मुनि अतिभूमि^६ (गृहस्थ द्वारा अननुज्ञातभूमि) में न जाए ।^७ कुलभूमि^८ (कुल—मर्यादा) को जानकर, मितभूमि^९ (अनुज्ञात) में प्रवेश करे ।^{१०} इस प्रकार का विधान इसलिए है ताकि

१. वही, ५. १७४-६

२. वही, ५. १७७

३. वही, ५. १७१४

४. वही, ५. १७१५

५. असंसक्तं पलोएज्जा । दश० ५. १. २३

६. अतिभूमिं न गच्छेद्—अनुज्ञातां गृहस्थैः, यत्रान्ये भिक्षाचरा न यान्तीत्यर्थः ।

वही, हारिमदीयवृत्ति, प० १६८

७. अइभूमिं न गच्छेज्जा । दश० ५. १. २४

८. केवइयाएपुण पविसियव्वं? — जत्थ तेसिं गिहत्थाणं अण्णत्थियं न भवइ, जत्थ अण्णेविभिक्षायरा ठायंति । वही, जिनदासचूर्णि, पृ० १७६

९. मितं भूमिं तैरनुज्ञातां पराक्रमेत् । वही, हारिमदीय वृत्ति, प० १६८

१०. कुलस्स भूमिंजाणित्ता मियं भूमिं परक्कमे । वही, ५. १. २४

मुनि के प्रति अप्रीति और अविश्वास उत्पन्न न हो ।

9. भिक्षा ग्रहण करते समय मुनि भैक्ष्य-पदार्थ तक ही दृष्टिप्रसार कर-अतिदूर न देखे ।^१ दूर के कोनों इत्यादि को देखने से उसके चोरं या पारदारिक होने की आशंका हो सकती है ।

10. उत्फुल्ल अर्थात् औत्सुक्यपूर्ण दृष्टि से न देखें 'क्योंकि स्त्री अथवा घर के सामान को इस प्रकार देखने से मुनि के प्रति लघुता का भाव उत्पन्न हो सकता है । लोग यह सोच सकते हैं कि मुनि वासनाग्रस्त है ।

11. भिक्षा के लिए गया हुआ मुनि कहीं न बैठे, खड़ा रहकर भी कथा का प्रबन्ध न करे ।^२ गृहस्थों के पास बैठने या खड़े-खड़े बात करने पर भी मुनि गृहस्थ-सम्बन्धी व्यर्थ की जानकारी में पड़ जाता है, इससे उस प्रकार के कार्यों में आसक्ति बढ़ती है और भिक्षाचर्या के समय का भी अतिक्रमण हो सकता है ।

12. भक्त-पान के लिए घरों में जाते हुए मुनि किसी अन्य श्रमण, ब्राह्मण या वनीपक इत्यादि को लांघकर घर में प्रवेश न करे । ऐसा करने पर उस श्रमण आदि को या गृहस्थ को अथवा दोनों को नाराजगी हो सकती है तथा इससे जैन शासन की लघुता भी प्रकट होती है ।^३

13. गृहपति की आज्ञा लिए बिना प्रावार से आच्छादित द्वार को खोलकर भी उसे भोजन लेने के लिए अन्दर नहीं जाना चाहिए ।^४ ऐसा करने पर वह अप्रिय लगता है तथा अविश्वास का पात्र भी बन सकता है ।

14. मुनि इस बात का भी ध्यान रखे कि यदि वर्षा हो रही हो, कुहरा गिर रहा हो, जोरदार हवा चल रही हो या मार्ग में तिर्यक् सम्पातिम जीव^५ छा रहे हों तो भिक्षा लेने न जाए ।^६ इस प्रकार के मौसम में बाहर जाने से धूल आदि आंखों में गिर सकती है तथा प्राणि-हिंसा का दोष भी हो सकता है ।

उत्तराध्ययनसूत्र में भिक्षार्थ जाने के लिए दूरी का भी संकेत मिलता है । सामान्यतः उसी गांव में भिक्षार्थ जाया जाता है परन्तु आवश्यकता पड़ने

१. नाइदूरात्रलोयए । वही, ५. १. २३

२. उत्फुल्लं न विणिज्झाए । वही

३. दश० ५.२.८

४. वही, ५.२.१०-१२

५. वही, ५. १०१८

६. जो जीव तिरछे उड़ते हैं वे तिर्यक् सम्पातिम जीव कहलाते हैं, जैसे भ्रमर, कीट, पतंग आदि ।
दे०-वही, टिप्पण, ५. १०३८

७. वही, ५. १. ८

पर दूसरे गांव में भी आधा योजन की दूरी तक जाया जा सकता है ।^१

इस प्रकार भिक्षार्थ जाते समय मुनि को कई प्रकार की सावधानियां रखनी पड़ती हैं जिनके अभाव में संयम की विराधना तो होती ही है साथ ही वह समाज की दृष्टि से गिर जाता है, अपमानित होता है ।

कैसी भिक्षा ग्राह्य है ?

साधु दूर से उसके सम्मुख लाया हुआ भोजन न लेवे ।^२ यदि कोई भोजन आदि को गिराते हुए भिक्षा दे तो उसे भी ग्रहण न करे ।^३ प्राणि, बीज और हरियाली को कुचलते हुए यदि भोजन दिया जाए अथवा सचित का संघट्टन कर दिया जाए तब भी आहार ग्रहण वर्जित है ।^४

गर्भवती स्त्री के लिए विशेष रूप से बनाया हुआ भोजन भी उसे नहीं लेना चाहिए, यदि ऐसी स्त्री के खाने से बचा हुआ भोजन है तो वह आहार लिया जा सकता है ।^५ बालक या बालिका को स्तनपान कराती हुई स्त्री यदि उसे रोते हुए छोड़कर भिक्षा देवे तब वह भी ग्राह्य नहीं है^६ कारण कि इससे बालक को कष्ट होता है जिससे मुनि को हिंसा का दोष लगता है ।

साधु को दान, पुण्य अथवा भिखारियों के निमित्त बनाया हुआ भोजन नहीं लेना चाहिए ।^७ उसे मालापहत भोजन भी नहीं लेना चाहिए ।^८ मालापहत भोजन तीन प्रकार का होता है— 1. ऊपर से उतारा हुआ, 2. भूमिगृह (तहखाना) से लाया हुआ, 3. तिरछे बर्तन या कोठे आदि से झुककर निकाला हुआ ।^९ ऐसा भोजन लेते हुए जीव हिंसा हो सकती है तथा दाता को चोट भी लग सकती है ।

पुष्प, बीज और हरियाली से उन्मिश्र तथा पानी या अग्नि पर रखा हुआ भोजन भी नहीं लेना चाहिए । चूल्हे में ईन्धन डालकर, निकाल कर, चूल्हे को सुलगा कर या बुझा कर भिक्षा दी जाए तब भी नहीं लेनी चाहिए । अग्नि पर रखे हुए पात्र से निकाल कर, छीटा देकर, चूल्हे पर रखे पात्र को टेढ़ा कर अथवा नीचे उतार कर दिया जानें वाला आहार भी साधु को नहीं लेना चाहिए ।^{१०} इन सभी में सचित के सेवन का दोष लगता है ।

१. परमद्वजोयणाओ विहारं विहरए मुणी । उ० २६.३६

२. दश० ३.२

३. वही, ५.१.२८

४. वही, ५.१.२६-३१

५. वही, ५.१.३६

६. वही, ५.१.४२

७. वही, ५.१.४७-५२

८. वही, ५.१.६७-६६

९. दे०-दश०, टिप्पणं, ५.१.१७७

१०. वही, ५.१.५७-६४

जिसमें खाने का भाग थोड़ा हो और फैंकना अधिक पड़े ऐसा पदार्थ भी न लेवे ।^१ पानी को चख कर ही ले, अधिक खट्टा पानी नहीं लेना चाहिए ।^२ आगम—रचना काल में साधुओं को यवोदक, तुषोदक, सौवीर एवं आरनाल आदि अम्ल जल ही अधिक मात्रा में प्राप्त होते थे । अधिक देर तक रखने पर वे जल और अधिक अम्ल (खट्टा) हो जाते थे । दुर्गन्ध भी पैदा हो जाती थी और वैसे जलों से प्यास भी नहीं बुझती थी । इसलिए उन्हें चख कर लेने का विधान है ।^३

आहार कैसे करना चाहिए ?

सामान्य विधि के अनुसार मुनि गोचरी से वापिस आकर उपाश्रय में ही भोजन करे किन्तु जो मुनि भिक्षार्थ दूसरे गांव में गया हो और यदि वह बालक, बूढ़ा, बुभुक्षित, तपस्वी या प्यास से पीड़ित हो तब उपाश्रय में आने से पहले ही किसी पगासुक कोष्ठक या भित्तिमूल को देखकर जोकि ऊपर से छाया हुआ एवं संवृत हो, उसके स्वामी की आज्ञा लेकर, प्रमार्जनी से शरीर का प्रमार्जन कर, वही भोजन कर सकता है ।^४

वहां भोजन करते हुए मुनि के आहार में गुठली, कांटा, तिनका या कंकड़ इत्यादि कोई दूसरी वस्तु निकले तो उसे उठाकर न फैंके, मुंह से न थूके, बल्कि हाथ में लेकर एकान्त में चला जाए । वहां उचित भूमि देखकर, यतनापूर्वक उसे परिस्थापित करे और तत्पश्चात् स्थान में आकर उसे प्रतिक्रमण करना विहित है ।^५

उपाश्रय में भोजन करने की विधि में जब मुनि भिक्षा लेकर उपाश्रय में आता है तो आकर वह सर्वप्रथम स्थान का प्रतिलेखन करे तदनन्तर 'निसीहि' का उच्चारण करते हुए एवं अज्जलिपूर्वक नमस्कार करते हुए उपाश्रय में प्रवेश करके गुरु के समीप आकर 'ईर्यापथिकी' सूत्र पढ़े और फिर प्रतिक्रमण करे ।

आलोचना करने से पूर्व आचार्य की आज्ञा लें । आज्ञा प्राप्त कर आने—जाने में, भक्त—पान लेने में लगे सभी अतिचारों को याद करके, जो कुछ जैसे बीता हो, वह सब आचार्य को बतलावे और अनन्तर सरल भाव से उसकी आलोचना करे ।

१. वही, ५.१.७३-७४

२. वही, ५.१.७८

३. दे०—वही, टिप्पण, ५.१.१६५

४. दश० ५.१.८२-८३

५. वही, ५.१.८४-८६

यदि आलोचना करने में क्रम भंग हो तो उसका फिर प्रतिक्रमण करना चाहिए। पुनः शरीर को स्थिर बनाकर, निरवद्यवृत्ति और शरीर-धारण के प्रयोजन का चिन्तन करना चाहिए। इस चिन्तनमय कायोत्सर्ग को नमस्कार-मन्त्र के द्वारा परिपूर्ण कर जिन की संस्तुति करे-गुणकीर्तन करना चाहिए। उसके बाद स्वाध्याय कर क्षणभर के लिए विश्राम करे। यदि वह मंडली-भोजी साधु है तो वह तब तक विश्राम करे जब तक मंडली के दूसरे साधुगण न आ जाएं।

विश्राम करते हुए साधु को ऐसा चिन्तन करना चाहिए कि यदि आचार्य और अन्य साधुगण मुझ पर अनुग्रह करें, मेरा भोजन ग्रहण करें तो मैं धन्य हो जाऊँ। फिर प्रेमपूर्वक साधर्मिक मुनियों को भोजन के लिए निमन्त्रित करना चाहिए। उसके निमन्त्रण को स्वीकार करके यदि कोई साधु भोजन करना चाहे तो उसके साथ भोजन करे। यदि नहीं तब स्वयं अकेला ही भोजन करे।^१

साधु खुले पात्र में भोजन करे। इससे भोजन में कोई जीव-जन्तु पड़ा हुआ हो तो भली-भांति देखा जा सकता है। भोजन यतनापूर्वक करना चाहिए अर्थात् भोजन करते समय नीचे नहीं डालना चाहिए।^२

साधु को अरस या विरस, व्यंजनसहित या व्यंजनरहित, आर्द्र या शुष्क, जैसा भी आहार भिक्षा में मिले उसे मधुघृत की भांति खाना चाहिए, उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिए^३ तथा पात्र में किञ्चित् मात्र भी अन्न लगा हुआ नहीं रहना चाहिए।^४

कदाचित् सरस आहार पाकर उसे आचार्य आदि को दिखाने पर वे स्वयं न ले लेंगे-इस लोभ से भिक्षा को नहीं छुपाना चाहिए। ऐसे अपने ही स्वार्थ को प्रमुखता देने वाला मुनि बहुत पाप का भागीदार होता है, वह निर्वाण-प्राप्ति का अधिकारी भी नहीं होता।^५

एकान्त में अच्छा-अच्छा भोजन कर, अपना उत्कर्ष दिखाने के लिए मण्डली में नीरस आहार भी उसे नहीं करना चाहिए क्योंकि पूजा, यश तथा मान-सम्मान का इच्छुक मुनि अत्यधिक पाप का ही अर्जन करता है।^६

१. दश० ५.१.८७-९७

२. वही, ५.१.९६

३. वही, ५.१.९७-९८

४. वही, ५.२.१

५. वही, ५.२.३१-३२

६. वही, ५.२.३३-३५

साधु का भोजन-परिमाण :

मुनि को एक बार भोजन करना विहित है ।^१ उसे मात्राज्ञ—भोजन की मात्रा को जानने वाला होना चाहिए ।^२ शास्त्र में बतलाया गया है कि साधु को अपना आधा पेट भोजन चाहिए और एक चौथाई जल से तथा एक चौथाई वायु के लिए बचाकर रखना चाहिए ।^३ भोजन का भी परिमाण साधु के लिए 32 ग्रास तथा साध्वी के लिए 28 ग्रास बतलाया गया है ।^४

साधु का भोजन समय :

साधु को समय पर ही भोजन करना चाहिए । सूर्योदय से तीन घटिका पश्चात् और सूर्यास्त से तीन घटिका पूर्व साधु का भोजन करने का समय है ।^५ तीन मुहूर्त में भोजन करना जघन्य आचरण है, दो मुहूर्त में भोजन करना मध्यम आचरण है और एक मुहूर्त में भोजन कर लेना उत्कृष्ट आचरण होता है ।^६

मुनि के लिए सूर्यास्त से लेकर पुनः प्रातःकाल तक सब प्रकार का आहार करना सर्वथा वर्जित है ।^७ इसीलिए रात्रि भोजन विरमण को छठा महाव्रत माना गया है ।^८

इस प्रकार हम देखते हैं कि साधु की भिक्षाचर्या एक कठिन कार्य है । जो साधु इसमें खरा उतरता है, वही सच्चे अर्थों में साधु है । इस तरह आहारचर्या करता हुआ वह संयम की विराधना न करके अपने साधना—मार्ग में सफलता प्राप्त करता है ।

मुनि की सामान्य चर्या में कुछ और भी बातें हैं जिनका उसे विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए । साधु के बैठने, खड़े होने एवं बोलने की भी एक विशेष प्रकार की विधि बतलायी गयी है ।

१. एगभत्तं च भोयणं । दश० ६.२२

२. मायन्ने असण—पाणस्स । उ० २.३

३. अद्धमसणस्स सव्विज्जणस्स उदरस्स तदियमुदयेण ।

बाउ संधरणट्ठं चउत्थंमवसेसये ।मक्खू । मूला० ६. ४६१

४. भग० आ०, गा० २१३

५. ध्यान रखना चाहिए कि दिगम्बर मुनि विकालभोजन नहीं करते । दूसरे वह एक बार ही दिन में आहार लेते हैं । आहारे के बाद उनका सब कुछ का त्याग हो जाता है यहां तक कि वह पानी भी ग्रहण नहीं करते ।

६. सूरुदयत्थमणादो णालीतिय वज्जिदे असणकाले ।

तिगदुगएगमुहुत्ते जहण्णमज्झिम्ममुक्कस्से ।। मूला० ६.४६२

७. दश० ८.२५

८. वही, ४.१७ (ग छ)

(अ) बैठने की विधि :

मुनि को संयमपूर्वक बैठना चाहिए ।^१ इससे अभिप्राय है कि मुनि बैठने पर हाथ—पांवों को बार—बार न सिकोड़े अथवा न फैलाए । इस प्रकार करना उसे शोभा नहीं देता । अतः पालथी लगाकर संयमशर्षक बैठना चाहिए ।

मुनि आसन्दी, पर्यंक, मंच एवं वस्त्र से गूँथे हुए आसन आदि पर न बैठे ।^२ इनमें सूक्ष्म जीव हो सकते हैं तथा इस प्रकार की छिद्रयुक्त वस्तुओं में जीवों का प्रतिलेखन करना बड़ा कठिन होता है । अतः यथायोग्य आसन पर बैठना ही समुचित है ।

मुनि पृथ्वी पर बिना कुछ बिछाए न बैठे । सचित भूमि पर उसे बैठना बिल्कुल ही निषिद्ध है । उसे अचित भूमि पर भी अच्छी प्रकार प्रमार्जन एवं प्रतिलेखन कर और जिसकी वह भूमि हो उससे अनुमति लेकर ही बैठना चाहिए ।^३ अतः आज्ञा तथा समुचित आसन लेकर ही बैठना विहित है ।

गुरु के पास आलीन और गुप्त होकर बैठे ।^४ जो गुरु के पास न अतिनिकट और न अतिदूर बैठे, वह आलीन कहलाता है तथा जो मन से गुरु के वचन में दत्तावधान और प्रयोजनवश बोलने वाला होता है, उसे गुप्त कहा जाता है ।^५ अतः शान्त एवं जागरूक बैठना हितकर होता है ।

आचार्य के बराबर, आगे पीछे तथा उसके ऊरु से अपना ऊरु सटाकर न बैठे ।^६ पार्श्वभाग के निकट बराबर बैठने से शिष्य द्वारा समुच्चारित शब्द सीधे गुरु के कानों में प्रवेश करता है जिससे गुरु की एकाग्रता भंग हो सकती है । गुरु के आगे अत्यन्त निकट बैठने से अविनय होता है तथा दर्शनार्थियों के गुरु—दर्शन में बाधा आती है । पीछे बैठने से वह गुरु के मुख पर विद्यमान भाव और इंगित को समझ नहीं पाता । गुरु के ऊरु से ऊरु सटाकर बैठने से भी अविनय एवं अशिष्टता प्रकट होती है । अतः किसी भी प्रकार से असभ्य एवं अविनयपूर्ण ढंग से नहीं बैठना चाहिए ।

(ब) खड़े रहने की विधि :

मुनि प्रयोजनवश जब गृहस्थों के घर जाए तो उसे वहां संयमपूर्वक खड़े रहना चाहिए^७ तथा ध्यान रखना चाहिए कि वह वहां पानी तथा मिट्टी

१. जयं चिदंते । दश० ४.८

२. वही, ३.५, ६.५३—५५

३. वही, ८.५

४. वही, ८.४४

५. दे०—वही, टिप्पण, ८.१२२

६. दश०, ८.४५

७. जयं चरे । वही, ४.८

लाने के मार्ग और बीज एवं हरियाली वाली जगह पर खड़ा न हो ।^१ अर्गला—भित्ति, द्वार या किवाड़ का सहारा लेकर भी खड़ा न हो ।^२ ऐसा करने पर लघुता प्रकट होती है तथा चोट लगने का भी भय रहता है ।

यदि किसी घर के आगे वनीपक आदि याचक खड़े हों तो मुनि उनको या गृहस्वामी को दिखाई न दे, उनके सामने जाकर खड़ा न होवे, एकान्त में जाकर खड़ा हो जाए^३ कारण कि ऐसा न करने पर सामने खड़े वनीपकों अथवा गृहस्वामी को क्रोध आ सकता है अथवा उन वनीपकों को कम भोजन भी दिया जा सकता है, जो दुःख व हिंसा का हेतु बन सकता है और जैन सन्त को हिंसा वर्जित है ।

(स) वाक्-शुद्धि :

मुनि के लिए वाक्-शुद्धि पर भी विशेष बल दिया गया है । मुनि को चार प्रकार की भाषाएं नहीं बोलनी चाहिएं—१. अवक्तव्य—सत्य—भाषा, २. सत्य—असत्यभाषा, ३. असत्य भाषा और ४. वृद्धों द्वारा अनाचीर्ण भाषा ।^४

काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी तथा चोर को चोर न कहें ।^५ इस प्रकार की यह भाषा अवक्तव्य—सत्य भाषा है जोकि कठोर भाषा है एवं भूतोपघात करने वाली है ।^६

सत्य—असत्य भाषा से अभिप्राय है—संदिग्ध भाषा । आशय को छिपाकर जैसे 'अश्वत्थामा हतः' इस प्रकार की संदिग्ध भाषा का प्रयोग वर्जनीय है ।

मुनि सत्य दिखलाई देने वाली असत्य वस्तु का आश्रय लेकर—पुरुष वेषधारी स्त्री को पुरुष कहकर न बोले । यह सत्य भाषा का अनाचीर्ण रूप है । इस प्रकार की भाषा बोलने से मुनि पाप का स्पर्श ही करता है । अतः साक्षात् झूठ तो बिल्कुल ही न बोले ।^७

जो भाषा भविष्य—सम्बन्धी होने के कारण शंकित हो अथवा वर्तमान और अतीतकाल—सम्बन्धी अर्थ के बारे में शंकित हो, संयमी मुनि उसे न बोले । जैसे—'हम जाएंगे', 'हमारा अमुक कार्य हो जाएगा', इस प्रकार की भाषा न बोले ।^८ निश्चित जानकारी के अभाव में 'अमुक वस्तु अमुक की है '

१. वही, ५.१.२६

२. वही, ५.२.६

३. वही, ५.२.११

४. दश० ७.२

५. वही, ७.१२

६. वही, ७.११

७. वही, ७.५

८. वही, ७.६-६

इस प्रकार कहना वर्तमानकालिक शंकित भाषा है। इसी प्रकार 'बैल देखा गया या गाय', इसकी ठीक स्मृति न होते हुए भी ऐसा कहे कि 'मैंने गाय देखी थी' यह अतीत कालीन शंकित भाषा है।

किसी स्त्री को दादी, नानी, मां, मौसी, भानजी आदि स्नेहसूचक शब्दों से सम्बोधित न करे, बल्कि उनकी अवस्था, वेश, ऐश्वर्य आदि की अपेक्षा गुण-दोष का विचार करके उनके मूल नाम या गोत्र से सम्बोधित करे।^१ इसी प्रकार किसी पुरुष को दादा, नाना, चाचा, मामा पोता आदि शब्दों से सम्बोधित न करे, बल्कि उन्हें नाम या गोत्र से ही सम्बोधित करना चाहिए^२।

वृक्ष आदि को देखकर यह मकान की लकड़ी के लिए, पात्र के लिए, कृषि के उपकरणों के लिए या शयनासन के लिए उपयोगी है, ऐसा न कहे।^३ फल या धान्य पके हैं या कच्चे हैं, तोड़ने योग्य हैं या नहीं, फली नीली है या सूखी इत्यादि सावद्य भाषा का प्रयोग न करे।^४

साधु को मृत-भोज, पितर-भोज या विवाह इत्यादि के अवसर पर दिया जाने वाला सामूहिक भोज करणीय है, चोर वध्य है, नदी के घाट सुन्दर हैं, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए। यदि प्रयोजनवश कहना ही हो तो सामूहिक भोज को सामूहिक भोज है, चोर को धनार्थी है और नदी के घाट समान हैं—ऐसा ही उसे बोलना चाहिए।^५

भोजन के सम्बन्ध में 'बहुत अच्छा पकाया है,' 'बहुत अच्छा छेदा है,' 'बहुत अच्छा रस निष्पन्न हुआ है,' 'बहुत ही इष्ट है' इत्यादि प्रशंसा-वाचक शब्दों का प्रयोग न करे।^६ वस्तुओं के क्रय-विक्रय की चर्चा भी न करे।^७ इससे सांसारिक कार्यों में लिप्तता बढ़ती है। अमुक की जय हो, अमुक की नहीं—ऐसा न कहे।^८ इससे राग-द्वेष बढ़ता है तथा दूसरे के मन को पीड़ा भी होती है।

अपनी या दूसरों की भौतिक सुख-सुविधा के लिए प्रतिकूल स्थिति के न होने और अनुकूल स्थिति के होने की बात न कहे^९, इससे भी वीतरागता में बाधा आती है। मेघ, आकाश और मनुष्य को देव न कहे,^{१०} उन्हें देव कहने से

१. दश० ७.१५-१७

२. वही, ७.१८-२०

३. वही, ७.२७-२६

४. वही, ७.३२-३५

५. वही, ७.३६-३७

६. वही, ७.४१

७. वही, ७.४३, ४५, ४६

८. वही ७.५०

९. वही, ७.५१

१०. वही, ७.५२-५३

मिथ्यात्व का स्थिरीकरण होता है ।

उसे पाप का अनुमोदन करने वाली और जीवघातकारक भाषा नहीं बोलनी चाहिए । क्रोध, लोभ और भयवश न बोले । दूसरों की हंसी करता हुआ भी न बोले ।^१ उसे सदैव अदुष्ट भाषा ही बोलनी चाहिए ।^२

साधु को हितकारी एवं आनुलौमिक वचन बोलने चाहिए ।^३ वह सदैव प्रयोजनवश और परिमित बोले ।^४ बिना पूछे न बोले और किसी के बीच में न बोले । उसे किसी की चुगली नहीं करनी चाहिए तथा कपटपूर्ण असत्य वचन भी नहीं बोलने चाहिए ।^५

साधु ऐसा भी न बोले जिससे दूसरे को अप्रीति उत्पन्न हो और वह व्यक्ति कुपित हो जाए ।^६ देखी हुई बात कहे, जोर से बोलना भी निषिद्ध है । उसे स्वर-व्यञ्जन आदि युक्त स्पष्ट भाषा बोलनी चाहिए^७ तथा कलह उत्पन्न करने वाली बात भी नहीं करनी चाहिए ।^८

इस प्रकार साधु के सामान्य आचार में पंच महाव्रत, षडावश्यक तथा आठ प्रवचन माताओं का पूर्णतया पालन किया जाता है । इसके अतिरिक्त सामाचारी, बाह्य उपकरण, उपाश्रयच एवं भिक्षाचर्या आदि के विषय में भी विशेष सावधानी से काम लिया जाता है ताकि किसी प्रकार से संयम की विराधना न हो, संयम का सम्यक् परिपालन होता रहे ।

(2) विशेष साध्वाचार :

विशेष अवसर पर कर्मों की विशेष निर्जरा करने के लिए साधु जिस प्रकार के सदाचार का पालन करता है, उसे विशेष साध्वाचार के अन्तर्गत लिया जाता है । यह विशेष साध्वाचार सामान्य साध्वाचार से सर्वथा पृथक् नहीं है, बल्कि जब साधु अपने सामान्य साध्वाचार का ही विशेष रूप से दृढ़ता के साथ पालन करता है तब उसे ही विशेष साध्वाचार का नाम दे दिया जाता है । इसके अन्तर्गत निम्न क्रियाएं विचारणीय हैं—

१— तपश्चर्या

२— साधु की प्रतिमाएं

१. वही, ७.५४
२. वही, ७.५५
३. वही, ७.५६
४. वही, ८.१६
५. वही, ८.४६
६. वही, ८.४७
७. वही, ८.४८
८. वही, १०.१०

3— परीषहजय

4— सल्लेखना

इनमें से तप एवं साधु की प्रतिमाओं का वर्णन तो पूर्व में किया ही जा चुका है। यहां परीषहजय और सल्लेखना का अध्ययन किया जाता है।

(अ) परीषहजय :

अङ्गीकृत धर्ममार्ग में स्थिर रहने एवं कर्मों के क्षय के लिए जो सहन करने योग्य हों वे पीरषह कहलाते हैं।^१ क्षुधा—तृषा आदि उन परीषहों पर विजय प्राप्त कर लेना अर्थात् खेद खिन्न न होकर उन्हें शान्तभाव से सहन कर लेना ही परीषहजय है।^२ परीषह संख्या में बाईस प्रकार के स्वीकार किए गए हैं^३ अतः परीषहजय भी बाईस प्रकार का ही है—

1— क्षुधापरीषहजय :

बहुत भूख लगने पर भी मनोबल से युक्त होकर क्षुधा की शान्ति के लिए न तो फल आदि को स्वयं तोड़ना, न दूसरे से तुड़वाना, ना पकाना और न पकवाना अपितु भूख से उत्पन्न कष्ट को सब प्रकार से सहन करना ही क्षुधापरीषहजय है।^४

2— तृषापरीषहजय :

प्यास से पीड़ित होने पर, यहां तक कि एकान्त निर्जन स्थान में मुख के सूख जाने पर भी साधु अदीनभाव से प्यास के कष्ट को सहता हुआ, सचित्त जल का सेवन न करके अचित्त जल की प्राप्ति के लिए ही प्रयास करता है वह तृषापरीषहजय है।^५

3— शीतपरीषहजय :

ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए यदि शीतजन्म कष्ट होने लगे तो शरीर को ठण्ड से बचाने के लिए कोई स्थान एवं वस्त्र आदि के न रहने पर भी अग्नि आदि के सेवन का चिन्तन न करते हुए उससे होने वाले कष्ट को सहन करना शीतपरीषहजय है।^६

१. मार्गाऽध्यवनिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः । त०सू० ६.८

२. क्षुधातृषादिवेदनासमुत्पत्तौ उपार्जिकर्मनिर्जरणार्थं परिसमन्तात् सहनं परीषहः तस्य जयः परीषहजयः । त०वृ० ६.२, पृ० २८२

३. इमे खलु ते बावीसं परीसहा—दंसण—परीसहे ।

उ०२.३, (गद्य) तथा मिलाइये—समवाओ, २२.१

४. दे०—उ० २.२—३

५. सीओदगं न सेविज्जा वियडस्सेसणं चरे । वही, २.४. तथा दे० २.५

६. उ० २.६—७

4- उष्णपरीषहजय :

गर्मी से अत्यन्त पीड़ित होने पर भी स्नान करना, मुख को पानी से सींचना, पंखा झलना आदि परिताप-निवारक उपायों के द्वारा शान्ति-प्राप्ति की इच्छा न करना उष्णपरीषहजय है ।^१

5- दंशमशकपरीषहजय :

दंस तथा मच्छर आदि के द्वारा काटे जाने पर भी युद्ध के मोर्चे पर आगे रहने वाले हाथी की तरह अडिग रहकर, उन मांस खाने वाले तथा रक्त पीने वाले जीवों को द्वेषभाव से न तो हटाना और न ही मारना दंशमशकपरीषहजय है ।^२

6- अचेलपरीषहजय :

वस्त्र फट गए हों, अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण हो गए हों, या वस्त्रों को चोर-डाकू आदि ने चुरा लिया हो तो दीनतापूर्वक वस्त्रों की याचना न करना, 'नवीन वस्त्र मिलेंगे इससे हर्ष और अब मुझे कोन वस्त्र देगा' इस विचार से शोक न करना, बल्कि वस्त्ररहित या अल्पवस्त्रसहित होने की स्थिति को समभाव से सहन करना, यह अचेलपरीषहजय है ।^३

7- अरतिपरीषहजय :

ग्रामानुग्राम में विचरण करते हुए अनेक प्रकार की कठिनाइयां आने के कारण साधु को साधुवृत्ति के प्रति अरुचि उत्पन्न हो सकती है । अतः इस अरुचि को उत्पन्न न होने देना तथा संयम का पालन करते रहना अरतिपरीषहजय है ।^४

8. स्त्रीपरीषहजय :

पुरुष या स्त्री साधक का अपनी साधना में विजातीय के प्रति कामवासना का आकर्षण पैदा होने पर उसकी ओर न ललचाना, मन को दृढ़ रखना तथा संयमरूपी उद्यान में रमण करते रहना ही स्त्रीपरीषहजय है ।^५

9. चर्यापरीषहजय :

यहां चर्या से अभिप्राय है—गमन करना । एक जगह स्थायीरूप से निवास करने से साधु को ममत्व के बन्धन में पड़ जाने की आशंका रहती है । अतः किसी गृहस्थ अथवा गृह आदि में आसक्ति न रखते हुए ग्रामानुग्राम विचरण करते समय उत्पन्न सभी प्रकार के कष्टों को सहन करना, चर्यापरीषहजय कहलाता है ।^६

१. उ० २.८-६

२. वही, २.१०-११

३. वही, २.१२-१३

४. वही, २.१४-१५

५. उ० २.१६-१७

६. वही, २.१८-१९

10. निषद्यापरीषहजय :

जब साधु श्मशान, वन अथवा पर्वतों की गुफा आदि में निवास करता है और नियतकालपर्यन्त ध्यान के लिए निषद्य (=आसन) को स्वीकार करता है, तब देव, तिर्यच, मनुष्य और अचेतन पदार्थकृत उपसर्ग (आपत्ति) उत्पन्न हो सकते हैं। उन उपसर्गों के कारण अपने आसन से न हिलना और न मन्त्र आदि के द्वारा किसी प्रकार का प्रतीकार ही करना, निषद्यापरीषहजय कहलाता है।^१

11. शय्यापरीषहजय :

शय्या का अर्थ है—शयन करने का स्थान। साधु को कहीं एक रात रहना पड़े या अधिक दिनों तक। वहां प्रिय या अप्रिय स्थान मिलने पर हर्ष शोक न करना अथवा कोमल—कठोर, ऊंची—नीची जैसे भी जबह मिले वहां समभाव से रहना, शय्या परीषहजय है।^२

12. आक्रोशपरीषहजय :

किसी ग्राम या नगर में पहुंचने पर साधु की क्रिया, वेषभूषा आदि को देखकर द्वेषवश या ईर्ष्यावश कोई अनभिज्ञ व्यक्ति आवेश में आकर उसे कठोर या अप्रिय वचन कहे तो उन वचनों को सुनकर चुप रहना तथा उसके प्रति थोड़ा—सा भी क्रोध न करना, आक्रोशपरीषहजय है।^३

13. वधपरीषहजय :

आवेश में आकर कोई व्यक्ति साधु को मारे—पीटे तब यह सोचकर कि इस आत्मा का कभी विनाश नहीं होता तथा क्षमा ही सबसे बड़ा धर्म है, मारने वाले के प्रति मन से भी द्वेष न करते हुए धर्म का ही चिन्तन करना वधपरीषहजय है।^४

14. याचनापरीषहजय :

साधु के पास जितनी भी वस्तुएं होती हैं वे सब गृहस्थ से मांगी हुई ही होती हैं, बिना मांगा कुछ भी नहीं होता किन्तु 'गृहस्थों के सामने प्रतिदिन हाथ फैलाना अच्छा नहीं है, अतः गृहवास ही श्रेष्ठ है' इस प्रकार याचनाजन्य दीनता के भाव न आने देना याचनापरीषहजय है।^५

15. अलाभपरीषहजय :

साधु को आहार आदि की याचना करने पर कभी—कभी उसकी बिल्कुल ही प्राप्ति नहीं होती तथा कभी थोड़ा मिलता है। ऐसी अवस्था में दुःखी न होते

१. दे०—त०वृ० ६.६, पृ० २६३

२. उ० २.२२—२३

३. अक्कोसेज्ज परो भिक्खू न तेसिं पडिसंजले। वही, २.२४ तथा दे०, २.२५

४. हओ न संजले भिक्खू मणं पि न पओसए। वही, २.२६, तथा दे०—२.२७

५. वही, २.२८—२९

हुए यह सोचना—‘आज भिक्षा नहीं मिली, संभवतः कल मिल जाएगी’, यह अलाभपरीषहजय है ।^१

16. रोगपरीषहजय :

शरीर में किसी प्रकार के रोग आदि के हो जाने पर ‘कर्मों’ के उदय से ही रोग उत्पन्न होता है’ ऐसा जानकर दीनता प्रकट न करते हुए तथा औषधि का भी सेवन न करके रोगजन्य कष्ट को समतापूर्वक सहन करना रोगपरीषहजय है ।^२

17. तृणस्पर्शपरीषहजय :

तृण पर सोने से अचेल साधु के शरीर को कष्ट होता है । गर्मी पड़ने से घास पर सोते हुए बहुत वेदना होती है । ऐसी अवस्था में भी वस्त्र आदि की अभिलाषा न करना तृणस्पर्शपरीषहजय है ।^३

18. जल्लपरीषहजय :

ग्रीष्म ऋतु में मैल, रज अथवा परिताप से शरीर के क्लिन्न हो जाने पर उत्पन्न वेदना को समतापूर्वक सहन करना और स्नान आदि की इच्छा न करना जल्लपरीषहजय है ।^४

19. सत्कारपुरस्कारपरीषहजय :

राजा आदि के द्वारा अभिवादन, सत्कार एवं निमन्त्रण आदि से किसी अन्य साधु का सम्मान होते देखकर तथा स्वयं का सम्मान न होने पर ईर्ष्या न करते हुए समभाव रखना सत्कार—पुरस्कार—परीषहजय है ।^५

20. प्रज्ञापरीषहजय :

साधु को ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर भी यदि वह किसी के पूछने पर कुछ भी उत्तर न दे सके तो ‘यह मेरे कर्मों का फल है’ ऐसा विचार करके उसका आश्वस्त हो जाना, प्रज्ञापरीषहजय है ।^६

21. अज्ञानपरीषहजय :

साधु के सकल शास्त्रों में निपुण होने पर भी दूसरे व्यक्तियों के द्वारा किए गए ‘यह मूर्ख है’ इत्यादि आक्षेपों को शान्त भाव से सहन कर लेना अज्ञानपरीषहजय है ।^७

१. उ०, २. ३०—३१

२. वही, २.३२—३३

३. वही, २.३४—३५

४. वही, २.३६—३७

५. अभिवायणमधुदठणं सामी कुज्जा निमन्तणं ।

जे ताइ पडिसेवन्ति न तेसिं पीहए मुणी ।। वही, २.३८ तथा दे० २.३६

६. उ० २.४०—४२

७. दे०—त०वृ० ६.६, पृ० २६५

22. दर्शनपरीषहजय :

‘परलोक नहीं है, तप से ऋद्धि की प्राप्ति नहीं होती है, मैं साधुधर्म लेकर ठगा गया हूँ, तीर्थंकर न थे, न हैं और न ही आगे होंगे—इस तरह धर्म में अविश्वास उत्पन्न न होने देना ही दर्शनपरीषहजय है।’^१ भाव यह है कि साधु की अपने धर्म के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा होनी परमावश्यक है।

इस प्रकार साधु उपर्युक्त 22 परीषहों में से किसी भी परीषह का प्रसंग उपस्थित होने पर उसे शान्ति से समतापूर्वक सहन करे, उस पर विजय प्राप्त करे, इसी से साधुता दीप्त होती है।

(आ) सल्लेखना :

सल्लेखना का अर्थ है—समतापूर्वक काय और कषायों को कृश करना।^२ रोग आदि के कारण या कठोर तपस्या के कारण शरीर के समयोचित क्रियाएं करने में असमर्थ हो जाने पर आहार का संवर्तन (=संक्षेप) करते हुए तथा कषायों को कृश करते हुए और समाधि में भावनाओं का चिन्तन करते हुए मृत्यु को अंगीकार करने के लिए उद्यत हो जाना ही सल्लेखना है।^३

रत्नकरण्डकश्रावकाचार में भी बतलाया गया है कि देवादिकृत प्रतीकार सहित उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा और रोग के उपस्थित होने पर धर्म के लिए शरीर छोड़ने को सल्लेखना कहा जाता है।^४ इसका सीधे शब्दों में अर्थ होता है कि अन्तिम समय में आहार आदि का त्याग कर समाधिपूर्वक मृत्यु प्राप्त करना इस दृष्टि से सल्लोना प्राणान्त अनशन विशेष है।^५

सल्लेखना को सकाममरण एवं पण्डितमरण भी कहा जाता है^६ क्योंकि इसकी प्राप्ति संयत और जितेन्द्रिय पुण्यात्माओं को इच्छापूर्वक (=सकाम) होती है तथा वे मृत्यु के समय में भी पूर्ववत् प्रसन्न ही रहते हैं।^७

१. ‘नत्थि नूणं परे लोए इड्ढी वावि तवस्सिणो ।
अदुवा वच्चिओ मि‘त्ति इइ भिक्खू न चिन्ताए ।।
‘अभू जिणा अत्थि जिणा अदुवावि भविस्सई ।
मुंस ते एवमाहंसु’ इइ भिक्खू न चिन्ताए ।। वही, २.४४-४५
२. तेनायमर्थः—यत् सम्यक् लेखना कायस्य कषायाणां च कृशीकरणं तनूकरणं सल्लेखना ।
त० वृ० ७.२२, पृ० २४६
३. विशेष के लिए दे०—आयारो, ८.६.१०५
४. उपसर्गं दुर्भिक्षं जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे ।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्थाः ।। रत्नक० ५.१
५. दे०—(मेहता), जैन, धर्म—दर्शन, पृ० ५५८
६. एतो सकाम—मरणं पण्डियाणं सुणेह में । उ० ५.१७
७. (क) मरणं पि सपुण्णाण जहा मेयमणुस्सुयं ।
विप्पसण्णमणाधायं संजयाणं वुसोमओ ।। वही, ५.१८
(ख) न संतसन्ति मरणन्ते सीलवन्ता बहुस्सुया । वही, ५.२६

१. सल्लेखना आत्महनन नहीं :

सल्लेखना आत्महनन नहीं है। यह तो मृत्यु के समीप में आ जाने पर प्रसन्नतापूर्वक शरीर का त्याग करने की प्रक्रिया मात्र है। तत्त्वार्थवृत्तिकार कहते हैं कि सल्लेखना में आत्मघात का दोष नहीं होता कारण कि प्रमत्तयोग से प्राणों के विनाश करने को ही तो हिंसा कहते हैं। जबकि सल्लेखना विचारपूर्वक की जाती है, उसमें राग-द्वेष आदि कारण न होने से प्रमत्तयोग नहीं होता। अतः सल्लेखना करने में आत्मघात का दोष सम्भव ही नहीं है।^१ जैसे कि पुरुषार्थसिद्धयुपाय में भी बतलाया गया है कि 'हिंसा के मूल कारण कषाय हैं वे इस सल्लेखना में क्षीण हो जाते हैं। अतः आचार्य सल्लेखना को अहिंसा की पुष्टि के लिए सहकारी ही बतलाते हैं।^२ आचारांगसूत्र में इसे काल-मृत्यु ही बतलाया गया है।^३

२. सल्लेखना के भेद :

उत्तराध्ययनसूत्र में सल्लेखना के तीन भेदों का संकेत मिलता है। इनमें से किसी एक को स्वीकार कर शरीर छोड़ा जा सकता है।^४ ये तीन भेद क्रिया को माध्यम बनाकर किए गए हैं जो निम्न प्रकार हैं^५—

(क) भक्तप्रत्याख्यान :

गमनागमन के विषय में कोई नियम लिए बिना चारों प्रकार के आहार का त्याग करके शरीर का त्याग करना भक्त प्रत्याख्यान नामक सल्लेखना है।

(ख) इंगिनीमरण :

इंगित का अर्थ है—संकेत। अतः गमनागमन के विषय में भूमि की सीमा का संकेत करके चारों प्रकार के आहार का त्याग करते हुए शरीर का त्याग करना इंगिनीमरण है।

(ग) पादोपगमन :

पाद का अर्थ है—वृक्ष। अतः पादोपगमन नामक सल्लेखना में चारों प्रकार के आहार का त्याग करके वृक्ष से कटी हुई शाखा की तरह एक ही स्थान पर निश्चल होकर शरीर का त्याग किया जाता है।

१. दे०—त०वृ० ७.२२, पृ० २४६-४७

२. नीयन्तेऽत्र कषाया हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम्।
सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसाप्रसिद्धयर्थम्॥
पुरुषार्थसिद्धयुपाय, गा० १७६

३. तत्थावि तस्स कालपरियाए। आयारो, द.७.१२८

४. अह कालंमि संपत्तं आद्यायाय समुस्सयं।
सकाम-मरणं मरई तिण्हमन्नयरं मुणी॥ उ० ५.३२

५. विस्तार के लिए दे०—आयारो, द.८. १-२५
तथा उ० आ० दी०, पृ० २३८

3— सल्लेखना की अवधि :

सामान्यतौर से सल्लेखना की अधिकतम सीमा १२ वर्ष, न्यूनतम सीमा छह मास तथा मध्यम सीमा एक वर्ष बतलायी गयी हैं^१ परन्तु यह कथन उनकी अपेक्षा से कहा गया प्रतीत होता है जिन्हें अपनी मृत्यु के समय के विषय में जानकारी हो। अन्यथा इसकी न्यूनतम सीमा अन्तर्मुहूर्त तथा मध्यम सीमा उच्चतम तथा न्यूनतम सीमा के बीच कभी भी हो सकती है।

4— सल्लेखना की विधि :

सल्लेखना की बारह वर्ष प्रमाण उच्चतम सीमा को ध्यान में रखते हुए इसकी विधि इस प्रकार बतलायी गयी है^२—

सर्वप्रथम साधक गुरु के पास जाकर प्रथम चार वर्षों में घी, दूध आदि विकृत पदार्थों का त्याग करे। अगले चार वर्षों में विविध प्रकार का तप करे। तदनन्तर दो वर्ष पर्यन्त क्रमशः एक दिन उपवास और दूसरे दिन नीरस अल्प आहार करे। इसके बाद उसे छह मास पर्यन्त कोई कठिन तप न कर साधारण तप करना चाहिए। फिर छह मास पर्यन्त कठोर तपश्चर्या करके अन्त में नीरस अल्प आहार लेकर अनशन व्रत तोड़ दे अर्थात् उसे पारणा करनी चाहिए।

बारहवें वर्ष में निरन्तर आचाम्ल (नीरस अल्पाहार) करता हुआ, वह मृत्यु का एक मास या पन्द्रह दिन शेष जाने पर सब प्रकार के आहार का परित्याग कर देना चाहिए। इस प्रकार यह सामान्य अपेक्षा से उत्कृष्ट सल्लेखना की विधि है। इस विधि में आवश्यकतानुसार समय—सम्बन्धी परिवर्तन किया जा सकता है।

5— सल्लेखना के अतिचार :

जीविताशंसा, मरणाशंसा, भय, मित्रस्मृति और निदान ये सल्लेखना व्रत के पांच अतिचार बतलाए गए हैं।^३

(क) जीविताशंसा :

सल्लेखना धारण कर ऐसी इच्छा रखना कि मैं कुछ समय तक और जीवित रहता तो अच्छा होता यह जीविताशंसा नामक अतिचार है।

(ख) मरणाशंसा :

क्षुधा—तृषा आदि की पीड़ा होने पर ऐसी इच्छा रखना कि मेरी मृत्यु जल्दी हो जाती तो अच्छा होता, यह मरणाशंसा नामक अतिचार है।

१. बारसेव उ वासाइं संलेहुक्कोसिया भवे।

संवच्छरं मज्झिमिया छम्मासा य जहन्निया ।। उ० ३६.२५१

२. दे०—वही, ३६. २५२—५५

३. जीवितमरणाशंसे भयमित्रस्मृतिनिदाननामानः।

सल्लेखनातिचाराः पञ्च जिनेन्द्रैः समादिष्टाः ।। रत्नको ५.८

(ग) भय :

इहलोक भय और परलोक भय की अपेक्षा भय के दो भेद हैं। मैंने सल्लेखना ग्रहण की तो है, परन्तु मुझे क्षुधा, तृषा आदि की पीड़ा कहीं अधिक समय तक सहन न करनी पड़े, इस प्रकार का भय होना इहलोक भय कहलाता है, और इस प्रकार के कठिन अनुष्ठान के करने से परलोक में विशिष्ट फल प्राप्त होगा या नहीं, ऐसा भाव रखना परलोक भय है।

(घ) मित्रस्मृति :

बाल्यादि अवस्थाओं में जिनके साथ क्रीडा की थी, ऐसे मित्रों का बारम्बार स्मरण करना मित्रस्मृति नामक अतिचार कहा जाता है।

(ङ) निदान :

मरने के बाद परलोक में विषय भोगों की आकांक्षा करना निदान नामक अतिचार है।^१

उपर्युक्त पांच अतिचारों के अतिरिक्त आगम में पांच प्रकार की अशुभ भावनाएं भी बतलायी गयी हैं जिनके रहने पर जीव सल्लेखना के फल को प्राप्त नहीं कर पाता। ये पांच अशुभ भावनाएं हैं^२—

(क) कन्दर्प भावना :

हास्योत्पादक कुचेष्टा आदि करना तथा शील, स्वभाव, हास्य और विकथा से दूसरों को हंसाना।

(ख) अभियोग भावना :

सुख, रस और समृद्धि के लिए तन्त्र—मन्त्र का प्रयोग करना।

(ग) कित्विषिकी भावना :

ज्ञान, केवलज्ञानी, धर्माचार्य, संघ तथा साधुओं की निन्दा करना।

(घ) मोह भावना :

शस्त्रग्रहण, विषभक्षण, अग्निप्रवेश, जलप्रवेश तथा निषिद्ध वस्तुओं का सेवन करना।

(ङ) आसुरी भावना :

निरन्तर क्रोध करना तथा शुभाशुभ फलों का कथन करना।^३

उपर्युक्त पांच अतिचारों तथा पांच प्रकार की अशुभ भावनाओं में से किसी

१. दे०—रत्नक० ५.८ टीका तथा त०वृ० ७.३७

२. कन्दप्पमामिओगं किब्बिसियं मोहमासुरत्तं च।

एयाओ दुग्गईओ मरणम्मि विराहिया होन्ति।। उ० ३६.२५६

३. विस्तार के लिए दे०—उ० ३६.२६३—६७

एक के भी रहने पर सल्लेखना के फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः साधक को सल्लेखना के पांच अतिचारों और इन पांच प्रकार की अशुभ भावनाओं से सदैव दूर रहना चाहिए, तभी वह सल्लेखना के अभीष्ट फल को प्राप्त कर सकेगा।

6— सल्लेखना का फल :

सल्लेखना धारण करना साधना पथ का चरम केन्द्रबिन्दु है। यदि साधक इसमें सफल हो जाता है तो वह अपनी सम्पूर्ण साधना का अभीष्ट फल प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार धर्म का पान करने वाला कोई क्षपक सब दुःखों से अछूता रहता हुआ अन्तरहित तथा सुख के समुद्र स्वरूप मोक्ष का अनुभव करता है और कोई क्षपक बहुत समय में समाप्त होने वाली 'अहमिन्द्र' आदि की सुखपरम्परा का अनुभव करता है।^१

इस प्रकार यह साधु के विशेष आचार का अध्ययन किया गया।

(छ) साधु की ३१ उपमाएं :

साधु को निम्नलिखित ३१ उपमाओं से उपमित किया गया है^३—

(१) कांस्यपात्र :

जैसे उत्तम एवं स्वच्छ कांस्यपात्र जलमुक्त रहता है अर्थात् उस पर पानी नहीं ठहरता, उसी प्रकार साधु भी स्नेह—बन्धन से मुक्त रहता है।

(२) शंख :

जैसे शंख पर रंग नहीं चढ़ता उसी प्रकार साधु राग—भाव से रंजित नहीं होता।

(३) कच्छप :

जिस प्रकार कछुआ चार पैर और एक गर्दन—इन पांच अवयवों को सिकोड़कर खोपड़ी में सुरक्षित रखता है, उसी प्रकार मुनि भी संयम क्षेत्र में अपनी पांचों इन्द्रियों को गुप्त रखता है, उन्हें विषयोन्मुख नहीं होने देता।

१. 'अहमिन्द्र' आदि का पद रोग, शोक आदि से रहित होता है, अतः सांसारिक सुख का उत्कृष्ट स्थान है। यह पद दुस्तर है अर्थात् सागरों पर्यन्त विशालकाल से उसका अन्त प्राप्त होता है।
दे०— रत्नक० ५.६ टीका

२. निःश्रेयसममुदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम्।

निःपिबति पीतधर्मा सर्वदैः खैरनालीढः ॥ वही, ५.६

३. कंसपाईव मुक्ततोया, संखो इव निरंगणा, जीवो विव अप्पडिहयगई, जच्चकणगं पिव जायरूवा, आदरिसफलगा इव पागड़भावा, कुम्भो इव गुत्तिदिया, पुक्खरपत्तं वनिरुलेवा, गगणमिव निरालंघणा, अणिलो इव निरालगा, चंदो इव सोमलेसा, सूर्रो इव वित्ततेया, सागरो इव गम्भीरा, विहग इव सव्वओ विप्पमुक्का, मंदरो इव अप्पकंपा, सारथसलिलं व सुद्धीहयया, खग्गविसाणं व एगजाया, भारुडपक्खी व अप्पमत्ता, कुंजरो इव सोडीरा, वसमो इव जायत्थामा, सीहो इव दुद्धरिसा, वसुधरा इव सव्वफासविसहा, सुहुयहुयासणो इव तेयसा जलंता ॥ ओवाइयं, २७

(4) स्वर्ण :

जैसे निर्मल स्वर्ण प्रशस्त रूपवान् होता है, उसी प्रकार साधु भी रागादि का नाश कर प्रशस्त आत्मस्वरूप वाला होता है ।

(5) कमलपत्र :

कमलपत्र जैसे जल से निर्लिप्त रहता है, उसी प्रकार साधु अनुकूल विषयों में आसक्त न होता हुआ उनसे निर्लिप्त रहता है ।

(6) चन्द्र :

चन्द्रमा जैसे सौम्य होता है, उसी प्रकार साधु स्वभाव से सौम्य होता है ।

(7) सूर्य :

जिस प्रकार सूर्य तेज से दीप्त होता है, उसी प्रकार साधु भी तप के तेज से दीप्त रहता है ।

(8) सुमेरु :

जैसे सुमेरु पर्वत स्थिर है, प्रलयकाल में भी विचलित नहीं होता, उसी प्रकार साधु संयम में स्थिर रहता हुआ परीषहों से विचलित नहीं होता ।

(9) सागर :

जिस प्रकार सागर गम्भीर होता है, उसी प्रकार साधु भी गमभीर होता है, हर्ष अथवा शोक के कारण उसका चित्त विकृत नहीं होता ।

(१०) पृथ्वी :

जैसे पृथ्वी सभी प्रकार की बाधाएं—पीड़ाएं सहन करती है, उसी प्रकार साधु भी सभी प्रकार के उपसर्ग तथा परीषह सहन करता है ।

(११) भस्माच्छन्न अग्नि :

राख से ढकी हुई अग्नि जिस प्रकार बाहर से मलिन दिखाई देती हुई भी अन्दर से प्रदीप्त रहती है, उसी प्रकार तप से कृश होने से साधु बाहर से म्लान दिखाई देता है, किन्तु अन्दर से शुभ भावना के द्वारा प्रकाशमान रहता है ।

(१२) धृतसिक्त अग्नि :

जैसे घी से सींची हुई अग्नि तेज से देदीप्यमान होती है, उसी प्रकार साधु ज्ञान एवं तप के तेज से दीप्त रहता है ।

(१३) गोशीर्ष चन्दन :

जिस प्रकार गोशीर्ष चन्दन शीतल और सुगन्धित होता है, उसी प्रकार साधु भी कषायों के उपशान्त होने से शीतल एवं शील की सुगन्ध से सुवासित होता है ।

(94) जलाशय :

हवा चलने पर भी जैसे जलाशय में पानी की सतह सम रहती है, ऊँची—नीची नहीं होती, उसी प्रकार साधु भी समभाव वाला होता है। सम्मान—अपमान इत्यादि में उसके विचारों में उतार—चढ़ाव नहीं आता।

(95) दर्पण :

स्वच्छ दर्पण जिस प्रकार स्पष्ट बिम्बग्राही होता है, उसी प्रकार साधु भी मायारहित स्वच्छ हृदय होने से शास्त्रों के भावों को पूर्णतया ग्रहण कर लेता है।

(96) गन्धहस्ती :

जिस प्रकार हाथी युद्ध में अपना प्रबल शौर्य दिखलाता है, उसी तरह साधु भी परीषह सेना के साथ जूझने में अपना आत्मवीर्य प्रकट करता है और विजयी होता है।

(97) वृषभ :

जैसे धोरी बैल उठाए हुए भार को यथास्थान पहुंचाता है, बीच में नहीं छोड़ता, वैसे ही साधु भी ग्रहण किए हुए व्रत, नियम एवं संयम का जीवनपर्यन्त उत्साहपूर्वक निर्वाह करता है।

(98) सिंह :

जैसे सिंह महापराक्रमी होता है, जंगली जानवर उसे डरा नहीं सकते, उसी प्रकार साधु भी आध्यात्मिक शक्ति सम्पन्न होता है, परीषह उसे पराजित नहीं कर सकते।

(99) शारद जल :

जिस प्रकार शरद ऋतु का जल निर्मल होता है, उसी प्रकार साधु का हृदय भी राद्वेष आदि मल से रहित होता है।

(20) भारण्ड पक्षी :

जैसे भारण्ड पक्षी अहर्निश सावधान रहता है तनिक भी प्रमाद नहीं करता, उसी प्रकार साधु भी सदैव संयम में अप्रमत्त एवं सावधान रहता है।

(21) गेंडा :

जिस प्रकार गेंडे के मस्तक पर एक ही सींग होता है, उसी प्रकार साधु भी रागद्वेष रहित होने से भाव से एकाकी रहता है।

(22) स्थाणु :

जैसे स्थाणु (दूँठ) निश्चल खड़ा रहता है, उसी प्रकार साधु भी कायोत्सर्ग आदि के समय निश्चल खड़ा रहता है।

(23) शून्यगृह :

सूने घर में जैसे सफाई, सजावट आदि के संस्कार नहीं होते, उसी प्रकार साधु भी शरीर का संस्कार नहीं करता, वह बाह्य शोभा—संस्कार का त्यागी होता है।

(24) दीपक :

निर्वात स्थान में जैसे दीपक स्थिर—अकम्पित रहता है, उसी प्रकार साधु भी एकान्त स्थान में रहता हुआ, निर्मल चित्त से युक्त हुआ उपसर्गों के आने पर भी ध्यान से चिलित नहीं होता।

(25) क्षुरधारा :

जैसे उस्तरे की एक ही ओर धारा होती है, वैसे ही साधु भी त्यागरूप एक ही धार वाला होता है।

(26) सर्प :

जिस प्रकार सर्प स्थिर दृष्टि अर्थात् अपने लक्ष्य पर ही दृष्टि बनाए रखता है, उसी प्रकार साधु भी अपने मोक्षरूपी ध्येय पर ही दृष्टि टिकाए रखता है, अन्यत्र नहीं।

(27) पक्षी :

जैसे पक्षी स्वतन्त्र होकर उन्मुक्त विहार करता है, उसी प्रकार साधु भी स्वजन आदि या नियत वास आदि के प्रतिबन्ध से मुक्त होकर स्वतन्त्र विचरण करता है।

(28) आकाश :

आकाश जैसे निरालम्ब (आश्रय रहित) होता है, वैसे ही साधु भी कुल, नगर, ग्राम आदि के आश्रय से रहित होता है।

(29) पन्नग :

सांप जैसे स्वयं घर नहीं बनाता है, चूहे आदि के द्वारा बनाए हुए बिलों में ही निवास करता है, उसी प्रकार साधु स्वयं मकान नहीं बनाता, गृहस्थों के द्वारा बनाए हुए मकानों में ही (उनकी अनुमति पाकर) रहता है।

(30) वायु :

जैसे वायु की गति प्रतिबन्धरहित है, उसी प्रकार साधु भी प्रतिबन्ध रहित होकर स्वतन्त्र विचरण करता है।

(31) जीवगति :

जिस प्रकार परभव जाते हुए जीव की गति में कोई रुकावट नहीं होती, उसी प्रकार स्व—परसिद्धान्त का जानकार, वाद आदि सामर्थ्य वाला साधु भी निशंक होकर अन्य तीर्थियों के देश में धर्म—प्रचार करता हुआ विचरता है।

इस प्रकार साधु की 3१ उपमाएं बतलायी गयी हैं जो कि साधु के स्वरूप पर समुचित प्रकाश डालती है।

(ज) साधु-प्रशंसा एवं उसकी पूजा का फल :

जैन वाङ्मय में साधु की पर्याप्त गुण गरिमा उपलब्ध होती हैं। आचार्य भद्रबाहु कहते हैं कि यद्यपि इस संसार में कोई भी किसी का सहायक नहीं है, फिर भी संयम की साधना करने में हमें साधुओं से सहायता मिलती है। अतः हम सब साधुओं को नमस्कार करते हैं।^१

आचार्य कुन्दकुन्द बतलाते हैं कि जो मुनि दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपोविनय में सदा तत्पर रहते हैं तथा अन्य गुणी मनुष्यों के गुणों का वर्णन करते हैं, वे सदैव वन्दनीय हैं।^२ आचार्य पुनः कहते हैं कि जो मुनि संयम सम्पन्न हैं तथा आरम्भ और परिग्रह से विरत हैं, वे सुर, असुर और मनुष्य सभी के लिए वन्दनीय हैं, नमस्कार करने योग्य हैं।^३

आचार्य पद्मनन्दि भी लिखते हैं कि जिन मुनियों के ध्यान रूपी अग्नि से प्रज्वलित हृदय में त्रिलोकविजयी कामदेव को जलता हुआ देखकर मानों अत्यधिक भयभीत हुई कषायें इस प्रकार से नष्ट हो गई हैं कि उनमें वे फिर से प्रविष्ट नहीं हो सकती, वे मुनि जयवन्त होते हैं। ऐसे वे मुनि जो अमूल्य रत्न—स्वरूप सम्पत्ति से सम्पन्न होकर भी निर्ग्रन्थ के अनुपम पद को प्राप्त हुए हैं, और जो अत्यन्त शान्त होकर भी कामदेवरूप शत्रु की पत्नी को वैधव्य प्रदानकरने वाले हैं वे गुरु नमस्कार करने के योग्य होते हैं।^४

साधुओं की पूजा को जिन—पूजा के ही समान फलप्रद बतलाते हुए आचार्य पद्मनन्दि कहते हैं कि इस समय इस कलिकाल में भरतक्षेत्र के भीतर यद्यपि तीनों लोकों में केवली भगवान् विराजमान नहीं हैं इसलिए मुनियों की

१. असहाइ सहायत्तं करंति मे संजमं करितस्स ।

एएण कारणेणं नमामिहं सव्वसाहूणं ।। आ०नि०, गा० १०१३

२. दंसण—णाण—चरितं तवविणये णिच्चकालसु पसत्था ।

एदे दु वंदणीया जे गुणवादी गुणधराणं ।। दंसणपाहुड, गा०२३

३. जो संजमेसु सहिओ आरंभपरिग्गहेसु विरओ वि ।

सो होइ वंदणीओ ससुरासुर माणुसे लोए ।। सुत्तपाहुड, गा०११

४. स्मरमपि हृदि येषां ध्यानवह्निं प्रदीप्ते

सकलभुवनमल्लं दह्यमानं विलोक्य ।

कृतभिय इव नष्टास्ते कषाया न तस्मिन्

पुनरपि हि समीयुः साधवस्ते जयन्ति ।।

अनर्घ्यरत्नत्रसंपदोऽपि निर्ग्रन्थतायाः पदमद्वितीयम् ।

अपि प्रशान्ताः स्मरवैरिध्वा वैधव्यदास्ते गुरवो नमस्याः ।।

पद्मनन्दि पंचविंशति, श्लोक १.५७—५८

पूजा वास्तव में जिन-वचनों की ही पूजा है, और इससे प्रत्यक्ष में जिन भगवान की ही पूजा की गई है—ऐसा समझना चाहिए :

सम्प्रत्यस्ति न केवली किल कलौ त्रैलोक्यचूडामणि :
तद्वाचः परमासतेऽत्र भरतक्षेत्रे जगर्दद्योतिकाः ।
सदरत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तासां समालम्बनं
तत्पूजा जिनवाचि पूजनमतः साक्षाज्जिनः पूजितः ॥^१

आचार्य पुनः कहते हैं कि जो जैन मुनि ज्ञान-दर्शन स्वरूप चैतन्यमय आत्मा में उत्कृष्ट स्नेह रखते हैं, उनके चरणकमलों द्वारा जहां पृथ्वी का स्पर्श किया जाता है वहीं पर पृथ्वी उत्तम तीर्थ बन जाती है, उन्हें हाथ जोड़कर देव भी नित्य नमस्कार करते हैं, तथा उनके नाम के स्मरण मात्र से ही जनसमूह पाप से परे हो जाता है ।^२

उपर्युक्त वर्णन से यह विदित होता है कि साधु परमेष्ठी परम आदरणीय एवं वन्दनीय हैं । वे संयम-मार्ग का उपदेश देते हैं । संयम की साधना से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है जो कि मनुष्य का चरम लक्ष्य है । नमस्कार-मन्त्र में जो पञ्चपरमेष्ठी को नमस्कार किया गया है उनमें मूलतः साधु पद ही है, शेष सब उसके ही विकसित रूप हैं ।

१. वही, १.६८

२. स्पृष्टा यत्र मही तदङ्घ्रिकमलैस्तत्रैति तत्तीर्थतां
तेभ्यस्तेऽपि सुराः कृताञ्जलिपुटा नित्यं नमस्कुर्वते ।
तन्नामस्मृतिमात्रतोऽपि जनता निष्कल्मषा जायते
ये जैना यतयश्चिदात्मनि परं स्नेहं समातन्वते ॥
पद्मनन्दि पंचविंशति, श्लोक १.६६

उपसंहार

आत्मा को आच्छादित करने वाले अष्टकर्मों में प्रबल एवं गुणघातक मोह ही सर्वप्रधान है। इसका प्रहाण करने के लिए ही जैनदर्शन में पञ्च परमेष्ठी—अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं सर्व साधु के स्वरूप का स्मरण, चिन्तन एवं मनन करने पर अधिक बल दिया गया है। परमेष्ठी की शरण में जाने से उनकी स्मृति एवं चिन्तन से रागद्वेषमय प्रवृत्ति अवरुद्ध हो जाती है, पुरुषार्थ की वृद्धि होने लगती है और आत्मा में रत्नत्रयगुण—सम्यग्दर्शन — ज्ञान व चारित्र, आविर्भूत हो जाते हैं।

परमेष्ठी की अर्चना—भक्ति किसी अन्य परमात्मा अथवा शक्ति विशेष की आराधना नहीं है, प्रत्युत वह अपनी आत्मा की ही उपासना करना है। ज्ञान—दर्शन में अखण्ड चैतन्य आत्मा के स्वरूप का अनुभव कर अपने अखण्ड साधक स्वभाव की उपलब्धि ही भव्य सत्त्व का परम लक्ष्य है।

परमेष्ठी के स्मरण एवं स्तवन में इतनी बड़ी शक्ति है कि इसके साक्षात्कार होते ही सम्यक्त्व और केवलज्ञान सहज ही उत्पन्न हो जाते हैं। निश्चयनय की अपेक्षा सम्यक्त्व और कैवल्य आत्मा में सदैव विद्यमान रहते हैं कारण कि ये आत्मा के स्वभाव हैं। परमेष्ठी उससे भिन्न नहीं हैं, स्वयं आत्मस्वरूप हैं। इस तरह आत्मा स्वकल्याण में अथवा स्वयं परमेष्ठी बनने में स्वयमेव उपादान और निमित्त कारण है। विशद एवं विशुद्ध आत्मा परमात्मा, परमज्योति ही परमेष्ठी हैं।

प्रस्तुत शोध—प्रबन्ध में इन्हीं पञ्च परमेष्ठियों के स्वरूप को अध्ययन का विषय बनाया गया है।

जैन दर्शन में अरहन्त की कल्पना प्राक्—वैदिक है। भव्य—जीव किसी जन्म में तीर्थंकर बनने का प्रणिधान करता है और वही साधना के चरमोत्कर्ष पर पहुँच कर भविष्य में अरहन्त तीर्थंकर बन जाता है। जिन, केवली और सर्वज्ञ भी यही कहलाता है।

बौद्धदर्शन में भी अरहन्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यहां अर्हत्त्व और निर्वाण में कोई भेद नहीं है।¹ बौद्धों के अनुसार रागद्वेष एवं मोह आदि के क्षीण हो जाने

१. यो खो आवुसो रागक्खयो दोसक्खयो मोहक्खयो इदं वुच्चति अरहन्तं। सं० नि० ३.२५२
यो खो आवुसो रागक्खयो दोसक्खयो मोहक्खयो इदं वुच्चति निब्बानं। वही, ३.२५१

पर अर्हत्त्व की उपलब्धि होती है । अर्हत्त्वलाभ ही प्राणिमात्र का लक्ष्य है । यह प्रारम्भिक बौद्धानुयायी स्थविरों की मान्यता है किन्तु महायान दर्शन में बोधि-सत्त्व सम्यक्सम्बोधि प्राप्त करने का प्राणिधान करता है और सम्बोधि-लाभ के होते ही वह कृतकृत्य हो जाता है तथा जन्म, जरा और मरणरूप भवचक्र से सदैव के लिए छूट जाता है ।

जैन वाङ्मय में अरहन्त के लिए अरिहन्त, अरह, अरहो, अरुह तथा अरुहन्त आदि शब्दों का प्रयोग भी मिलता है । आत्मकल्याण में निरत भव्य साधक तप-साधना के द्वारा गुणघातक-ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मों का विप्रणाश करता है और आध्यात्मिक विकास के तेरहवें गुणस्थान में आते ही कैवल्य को उपलब्ध कर लेता है । कैवल्य ही सर्वज्ञत्व है । इसी को योगकेवली भी कहा जाता है ।

वीतरागी तीर्थंकर देव जैनों के अनुसार २४ माने गए हैं जो अनन्तज्ञान-दर्शन-चारित्र एवं वीर्यरूप अनन्तचतुष्टय, अशोक वृक्ष आदि अष्टमहाप्रातिहार्य तथा चौंतीस अतिशय इस प्रकार छयालीस गुणों से सम्पन्न होते हैं । इन्द्रादि देवों के द्वारा इनके पंचकल्याणक महोत्सव मनाए जाते हैं । तीर्थंकर के लिए इन्द्र समवसरण की भी रचना करता है । इस समवसरण में सम्पूर्ण जगत् के चराचर प्राणी अरहन्त तीर्थंकर के दिव्यध्वनि रूप सद्धर्मा मृत का पान करते हैं ।

अरहन्त केवली के योग का अभाव होते ही अयोगकेवली अवस्था प्रगट हो जाती है । इस निराकार अवस्था को सिद्ध कहा जाता है । सिद्ध अष्टकर्मरूपी ईधन को जलाकर भस्म करने वाले होते हैं । वे क्षयिक सम्यक्त्व और क्षायिक ज्ञान से सम्पन्न परमेष्ठी समस्त पापकर्मों से विरहित होते हैं । ये शिव, अचल, अरुज, अनन्त, अक्षय, अव्याबाध रूप सिद्ध अनन्तचतुष्टय से ओत-प्रोत रहते हुए लोक के अग्रभाग 'सिद्धशिला' पर स्थित रहते हैं ।

ऐसे इन सिद्धों को अरहन्त भी नमन करते हैं—**ओं नमः सिद्धेभ्यः** । अतः सर्व-पूज्य तो सिद्ध होते ही हैं किन्तु भव्य जीवों के लिए मोक्षमार्ग प्रदर्शक होने से अरहन्त को प्रधानता दी गई है ।

जैन दर्शन की मान्यतानुसार पृथ्वी लोक पर अवसर्पिणी का पञ्चमकाल दुष्णमा चल रहा है और अरहन्त इससे पूर्व दुष्णमा-सुष्णमा नामक चतुर्थकाल में ही होते हैं । वर्तमान में अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी का तीर्थकाल चल रहा है और श्रमण संघ ही उनका प्रतिनिधित्व कर रहा है ।

जैन श्रमण संघ के अधिपति आचार्य, गुरु उपाध्याय और साधु ये तीन प्रमुख अंग हैं । साधु ही तप, साधना और ज्ञान में अध्यात्म विकास कर क्रमशः उपाध्याय और आचार्य बनते हैं ।

आचार्य व उपाध्याय दोनों ही प्रतिष्ठित पद हैं । आचार्य बत्तीस गुणों से और उपाध्याय पच्चीस गुणों से सम्पन्न होते हैं । धर्मगुरु आचार्य वर्तमान में तीर्थंकर तुल्य होते हैं । धर्म की मर्यादा बनाए रखना उनका प्रमुख कार्य है ।

पञ्चेन्द्रियों को वश में करने वाले, नव ब्रह्मचर्य की गुप्तियों के धारक, क्रोध आदि पंचाचारों के पालन में समर्थ, पांच समिति एवं तीन गुप्तियों के धारक आचार्य अपनी श्रुत आदि अष्टसम्पदाओं से श्रमण — संघ की शोभा बढ़ाते हैं ।

प्रकृष्टज्ञानी श्रुतगुरु उपाध्याय अज्ञानरूपी अन्धकार में भटकते हुए सत्त्वों को ज्ञान—प्रदीप—प्रकाश प्रदान करते हैं । उपाध्याय द्वादशांग के अध्येता और ज्ञानदाता होते हैं । वे करण—चरण सप्तति व रत्नत्रय से सम्पन्न तथा आठ प्रकार की प्रभावना को बढ़ाने वाले होते हैं । ऐसे पच्चीस गुणों के धारी उपाध्याय गुरु को आगम में शंख, काम्बोजाश्व, वृद्धहस्ती, धौरेय वृषभ आदि उपमाओं से विभूषित करते हुए उनके स्वरूप पर विशद प्रकाश डाला गया है ।

अरहन्त के लिए साधु होना परमावश्यक है । साधुत्व ही अर्हत्त्वलाभ की पात्रता को प्रगट करता है । साधुत्व धारण करने पर साधक को पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति, पञ्चेन्द्रियनिग्रह, षडावश्यक आदि जिसमें प्रमुख हैं ऐसे सत्ताईस नियमों का निर्दोष पालन करना होता है । जो उनके गुणों के नाम से जाने जाते हैं ।

साधु के आचरण में सामाचारी, उपकरण, भिक्षाचर्या एवं उसकी कठोर तपश्चर्या का भी विशेष महत्त्व है । वाङ्मय में साधु को कांस्यपात्र, शंख, कच्छप, स्वर्ण, कमलपत्र आदि इकतीस उपमाएं देकर उसके गुणों एवं स्वरूप को समुचित रूप से स्पष्ट किया गया है ।

जैन आचार्य, उपाध्याय एवं साधु के प्रति की गई अर्चा—पूजा एवं वैयावृत्य महान् फल प्रदान करने वाली होती है । इनके प्रति समभाव से की गई भक्ति तीर्थंकरत्व की उपलब्धि में मूलहेतु है ।

इस तरह पञ्च परमेष्ठी का संकीर्तन करने से सत्त्व को मानसिक शुद्धि तो प्राप्त होती है साथ ही उसके जीवन में एक विचित्र परिवर्तन भी होता है । सदाचरण के परिणाम स्वरूप उसकी कर्मग्रन्थी भंग हो जाती है जिससे वह भेदविज्ञानी बन जाता है । एकमात्र ज्ञान > केवलज्ञान > सर्वज्ञत्व > अर्हत्त्व > की उपलब्धि ही भव्य सत्त्व का उद्देश्य जो है ।

सहायक ग्रन्थ-सूची

- १ अनुयोगद्वार सूत्र भाग-२ : सम्पादक मुनि कन्हैयालाल, अखिल भारतीय श्वे०स्थानकवासी जैनशास्त्रोद्धार समिति राजकोट (सौराष्ट्र), १९६८
- २ अनेकान्त (शोध पत्रिका) : सम्पादक: गोकुल प्रसाद जैन, वर्ष २८, किरण १, वीर सेवा मन्दिर, २१, दरियागंज, दिल्ली, वीर नि० सं० २५०१
- ३- अभिज्ञानशाकुन्तल : कालिदास, सरस्वती हाऊस, दिल्ली, १९७७
- ४- अभिधर्मामृत : घोषक, सम्पादक शान्तिभिक्षु शास्त्री, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन, १९५३
- ५- अभिधानचिन्तामणि हेमचन्द्र, व्याख्याकार: हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६४
- ६- अभिधानराजेन्द्रकोष : विजय राजेन्द्र सूरि, जैन प्रभाकर प्रिंटिंग प्रैस, रतलाम
- ७- अमरकोष (मणिप्रभा टीका) : अमरसिंह, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, १९६८
- ८- अमृत कलश : सम्पादिका साध्वी जिनप्रभा, साध्वी स्वर्ण रेखा, आदर्श साहित्य संघ, चुरु (राज०), १९८७
- ९- अशोक के अभिलेख : डा० राजबली पाण्डेय, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, वि० सं० २०२२
- १०-अष्टपाहुड : कुन्दकुन्दाचार्य, टीकाकार: श्रुतसागर सूरि, श्री शान्तिवीर दिगम्बर जैन संस्थान, श्रीशान्तिवीर नगर, वाया श्री महावीर जी (राज०) वीरनि० सं० २४६४
- ११-आचाराङ्गवृत्ति : आचार्य शीलांक, सिद्धचक्र साहित्य समिति, बम्बई, वि० सं० १९६१
- १२- आत्मानुशासन : गुणभद्र, सम्पादक: पं० बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, जैन संस्कृति संघ, शोलापुर, १९८०

- १३—आदिपुराण : जिनसेन, सम्पादक पं० पन्नालाल साहित्याचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९५१
- १४—आपस्तम्ब—धर्मसूत्रः डा० उमेशचन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, १९६६
- १५—आप्त—परीक्षा : विद्यानन्द, सम्पादक व अनुवादक पं० दरबारीलाल कोठिया, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, १९४६
- १६—आप्त—मीमांसा : समन्तभद्र, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, १९६७
- १७—आयारो : वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी, जैन विश्वभारती, लाडनूँ (राज०) वि० सं० २०३१
- १८—आयारो तह
आयारचूला : वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी, जैन श्वे० तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, १९६७
- १९—आराधनासार : देवसेन, श्री शान्तिसागर जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, श्रीमहावीर जी (राज०) वीरसं० २४८४
- २० आवस्सयं—
नवसुत्ताणि भाग—५ : जैन विश्वभारती, लाडनूँ (राज०), १९८७
- २१—इष्टोपदेश : पूज्यपाद, श्री शान्तिसागर जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, श्री महावीर जी, वीर नि० सं०, २४६४
- २२ इसि भासियाइ सुत्ताइ : सम्पादकः मुनि मनोहर, सुधर्मा ज्ञानमन्दिर, कांदावाड़ी (बम्बई), १९६३
- २३—उत्तराध्ययनसूत्र : सम्पादिकाः साध्वी चन्दना, वीरायतन प्रकाशन, आगरा, १९७२
- २४—उत्तराध्ययनसूत्र
(आत्माराम टीका) : जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, १९३६-४२

२५—उत्तराध्ययनः एक
समीक्षात्मक अध्ययनः

वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी, जैन श्वे०
तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, १९६८

२६—ऋग्वेदसंहिता :

पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर,
स्वाध्याय मण्डल पारङ्गी (गुजरात) ।

२७—ओघनिर्युक्ति :

वृत्ति ज्ञानसागर सूरि, श्रेष्ठिदेवचन्द्र
लालभाई—जैन पुस्तकोद्धार संस्था,
सूरत, १९७४

२८ ओवाइयं उवंग सुत्ताणि
(भाग—४) :

जैन विश्वभारती लाडनू प्रकाशन,
१९५७

२९—कर्मप्रकृति :

नेमिचन्द्राचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ
काशी, १९६४

३०—कल्पसूत्र :

भद्रबाहु, सम्पादकः देवेन्द्र मुनि,
श्रीअमर जैन आगम शोध संस्थान,
सिवाना (राज०), १९६८

३१ कार्तिकेयानुप्रेक्षा :

स्वामिकुमार, श्रीमद् रायचन्द्र
आश्रम, अगास, १९६०

३२ कुमारसम्भव :

कालिदास, चौखम्बा संस्कृत
संस्थान, वाराणसी, वि० सं० २०४४

३३ खारवेलप्रशस्ति—
पुनर्मुल्यांकन :

पं० चन्द्रकान्त बाली शास्त्री,
प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, १९८८

३४—खुदकनिकाय (चुल्लनिदेश) :

सम्पादकः भिक्षु जगदीश काश्यप,
बिहार राज्य पालि पब्लिकेशन
बोर्ड पटना, १९५६

३५ गच्छायार पइण्णय—
पइण्णयसुत्ताई (प्रथम भाग) :

सम्पादकः मुनि पुण्यविजय,
श्रीमहावीर जैन विद्यालय,
बम्बई—३६, १९८४

३६—गोम्मटसार (जीवकाण्ड) :

नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक चक्रवर्ती,
परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद्
राजचन्द्र आश्रम, अगास, १९७२

- ३७- चेड्यवंदणमहाभासः : श्रीशान्तिसूरि संकलित, सपादकः मुनि श्रीचतुरविजय, श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि० सं० १९७०
- ३८- छहदाला : दौलतराम, अनुवादकः मगनलाल जैन, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र), वीर नि० सं० २४६३
- ३९- जिनराहस्यनामः : पं० आशाधर, सम्पादकः हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २०१०
- ४०- जैन तत्त्व कलिका : सम्पादकः अमर मुनि, आत्मा ज्ञानपीठ, मानसा मण्डी (पंजाब), १९८२
- ४१- जैन धर्म का प्राचीन इतिहास (प्रथम भाग) : बलभद्र जैन, प्रकाशकः मै० केसरीचन्द्र श्रीचन्द्र चावल वाले, नया बाजार दिल्ली-६, वीर नि० सं० २५००.
- ४२- जैन धर्म का संक्षिप्त इतिहास : तेजसिंह गौड, जयध्वज प्रकाशन समिति, मद्रास, १९८०
- ४३- जैन धर्म-दर्शन : डॉ० मोहनलाल मेहता, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९७३.
- ४४- जैन पूजन पाठ प्रदीपः : प्रकाशक जैन साहित्य सदन, दिगम्बर लाल मंदिर दिल्ली, वीर सम्वत् २५०८
- ४५- जैन धर्मामृतः : सम्पादकः हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६०
- ४६- जैन साहित्य का इतिहास (पूर्व पीठिका) : पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, श्रीगणेश प्रसाद वर्णी, जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, वीरनि० सं० २४८६
- ४७- जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग १ व २) : सम्पादकः पं० दलसुख मालवणिया तथा डॉ० मोहनलाल मेहता, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९६६

- ४८—जैन सिद्धान्त बोल संग्रह : संग्रहकर्ता: भैरोदान सेठिया, अगरचन्द
(भाग १) भैरोदान सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था,
बीकानेर, वि० सं० २००६
- ४९— जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश क्षु० जिनेन्द्र वर्णो, भारतीय
(भाग १ व २) : ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९७०
- ५०— ज्ञाताधर्मकथाङ्गसूत्र : सम्पादक: मुनि कन्हैयालाल, अखिल
(भाग—१) : भारतीय श्वे० स्थानकवासी जैनशास्त्रोद्धार
समिति, राजकोट (सौराष्ट्र), १९६३
- ५१— ज्ञानपीठ—पूजाञ्जलि : सम्पादक: डा० ए० एन० उपाध्ये, भारतीय
ज्ञानपीठ काशी, १९५७
- ५२— ठाणं : वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी,
जैनविश्वभारती लाडनू, १९७६
- ५३— तत्त्वार्थवृत्ति : श्रुतसागर सूरि, सम्पादक प्रो०
महेन्द्र कुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ
प्रकाशन, १९४६
- ५४— तत्त्वार्थसार : अमृतचन्द्र सूरि, सम्पादक पं० पन्नालाल जैन,
श्रीगणेश प्रसादवर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी,
१९७०
- ५५— तत्त्वार्थसूत्र : उमास्वाति, विवेचक : पं० सुखलाल संघवी,
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान,
वाराणसी, १९८५
- ५६— तिलोपपण्णत्ति (भाग १) : यतिवृषभ, जैन संस्कृति संरक्षक
संघ, शोलापुर १९५६
- ५७— तीर्थकर : सुमेरचन्द्र दिवाकर, जबलपुर, १९६०
- ५८— तीर्थकर, (विचार मासिक) : सम्पादक डा० नेमिचन्द्र जैन, ६५
पत्रकार कालोनी, कनाड़िया रोड, इन्दौर,
जनवरी, १९८१
- ५९— तीर्थकर, बुद्ध और अवतार : डॉ० रमेश चन्द्र गुप्त, पार्श्वनाथ
विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९८८

- ६०—तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (खण्ड—१) : डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, अखिल भारतीय दिगम्बरजैनविद्वत्परिषद्, १९७४
- ६१—दशभक्ति : कुन्दकुन्दाचार्य, संस्कृत टीका प्रभाचन्द्र, प्रकाशक: तात्या गंगेपाल शेटे, शोलापुर, १९२१
- ६२—दशवैकालिकसूत्र : वाचनाप्रमुख आचार्य, तुलसी, श्वे० तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, वि० सं० २०२०
- ६३—दशवैकालिकसूत्र : (जिनदास चूणि) प्रकाशक श्री ऋषभदेव केसरीमल श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, १९३३
- ६४— दशवैकालिकसूत्र वृत्ति : हरिभद्रसूरि, देवचन्द लाल भाई जैन पुस्तकोद्धार भण्डागार संस्था, वि० सं० १९७४
- ६५— दशाश्रुतस्कन्धसूत्र : टीकाकार: घासीलाल जी महाराज, अखिल भारतीय श्वे० स्थानकवासी जैनशास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, १९६०
- ६६— दीघ निकाय (भाग १ व २) : सम्पादक एन० के० भागवत, बम्बई विश्वविद्यालय, बम्बई ।
- ६७— द्रव्यसंग्रह : नेमिचन्द्र, गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, काशी, १९६६
- ६८— धम्मपद : सम्पादक : भिक्षु धर्मरक्षित, मास्टर खेलाड़ी लाल, संकटाप्रसाद संस्कृत पुस्तकालय, कचौड़ी गली, वाराणसी, १९७१
- ६९— धर्मबिन्दु : हरिभद्र सूरि, हिन्दी जैन साहित्य प्रचारक मंडल, नागजी भूधर की पोल, अहमदाबाद, वि० सं० २००७
- ७०— धर्मामृत (अनगार) : पं० आशाधर, सम्पादक: सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९७७

- ७१— धवला टीका (प्रथम पुस्तक): वीरसेन, सम्पादक : डा० हीरालाल जैन,
जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, १६७३
- ७२—धवला टीका (पुस्तक १३): वीरसेन, जैन साहित्योद्धारक फंड—
कार्यालय, भेलसा (म० भा०), १६५५
- ७३—धातुपाठः : पाणिनि, वैदिक पुस्तकालय, अजमेर,
१६७८
- ७४—नन्दीसूत्रः : विवेचकः पं० मुनि श्री पारस कुमार,
अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति
रक्षक संघ, सैलाना (म० प्र०) वि०
सं० २०२३
- ७५—नयचक्रः : माइल्लधवल, सम्पादक : सिद्धान्ताचार्य
पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ
काशी, १६४४
- ७६ नाममाला सभाष्यः : धनञ्जय, भाष्यकारः अमरकीर्ति, सम्पादकः
पं० शम्भुनाथ त्रिपाठी, भारतीय ज्ञानपीठ,
प्रकाशन, १६५०
- ७७—नियमसारः : कुन्दकुन्द, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय
मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र) वीर नि०
सं० २४८७
- ७८—न्यायविनिश्चयविवरण
(भाग १ व २): वादिराजसूरि, भारतीय ज्ञानपीठ
प्रकाशन, १६४६, १६५४
- ७९—पंचतन्त्रः : विष्णु शर्मा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी,
वि० सं० २०१५
- ८०—पञ्चाध्यायीः : कवि राजमल्ल, गणेश प्रसाद वर्णी जैन
ग्रन्थमाला, बनारस, वीर सं० २४७६
- ८१—पंचासकः : हरिभद्र, प्रकाशकः ऋषभदेव केसरीमल जैन,
पेढी रतलाम, १६४१
- ८२—पञ्चमचरियं (भाग—१) : विमलसूरि, सम्पादकः हर्मन जैकोबी,
प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी, १६६२

- ८३- पद्मनन्दि-पंचविंशति : पद्मनन्दि, सम्पादकः प्रो० हीरालाल जैन, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, १९६२
- ८४- पद्म पुराण : रविषेण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९७७
- ८५-परमात्मप्रकाश : योगीन्दु, श्रीमद् राजचन्द्र, जैन शास्त्रमाला, अगारा (गुजरात), वि सं० १९७२
- ८६-पाणिनि अष्टाध्यायी : पाणिनि, भंडारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना, १९३५
- ८७-पुरुषार्थी तद्धयुपाय : अमृतचन्द्र सूरि, श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, वि सं० २०२६
- ८८-प्रतिष्ठातिलकः : नेमिचन्द्राचार्य, माणिकचन्द्र, दिगम्बरजैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९१४
- ८९-प्रमेयकमलगार्त्तण्ड : प्रभाचन्द्र, सम्पादकः पं० महेन्द्र कुमार शास्त्री, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९४१
- ९०-प्रवचनसार : कुन्दकुन्द, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम अगारा, १९८४
- ९१-प्रवचनसारोद्धार (भाग १ व २) : प्रकाशक : श्रेष्ठ देवकन्द लालभाई जैन पुरातनोद्धार संस्था, ग्रन्थांक-५८ व ६४, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, वि० सं० १९७८, १९८२
- ९२-प्राकृत-प्रकाश : वररुचि, पुन्थी पुस्तक, कलकत्ता-४, १९६२
- ९३-बोधिचार्यावतार : शान्तिदेव, सम्पादकः परशुराम शर्मा, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९६०
- ९४-बोधिसत्त्व भूमि : सम्पादकः नलिनाक्ष दत्त, पटना, १९६६
- ९५-बौद्धधर्म-दर्शन : नरेन्द्रदेव, बिहार -राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, १९५६
- ९६-ब्रह्मसूत्रशाकरभाष्य : हनुमन्त दास षट्शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९७७

- ६७—बृहदकल्पसूत्र : प्रकाशक : जीवराज घेलाभाई दोषी,
अहमदाबाद, १९१५
- ६८—भगवई—अंगसुत्ताणि
(भाग-२): जैन विश्वभारती लाडनू प्रकाशन, वि०
सं० २०३१
- ६९—भगवती आराधना
(भाग १ व २): शिवार्य, सम्पादक एवं अनुवादक :
पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, जैन
संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९७८
- १००— भगवतीसूत्र वृत्ति : अभयदेव सूरि, निर्णय सागर मुद्रणालय,
बम्बई, १९१८
- १०१— भट्टिकाव्य : भट्टि, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस,
वाराणसी, १९७३
- १०२— भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा ओरियन्टलिया,
वाराणसी, १९८४
- १०३—मंगलमन्त्र णमोकार :
एक अनुचिन्तन : नेमिचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ
काशी, १९६०
- १०४— मंगलवाणी
(आठवां संस्करण) : सम्पादक मुनि अमोलकचन्द्र, सम्मति
ज्ञानपीठ, आगरा
- १०५— मनुस्मृति : चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी,
१९७६
- १०६— महापुराण : जिनसेन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४४
- १०७— महावग्गपालि : सम्पादक : भिक्षु जगदीश काश्यप,
बिहार राज्य पालि प्रकाशन मंडल, १९५६
- १०८— मिलिन्दप्रश्न : अनुवादक: भिक्षुजगदीश काश्यप, जेतवन
महाविहार पालि संस्थान, श्रावस्ती, १९७२
- १०९— मुनिसुव्रतकाव्यम्— : अर्हदास, अनु० डा० दिनेशकुमार सिंहल,
करनाल, १९६२

- ११०— मूलाचार (भाग १ व २) : आचार्य वट्टकेर, वृत्ति वसुनन्दी
सिद्धान्तचक्रवर्तीसम्पादकः सिद्धान्ताचार्य
पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ
काशी, १९८४, १९८६
- १११— मेदिनी : मेदिनीकर, सम्पादकः सोमनाथ शर्मा
न्यू संस्कृत प्रैस, कलकत्ता, १८६८
- ११२— मैनुअल ऑफ बुद्धिज्म : कर्न, इन्डोलोजिकल बुक हाऊस,
दिल्ली, १९६८
- ११३— यशरितलकचम्पू (सटीक) : सोमदेव, सम्पादकः सुन्दरलाल शास्त्री
श्री महावीर जैन ग्रन्थमाला, काठुरवाड़ी
वाराणसी, १९७१
- ११४— योगबिन्दु : हरिभद्रसूरि लालभाई दलपत भाई
भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर,
अहमदाबाद, १९६८
- ११५— योगवासिष्ठ : वाल्मीकि, मुन्शीराम मनोहर लाल
पब्लिशर्स, दिल्ली, १९८१
- ११६— योगशास्त्र : हेमचन्द्र, जैनधर्म प्रसारक सभा,
भावनगर, १९२६
- ११७— रघुवंश : कालिदास, चौखम्बा संस्कृत सीरीज
आफिस, वाराणसी, १९६१
- ११८— रत्नकरण्डकश्रावकाचार : समन्तभद्र, सम्पादक : पं० पन्नालाल
बसन्त, वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी,
१९७२
- ११९— ववहार सुत्त : सम्पादकः मुनि कन्हैयालाल 'कमल'
आगम अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव
(राज०), १९८०
- १२०— वसुनन्दि—श्रावकाचार : वसुनन्दि, सम्पादकः डॉ० हीरालाल जैन,
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९४४

- १२१- वाचस्पत्यम् : तारानाथतर्कवाचस्पति भट्टाचार्य,
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस,
वाराणसी, १९६६
- १२२- वायुपुराण : नाग पब्लिशर्स, जवाहर नगर,
दिल्ली, १९८३
- १२३- वाल्मीकि रामायण : वाल्मीकि, लक्ष्मी विङ्कटेश्वर
मुद्रणालय, कल्याण-बम्बई,
वि० सं० १९६२
- १२४- विशेषावश्यकभाष्य : सम्पादकः मुनि राजेन्द्र विजय,
बाइ समरथ जैन श्वे० मू० ज्ञानोद्धार
ट्रस्ट, कालुपुर रोड, अहमदाबाद, वीर
सं० २४८६
- १२५- विष्णुमहापुराण : नाग पब्लिशर्स, जवाहर नगर,
दिल्ली, १९८५
- १२६- विष्णुसहस्रनामस्तोत्र : सम्पादकः गौरी शंकर, विश्वेश्वरानन्द
वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर,
१९६६
- १२७- विसुद्धिमग्गो : बुद्धधोष, सम्पादकः धर्मानन्द कौशाम्बी,
भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १९४०
- १२८- वीरवर्धमानचरित : सकलकीर्ति, सम्पादकः पं० हीरालाल जैन,
भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९७४
- १२९- व्यवहारभाष्य : प्रकाशकः वकील केशवदास प्रेमचन्द,
आनन्द प्रिंटिंग प्रैस, भावनगर, वि० सं०
१९६४
- १३०- श्रमण प्रतिक्रमण : जैन विश्वभारती प्रकाशन, १९८४
- १३१- श्रीमदावश्यकसूत्रनिर्युक्ते- भद्रबाहु, वृत्ति हरिभद्र सूरि, निर्णयसागर
रवचूर्णि : प्रैस, बम्बई, १९६५
- १३२- श्रीमद्भगवद्गीता : गीता प्रैस गोरखपुर, वि सं० २०३१

- १३३— श्रीमद्भागवत : सम्पादक: पं० श्री रामलेख पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, १९८६
- १३४—संयुक्त निकाय : सम्पादक: भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा प्रकाशन, १९५४
- १३५—संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी : मोनियर विलियम्स, दिल्ली १९७६
- १३६—संस्कृत-शब्दार्थ कौस्तुभ : तारिणीश झा, प्रकाशक: रामनारायण लाल, इलाहाबाद, १९५७
- १३७—संस्कृत हिन्दी-कोश: वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७७
- १३८—सभाष्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्र : उमास्वाति, परमश्रुत प्रभाव, जैनमण्डल, जौहरीबाजार, खारकुआं, बम्बई, १९३२
- १३९—समणसुत्त : सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, १९७५
- १४०—समयसार : कुन्दकुन्द, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ (भावनगर) वीर सं० २४६८
- २४१—समराइच्यकहा (भाग १ व २) : हरिभद्र सूरि, जैन सोसायटी अहमदाबाद, १९३८, १९४२
- १४२—समवाओ : जैन विश्वभारती लाडनूं, १९८४
- १४३—समवायाङ्गवृत्ति : अभयदेव सूरि, आगमोदय समिति, मेसाणा, १९१८
- १४४—समाधितन्त्र : देवनन्दि पूज्यपाद, सम्पादक: पं० जुगलकिशोर मुख्तार, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, १९३६
- १४५—समीचीन धर्मशास्त्र : समन्तभद्र, सम्पादक: पं० जुगलकिशोर मुख्तार, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, १९५५

- १४६— सर्वार्थसिद्धि : पूज्यपाद, सम्पादक पं० फूलचन्द्र,
भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९४४
- १४७— सागारधर्मामृत : पं० आशाधर, सरल जैन ग्रन्थ भण्डार,
जबलपुर, वीर सं० २४८२
- १४८— सिद्धान्तसारसंग्रह—: नरेन्द्र सेन, सम्पादक: जिनदास
शास्त्री, जीवराज जैन ग्रन्थमाला,
शोलापुर, १९५७
- १४९— सिद्धिविनिश्चयटीका
(भाग—२): अनन्तवीर्य, सम्पादक: डा० महेन्द्र
कुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन,
१९५६
- १५०— सुत्तनिपात : अनुवादक: भिक्षु धर्मरत्न, महाबोधि सभा
सारनाथ, १९६०
- १५१— सूयगडो : जैन विश्वभारती लाडनू, १९८४
- १५२— स्तुति विद्या : समन्तभद्र, अनुवादक: पं० पन्नालाल
जैन, वीर सेवा, मन्दिर, सरसावा, १९५०
- १५३— स्थानाङ्गसूत्रवृत्ति : अभयदेव सूरि, शारदा मुद्रणालय,
अहमदाबाद, १९३७
- १५४— स्याद्वादमंजरी : मल्लिषेण, राजचन्द्र आश्रम, अगास
(गुजरात), १९७०
- १५५— स्वयम्भूस्तोत्र : समन्तभद्र, पं० जुगल किशोर मुख्तार
सम्पादित, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा
(सहारनपुर), वि सं० २००८
- १५६— हनुमन्नाटक : हनुमान, चौखम्बा संस्कृत सीरिज
आफिस, वाराणसी, १९७८
- १५७— हरिवंश पुराण : जिनसेन, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन
ग्रन्थमाला, हीराबाग, बम्बई

Nirmal Publications

A/39, Gali No. 3, 100 Foot Road, Kabir Nagar,
Shahdara, Delhi- 110094

Phone : 2114193